गङ्गानाथ झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-अध्ययन-माला-५

महाशक्तिपीठ विन्ध्याचल

विन्ध्यवासिनी पूजा परम्परा एवं विन्ध्यक्षेत्र का अध्ययन

प्रधान सम्पादक
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

ग्रन्थकार
डॉ० प्रकाश पाण्डेय

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद-211002

गङ्गानाथ झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-अध्ययन-माला ६

महाशक्तिपीठ विन्ध्याचल

विन्ध्यवासिनी पूजा परम्परा एवं विन्ध्यक्षेत्र का अध्ययन

प्रधान सम्पादक
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

ग्रन्थकार
डॉ० प्रद्युम्न पाण्डेय

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद-211002

महाशक्तिपीठ विन्ध्याचल

गङ्गानाथ झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-अध्ययन-माला ५

महाशक्तिपीठ विन्ध्याचल

विन्ध्यवासिनी पूजा परम्परा एवं विन्ध्यक्षेत्र का अध्ययन

प्रधान सम्पादक

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

ग्रन्थकार

डॉ० प्रकाश पाण्डेय

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क

इलाहाबाद-२११००२

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान

(केन्द्रीय-शिक्षामन्त्रालय के तत्त्वावधान मे संचालित)

देहली

गङ्गानाथ झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-अध्ययनमाला

प्रधानसम्पादक

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

पञ्चम पुष्प

॥ महाशक्तिपीठविन्ध्याचल ॥

ग्रन्थकार

डॉ० प्रकाश पाण्डेय

गङ्गानाथ झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ

इलाहाबाद

प्रकाशक –
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, डी०लिट्०
प्राचार्य
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
चन्द्रशेखर आजाद पार्क
इलाहाबाद–२

प्रथम संस्करण– २००१

मूल्य –

978-93-83135-78-3

मुद्रक–

नाग पब्लिशर्स
११–ए०यू०ए०, जवाहरनगर,
दिल्ली–११०००७

RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
(Under the auspices of the Ministry of H.R.D.)
New Delhi

Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha
Study Series

Chief Editor
Prof. G.C. Tripathi
Principal

Vol. No. 5 :

Mahā Śakti Pītha Vindhyācala

(A study of Cult of Vindhyavāsinī and Sacrad Complex of Vindhyācala

Author
Dr. Prakash Pandey
Assitant Director
(Research and Publication)
R. Sk.S. N. Delhi

Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad-211 002

महाशक्तिपीठविन्ध्याचल के सामाजिक
एवं सांस्कृतिक विकास के
क्रान्तद्रष्टा एवं प्रवर्तक पूज्य
पिता पं० लालचन्द पाण्डेय
को श्रद्धासुमन

प्राक्कथन

इस प्राणिजगत् में सर्जन की प्रक्रिया सर्वत्र नारी के द्वारा ही संचालित होती है जो माता के रूप में नये जीवन की उत्पादिका एवं उसकी पोषिका है। अतः इस सम्पूर्ण जागतिक सृष्टि के आदिकारण के रूप में जिस किसी भी शक्ति की परिकल्पना की जाए उसका पर्यवसान मातृशक्ति पर ही जाकर होता है। इसलिये बहुत संभव है कि आदि उपास्य तत्त्व के रूप में मानव ने ईश्वरीय शक्ति की कल्पना सर्वप्रथम माता के रूप में की हो।

विश्व में मातृशक्ति की उपासना कितनी प्राचीन है, इसे कोई नहीं जानता, किन्तु इतना निश्चय है कि एशिया, मिस्र एवं यूरोप (विशेषतः यूनान एवं रोम) की प्राचीनतम सभ्यताएँ और उनके समाज मातृशक्ति के उपासक थे। प्राचीन मेसोपोटामिया (ईराक) में निवास करने वाली सुमेर जातियां की उपास्या एवं नगररक्षिका 'नना' देवी का सिंहवाहिनी के रूप में सर्वत्र अंकन हमारी 'शेराँवाली' माँ से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। वैसे सुमेर जाति का हमारी सैन्धव सभ्यता से घनिष्ठ संबन्ध अब पूर्णतः पुष्ट एवं सिद्ध हो चुका है। भारत में भी माँ दुर्गा सहस्रों वर्षो से विविध स्वरूपों एवं विविध अभिधानों में जनसामान्य द्वारा पूजी जा रही हैं।

हरिवंश पुराण के अनुसार कृष्ण-विष्णु की बहन के रूप में जन्म लेने वाली उनकी आदिशक्ति, महामाया हत्यारे कंस के हाथों से छूटकर, आकाश की ओर चली जाती हैं और उसे अपना अष्टभुजात्मक रूप दिखाकर एवं चेतावनी देकर विन्ध्याचल की ओर प्रस्थान करती हैं जहाँ शबर आदि पुलिन्द आदिं पर्वतीय एवं वन्य जातियाँ उन्हें प्रतिष्ठापित करके उनकी विशिष्ट उपासना करती हैं। इस 'विन्ध्याचल' के अभिज्ञान के संबन्ध में कोई सन्देह नहीं है क्यों कि शाक्त तन्त्रों के अनुसार विन्ध्याचल का शक्तिपीठ ठीक उस स्थान पर अवस्थित है जहाँ पतितपावनी गंगा विन्ध्याचल पर्वतमाला के उत्तरी छोर से मिलती है- यही हमारा वर्तमान शक्तिपीठ विन्ध्याचल है।

हिन्दू धर्म के वर्तमान स्वरूप के सूक्ष्म परिज्ञान के लिये हिन्दू तीर्थ-स्थलों का साङ्गोपाङ्ग एवं विशद अध्ययन सर्वोत्तम स्रोत है साथ ही तीर्थ स्थलों का ऐसा समीक्षात्मक अध्ययन हिन्दूसमाज, उसकी आन्तरिक संरचना तथा उसके विभिन्न वर्गों की पारस्परिक अन्योन्याश्रयता पर तो प्रकाश डालता ही है, इसके अतिरिक्त समाज के अर्थशास्त्रीय पक्ष के विभिन्न पहलुओं को भी आलोकित करता है। यही कारण है कि भारत-विद्या (इण्डोलॉजी) के अध्ययन क्रम में 'तीर्थाध्ययन' (तीर्थ-स्टडीज़) संज्ञक एक नया अध्याय लगभग पिछले तीस वर्षों से जुड़ गया है और निरन्तर नये अध्येताओं को- देशी एवं विदेशी- अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। प्रो० एल०पी० विद्यार्थी द्वारा प्रकाशित The sacred complex of Hindu Gaya (Bombay, 1961) नामक पुस्तक इस विधा की संभवतः प्रथम उत्तम रचना थी किन्तु उस समय तीर्थों का अध्ययन मुख्यतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ही होता था, धार्मिक एवं दार्शनिक पक्ष उसमें गौण थे। जर्मनी के हाइडेलबर्ग-फ्राईबुर्ग विश्वविद्यालयों द्वारा प्रायोजित एक बृहत्काय

'उड़ीसा-रिसर्च-प्रोजेक्ट' (१९७०-७५, ८३-८६, १९९९-२००५) द्वारा प्रथम वार जगन्नाथपुरी का अतीव विस्तृत एवं साङ्गोपाङ्ग अध्ययन लगभग बीस विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया, और वर्तमान में भी इसके तृतीय चरण में किया जा रहा है जिसमें इस तीर्थ का शायद ही कोई पक्ष विवेचन से रह गया हो।

इन पंक्तियों का लेखक भी संयोग से प्रारम्भ से ही उक्त शोधपरियोजना से जुड़ा रहा जिसके कारण तीर्थाध्ययन की ओर उसका भी कुछ स्वाभाविक लगाव है। यही कारण है कि डॉ० प्रकाश पाण्डेय जैसे एक प्रतिभाशाली, सुयोग्य एवं विद्वान् अन्तेवासी को अपने सान्निध्य में पाकर उसने डॉ० पाण्डेय को विन्ध्याचल शक्तिपीठ के इस अध्ययन के लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया।

वस्तुतः श्री प्रकाश पाण्डेय के अतिरिक्त इस कार्य को कोई भी अन्य व्यक्ति इतनी भली प्रकार से कर भी नहीं सकता था। श्री पाण्डेय के परिवार के सदस्य विन्ध्याचल शक्तिपीठ के सेवक एवं अर्चक वर्ग में से हैं। माँ की सेवा एवं उपासना उनका नित्य का धर्म है। उनके पूज्य पिता जी ने विन्ध्याचल के विकास के लिये 'विन्ध्याचल विकास परिषद्' की स्थापना की थी जिसमें वे वर्षों तक सक्रिय सदस्य रहे। अतः उनसे अधिक देवी की सेवा-उपासना एवं क्षेत्र की सामाजिक स्थिति के विषय में और किसे ज्ञान होगा ? साथ ही श्री पाण्डेय ने शाक्त-सम्प्रदाय में एक उच्चकोटि के गुरु से दीक्षा लेकर सम्प्रदायगत रहस्यों को भी आत्मसात् किया है और तन्त्रागम के साथ-साथ विविध शास्त्रों के गम्भीर अध्येता एवं वेत्ता तो वे हैं ही। इस शोध परियोजना को उन्होंने बड़े मनोयोग एवं रुचि के साथ निर्व्यूढ किया है। प्रसन्नता का विषय है कि कुछ वर्षों के अन्तराल के उपरान्त ही सही, उनका यह परिश्रम माँ भगवती की कृपा से इस सुन्दर रूप में पाठकों के सम्मुख आ रहा है।

डॉ० पाण्डेय ने स्वतंत्र रूप में, विना किसी बाह्य सहायता के और विना किसी आर्थिक अनुदान के (!) यह महनीय कार्य अपनी खाली समय में बड़े भक्तिभाव से माँ भगवती की सेवा के रूप में संपन्न किया है, नाग पब्लिशर्स ने इसे बहुत सुन्दर रूप में प्रकाशित भी किया है। इस प्रकाशन द्वारा मुझे अपनी एक उत्कट अभिलाषा की क्रियात्मक परिणति एवं श्री प्रकाश पाण्डेय के अथक परिश्रम की यह कीर्तिकरी सार्थकता देख-देख कर अत्यन्त हर्ष हो रहा है। मैं श्री पाण्डेय को इस कृति के प्रणयन हेतु अनेकशः आशीर्वाद प्रदान करता हूँ और आशा करता हूँ कि भगवती के गुणों से ग्रथित इस ग्रन्थरत्न से उन्हें संस्कृत एवं संस्कृतेतर दोनों प्रकार के विद्वानों में समादर प्राप्त होगा एवं वे भगवती की कृपा के भाजन होगें।

विनयावनत
गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्य

प्रयाग
शारदीय नवरात्र, पञ्चमी
२१.१०.२००१

आत्मनिवेदन

वस्तुत: इस पुस्तक की रचना आत्मतोष के लिए है अत: विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए विशेष आह्लाद का अनुभव हो रहा है। महाशक्ति पीठ विन्ध्याचल भारतीय शाक्त परम्परा की वह स्थली है जिसके ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्य प्राचीनतम है। साधक वर्ग इसे शाक्त परम्परा के उत्कृष्टतम स्थल के रूप में देखता है तथा एकाकी रूप से वाम एवं दक्षिण उपासना पद्धतियों या **कादि** एवं **हादि** क्रम की उपासना का पीठ स्वीकार करता है। क्योकि विन्ध्यवासिनी उपासना का जो रूप परम्परा से प्राप्त है उसका सूत्र वैदिक वाक् से तो सम्बद्ध है ही लोक के लिए अवश्यतोष्या उग्रा एवं वैदिक रुद्र की स्वसा शरद्रूपिणी अम्बिका से भी है। इस प्रकार पारमार्थिक पराशक्ति एवं लोकउपास्या दोनों का समन्वित रूप इस देवी में स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार उग्र तन्त्र साधना एवं पारमार्थिक साधना के व्यक्तियों की आकर्षण स्थली यह पीठ है ऐसा व्यवहारत: भी देखा जा सकता है। तन्त्र सम्प्रदाय में चूडाभिषिक्त ग्रन्थ श्रीदुर्गासप्तशती के प्रतिपाद्य का तादात्म्य मात्र विन्ध्यवासिनी से है। यह एक रोचक तथ्य है कि विन्ध्यक्षेत्र के त्रिकोण यात्रान्तर्गत तीन प्रमुख बिन्दुओं पर प्रतिष्ठित तीनों देवियों को विन्ध्यमाहात्म्य विन्ध्यवासिनी नाम से अभिहित करता है। विन्ध्याचल धार्मिक परिक्षेत्र की शिल्प रचना भी तन्त्रसम्मत सप्तशतीयन्त्र के रूप में है। इसका विवरण पृथक् पुस्तक के रूप में प्रस्तोष्यमाण है। मात्र विन्ध्यवासिनी नाम करण भी यह व्यक्त करता है कि इस देवी को किसी विशेष गुण धर्म वाचक दुर्गा, काली, कात्यायनी, आदि नाम से अभिहित करना उपासकों को अभीष्ट नही था। शाक्त पथ के परमार्थ भूत तत्त्व को कोई ऐसा नाम नहीं दिया जा सकता था जो स्वरूप लक्षण बन सके। अत: शाखाचन्द्रन्याय से तटस्थलक्षण रूप में विन्ध्यवासिनी अभिधान हुआ है।

इस प्रकार के महत्त्वशाली उपासना स्थल से सम्बन्ध परम्पराओं के अध्ययन के प्रति सहज प्रवृत्ति थी। किन्तु विगत दशकों से भारतीय धार्मिक स्थलों के अध्ययनों में जो दृष्टि अपनाई गई है उसमें परम्पराओं के प्रति गम्भीरता का अभाव दिखाई दिया जिसने यह प्रेरणा बलवती की कि धार्मिक स्थल के वर्तमान रूप प्राप्त करने में इतिहास, परम्पराएँ एवं मान्यताएँ मूल आधार भूमि के रूप में स्थित होती है तथा सहज सांस्कृतिक विकास या परिवर्तन या परिष्करण उस भूमि का अतिक्रमण करने में समर्थ हो पाते हैं अथवा नहीं इस तथ्य का अनुसन्धान अवश्य किया जाना चाहिए।

अत: अध्ययन सामग्री दो भागों में प्रस्तुत की गई है प्रथम भाग में इतिहास परम्पराओं एवं मान्यताओं के मौलिकस्वरों के अन्वेषण तथा द्वितीय भाग में वर्तमान स्थिति एवं पुनर्विकास के निरीक्षण की चेष्टा की गई है। अध्ययन काल में सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई कि सम्पूर्ण सामग्री को एक पुस्तक में व्यवस्थित करना कठिन प्रतीत हुआ। संक्षेपण के क्रम में अनेक सामग्री सम्मिलित नही हो पाई है। उन सामग्रियों को यथा क्रम प्रस्तुत किया जाना शेष है।

ग्रन्थ रचना में मेरी जन्मभूमि विन्ध्याचल के सभी व्यक्तियों ने पूर्ण सहयोग दिया उन सभी के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। विशेषत: स्व० बबुनपण्डा, पं० अलबेले मिश्र जी, श्री हृदयराम भण्डारी, पं० मणिशंकर मिश्र, श्री रमेश कुमार पाण्डेय के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनसे परम्पराओं के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली थी।

स्वर्गीय पिता पं० लाल चन्द पाण्डेय से शैक्षिक सामग्रियों की अमूल्य उपलब्धि हुई है। उनके अभाव में ग्रन्थ का जन्म सम्भव नहीं था। उनसे प्राप्त ज्ञान को विद्वानों में संक्रान्त करके ऋषि ऋण से मुक्त होने का प्रथम प्रयास कर रहा हूँ। ग्रन्थ निर्माण में मेरी पत्नी श्रीमती शर्वरी (शिवकन्या) पाण्डेय का अविस्मरणीय सहयोग रहा है। उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इस प्रकार के अध्ययन के प्रति मूल प्रेरणा एवं संस्कार भारत विद्या के शीर्षस्थ विद्वान् एवं मेरे गुरु डॉ० गया चरण त्रिपाठी जी से प्राप्त हुआ था। उन्हें सादर नमन करता हूँ।

संस्थान के निदेशक एवं अद्वितीय विद्वान् प्रो० वी० कुटुम्बशास्त्री जी का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होनें इस ग्रन्थ को प्रकाश में आने का अवसर प्रदान किया। वित्तीय सहायता आदि प्रदान करने के लिए संस्थान प्रशासन विशेषत: श्री चन्दन सिंह कनियाल को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

ग्रन्थ के उत्तम एवं शीघ्र मुद्रण हेतु नाग पब्लिशर्स, दिल्ली को शुभाशी: प्रदान करता हूँ।

ग्रन्थ में उपलब्ध तात्त्विक सामग्री पिता एवं विद्वानों की देन है किन्तु दोष एवं विशृंखलताएँ मेरी अल्पबुद्धि का परिणाम है। उनका परिमार्जन विद्वज्जन करें यह प्रार्थना करता हूँ।

महाष्टमी

शारदीय नवरात्र (डॉ० प्रकाश पाण्डेय)

सं० २०५८ विक्रमीय

विषय सूची

प्रथम अध्याय

पवित्र परिक्षेत्र 'विन्ध्याचल' का ऐतिहासिक परिकलन

सामान्यतया धर्म को मुख्य धाराओं के मानक तीर्थों का राजनैतिक दृष्टि से भी महत्त्व रहा है। उन तीर्थों के निकट बसे नगर का उस तीर्थ के देवता से घनिष्ठ एवं पारम्परिक सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ पुरी वैष्णव-धारा का प्रधान तीर्थ है, एवं उड़ीसा या प्राचीन उत्कल के राजनैतिक परिवर्तनों एवं पुरी नगर के सांस्कृतिक विकास के साथ उस तीर्थ के अधिष्ठातृदेव भगवान् जगन्नाथ का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध आज भी है।

विन्ध्याचल शक्तिपीठ विशाल शैवशाक्त धार्मिक धारा का मानक केन्द्र ही नहीं है, अपितु शैव शाक्त सम्प्रदाय का एक प्राचीन स्थल भी है। इस नगर के सम्बन्ध में प्राप्त ऐतिहासिक साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि यह नगर प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास को अवश्य ही प्रभावित करता था। मुगलों के आक्रमण के पश्चात् की शताब्दियों में यह स्थान अधिक उपेक्षित हुआ एवं ब्रिटिशकाल के आरम्भिक चरणों में लगभग २५० वर्ष पूर्व यहाँ आकर पौरोहित्य करने वाले पण्डों ने इस तीर्थ का पुनर्जागरण करना आरम्भ किया।

भारतीय संस्कृति के निर्माता ऋषियों की दृष्टि सदा से नैतिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक संरचना की उदात्तता के विकास पर रही है। इतिहास निर्माण के आधुनिक मानकों में उनके द्वारा रखे हुए साहित्य आपाततः यथावत् स्थित होते नहीं दिखाई देते। किन्तु इतिहास की घटनाओं का कालक्रमानुसार अध्ययन पंस्कृति के किसी भी पक्ष के सम्यक् अध्ययन के लिए तथा समाज की संरचना का स्वरूप निर्धारित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है इसका ज्ञान पुराणों के रचनाकारों को था। क्योंकि भारत अति प्राचीन काल में एवं मध्य काल में भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक होते हुए भी राजनैतिक दृष्टि से एक शासक द्वारा शासित नहीं था। अतः पुराणों क् प्रारम्भिक एवं मध्य कालीन साहित्यों में ऐतिहासिक सामग्री प्रचुरमात्रा में होते हुए भी क्रमबद्ध न होकर बिखरी हुई है। इसलिए भारत के किसी भी भाग या वर्ग के ऐतिहासिक विकास के विषय में

विवरण देने वाले साहित्यिक साक्ष्यों की विश्वसनीयता को इतिहास के अध्येता अन्य आनुषङ्गिक सामग्रियों की सहायता से परीक्षण कर स्वीकार करते हैं।

किसी भी स्थान या वर्ग के इतिहास को जानने के लिए मुख्यतः ३ प्रकार की सामग्रियों को एक साथ सामने रखकर समालोचितकिया जाता है–

१. पुरातात्त्विक साक्ष्य। २. साहित्यिकसाक्ष्य। ३. लोकश्रुति।

इनमें प्रथम का सर्वाधिक महत्त्व है। द्वितीय यदि प्रथम की पुष्टि करता है तब विश्वसनीय है। किन्तु प्रथम साक्ष्य के अनुपलब्ध होने पर द्वितीय भी तर्क सम्मत होने पर विश्वसनीय होता है। तृतीय अतिरंजित होने पर भी सारतः महत्त्वपूर्ण होता ही है।

विन्ध्याचल की अधिष्ठातृ देवी विन्ध्यवासिनी का ऐतिह्य प्राचीन है, मध्यकाल कम से कम सातवीं शताब्दी से विन्ध्यवासिनी मन्दिर के इसी क्षेत्र में होने के साहित्यक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। यह भी तथ्य है कि वैष्णव सम्प्रदाय के ऐतिहासिक उत्कर्ष काल के पूर्व ही विन्ध्यवासिनी का पूजन पूरे भारत में अत्यधिक महत्त्वशाली हो चुका था।

इस प्रकार की महत्त्व शालिनी देवी की पूजा की प्रधान स्थली के आस-पास की परिस्थिति के ऐतिहासिक स्वरूप, उसके राजनैतिक स्थिति के उत्कर्ष एवं पतन के सोपानों का ज्ञान तीर्थ के उत्कर्ष एवं मर्यादा को समझने के लिए आवश्यक होगा।

यद्यपि किसी शक्ति पूजा के आस-पास कोई राजनैतिक महत्त्व का नगर होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शाक्त-सम्प्रदाय प्राचीन जनों की धरोहर हैं। किन्तु विन्ध्यवासिनी एवं उमा हैमवती (पार्वती) ऐसी भारतीय देवियाँ है जिनकी लोक में इतनी अधिक प्रतिष्ठा रही है कि भारत की सम्पूर्ण जातियों को एकसूत्र में बाधने के काल खण्डों में सभी पौराणिक एवं तान्त्रिक परम्पराओं ने मातृ देवी के किसी भी स्वरूप को इन्हीं दो देवियों के अवतारों में समाहित कर दिया। अन्ततः इन दोनों देवियों को भी एक दूसरे का अवतार होने का सिद्धान्त देकर ब्रह्म की अभिन्नशक्ति, अव्यक्त, माया के दार्शनिक स्वरूप में समाहित कर दिया। अतः विन्ध्य की प्रधानदेवी के महत्त्व एवं प्राचीनता के कारण यह कल्पना अत्यन्त सहजता से की जा सकती है कि जिन जातियों की ये देवी उपास्या थीं उन जातियों का प्राचीन भारत की राजनीतिक संरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुछ इतिहासकारों ने विन्ध्यवन के उस भाग में जहाँ विन्ध्यवासिनी नाम की 'कुमारी-देवी' की पूजा होती थी मातृसत्तात्मक समाज एवं शासन व्यवस्था होने की दलीलें दी है। यद्यपि इसकी ऐतिहासिकता कल्पनाओं मात्र पर आधारित है। किन्तु पुरुष प्रधान-समाज में पुरुष देवों की प्रधानता एवं स्त्रीप्रधान समाज में स्त्रीदेवियों की प्रधान उपासना की कल्पना सर्वथा निराधार भी नहीं मानी जा सकती। विन्ध्यवासिनी के किसी अन्य मन्दिर का विन्ध्याचल

में स्थित मन्दिर से अधिक प्राचीन काल का न होना एवं इस मन्दिर के इसी क्षेत्र में होने के सतत साहित्यिक साक्ष्यों की उपलब्धि के कारण एवं विन्ध्याचल के आस-पास की प्राकृतिक सुविधाओं के कारण कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में कथित मातृ सत्तात्मक समाज का कोई स्वरूप इस क्षेत्र के आस-पास विकसित रहा होगा। यद्यपि यह भी कल्पना मात्र ही है।

विन्ध्याचल के आस पास प्रागैतिहासिक काल की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के अनेक अवशेष भरे पड़े हैं। किन्तु पुरातत्त्वविदों ने अभी तक इनका अनुसन्धान नहीं किया है। संयोगवश १८८३ ई० में आर्किवाल्ड कार्नाइड नामक अग्रेंज पुरातत्त्वविद् ने मीरजापुर के कुछ भित्ति चित्रों को खोज निकाला था। ये चित्र प्रागैतिहासिक मानवों द्वारा निर्मित शिला भित्ति चित्र हैं। इन चित्रों में पूर्वजों ने खनिज द्रव्यों, जैसे-पेड़ों पौधों के रस, चूना, कोयला, गेरु, आदि,का रंग भरने के लिए प्रयोग किया है। ये चित्र विन्ध्यक्षेत्र में बसे आदि कालीन समाज के दैनन्दिन जीवन धर्म एवं स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं। ये चित्र विंढम्, कंडाकोट, केदारा मुक्कादरी, विजयगढ़, ढोकवा, नहरानी, दुबरा, पंचमुखी, घोरावल आदि ग्रामों, नगरों की समीपवर्ती कन्दराओं में देखे गए थे। इसमें हिरण, गैंडे के आखेट (विजयगढ़) साँभर, भैंसे के आखेट (कंडाकोट, लिखनिया) के चित्र, सामूहिक नृत्य (हथबनवा, केदारा, मुक्कादरी ढोकवा आदि) में स्त्री पुरुषों का समान रूप से भाग लेना, गोलाकार आयताकार स्वस्तिकाकार आकृतियाँ (पंचमुखी आदि) बड़ी ही सजीवता से चित्रित हैं एवं इस क्षेत्र में बसे हुए समाज का ऐतिहासिक साक्ष्य देतीं हैं। नदियों के किनारे सभ्यताएँ बसती ही है तथा विन्ध्य का मध्यवर्ती भाग इस दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध भी रहा है। मानव सभ्यता के आदि से इतिहास की पंक्तियों को लिखने के पूर्व ही विन्ध्याचल के आस-पास के क्षेत्रों में मनुष्यों ने चित्रों के रूप में अपनी सत्ता, क्षेत्र में स्थाई वास एवं जीवन पद्धति, के इतिहास को लिखना आरम्भ कर दिया था।

इन गुहाचित्रों के विवरण जर्नल आफ एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (भाग ३ पृ० २१ १८९४) एवं जर्नल आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी (भाग। पृ० ८९, १८९९) में प्रकाशित भी हो चुके हैं। डॉ० जी० आर० शर्मा ने अपने गंगाघाटी की सभ्यता से सम्बद्ध पुस्तक में इनका उपयोग किया है। ये दोनों विवरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि विन्ध्याचल का यह वन्य प्रदेश प्रागैतिहासिक काल से ही मानव समाज से समृद्ध रहा था।

ईसा पूर्व ६०० के आस पास के समय के भारत का राजनैतिक स्वरूप बौद्ध जातक साहित्य के आधार पर प्रथमतः रीज़ डेविड्स ने लिखा है। उसके अनुसार इन भागों का गणराज्य कोशाम्बी के वत्सों का पड़ोसी था।

डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि भर्गगणतन्त्र वत्स राज्य के पूर्व में था। इनका किला एक घाटी में था एवं वह घाटी मिरजापुर के आस पास कहीं थी। प्रो० जायसवाल इन भर्गों के गणराज्य की स्थिति कन्तित विन्ध्याचल के आस पास मानते हैं। इसे प्रामाणिक मानने पर बौद्ध युग में भर्गों की राजनैतिक सत्ता विन्ध्याचल नगर पर मानना होगा।

सोमदेव (११वीं शती ईसवी) का कथा सरित्सागर गुणाढ्य (१ शती ई०पू०) के "बडढ कहा" का संस्कृतीकरण माना जाता है। इसमें विन्ध्यवासिनी के मन्दिर तक यात्रियों के आने एवं उपासना करने के लिए रुकने के प्रसंग है।[१] उस काल के आस-पास इस क्षेत्र में शबर बर्बर पुलिंद आदि (महा०वि०अ०२३, भीष्म०अ०६) एवं ब्राह्मणों के निवास के उल्लेख है। ये शबर, बर्बर, बांसफोड, तंक, कपाली एवं म्लेच्छ जातियाँ कन्द मूल खातीं थीं। वल्कल पहनती थीं। गुन्जा की मालाएँ धातुओंके अलंकार धारण करने वाले पुरुप हाथियों का भी शिकार करने में समर्थ अपनी कान्ताओं से प्रेम क्रीडा करते हुए सदा प्रसन्न रहते थे। इन्हीं के साथ विभिन्न वैदिक शाखाओं के अध्यंता सदाचारी ब्राह्मण भी रहते थे। उनके बच्चे समिधाएँ लाया करते थे। ये लोग शिव एवं विष्णु के उपासक थं एवं तपस्वी थे[२]। स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में ईसा पूर्व की सहस्राब्दी एवं ईसा

---

१. उदहरणार्थ एक दरिद्र धनार्थी का विवरण
गत्वा तु विन्ध्यवासिन्याः पुरतो दर्भसंस्तरं।
पतित्वा स तपश्चक्रं निराहारोऽर्थकाम्यया।। कथासारित्सागर १०/१०१

२. कृष्णसारैः सदाचारैश्चरदभिः स्वेच्छयान्विते।
मुनिदारकसंसक्तं सततं समिधानये।।
पुष्पपत्रफलाहारा कन्दमूलफलाशनाः।।
वाद्यम्बुकणशाकान्नपक्वमांससमाशनाः।।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञातस्तत्क्रियाध्यानतत्पराः।
योगाभ्यासरताः नित्ये शिवविष्णुपरायणाः।
अनेकशाखशाखान्ता निवसन्ति तपोऽर्थिनः।
वेणुसम्भवसंतानसम्भूता बर्बरा पराः।
पुलींदा शबरा तंकाः कपालि म्लेच्छजातयः।।
कन्दमूलफलाहारा यत्र वत्कलधारिणः।।
गुञ्जाभरणकृष्माण्डमालाहारावलम्बिनः।
शतपत्रकृतात्रांढा शुकपिच्छविभूषणाः।।
धातुमण्डितसर्वाङ्गा नित्यं मुदितमानसाः।
कान्ताङ्गक्रीडनासक्ताः करिकुम्भकरच्छिदः
निस्त्रिंशप्रशासतुष्टिदण्डमुद्गरधारिणः।। देवीपुराण १३/४८-५५ पूर्वार्ध

की आरम्भिक शताब्दियों में कथित आर्य-अनार्य दोनों प्रजातियाँ सुखपूर्वक सपरिवार वास करतीं थी।

इस नगर के प्राचीन धार्मिक महत्त्व को आधुनिक इतिहासकार भी पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। मॉनियर विलियम्स लिखता है कि विन्ध्यपर्वत प्रार्थना एवं उपासना के योग्य है जहाँ पर अनेक पूज्य स्थलियाँ है[१]। विन्ध्य शृंखला यद्यपि देव स्थलियों से भरी है किन्तु विन्ध्याचल नगर में प्राचीनतम देव स्थलियों का गुच्छक है। काशीप्रसाद जायसवाल आदि विद्वान् विन्ध्याचल को गुप्तों के पूर्व अत्यन्त प्रभावशाली नागराजाओं में भारशिव नागों की राजधानी आधुनिक कन्तित (विन्ध्यावल का निकटवर्ती, पूर्व दिशा में स्थित गांव) मानते हैं[२]। यह पम्पापुरनगर की राजधानी थी। पम्पापुर को ही भरों या भारशिवों का राज्य बताया जाता है[३]। यद्यपि कान्तिपुरी की पहचान के सम्बन्ध में मतभेद है[४]। किन्तु मीरजापुर स्थित विन्ध्याचल के निकट कन्तित ग्राम के आस पास नाग राजाओं की सभ्यता के अनेक पुरातत्त्वावशेष आज भी बिखरे पड़े हैं।

विन्ध्याचल के उत्तर में गंगा के किनारे-किनारे पश्चिम में शिवपुर से पूर्व में ओझला नाला तक प्राचीन दीवाल के अवशेष अब भी वर्तमान हैं। कन्तित के निकट् ही नागकुआँ (या नागकुण्ड) का ध्वंसावशेष है। इसके शिल्प की तुलना, मथुरा एवं पद्मावती में बने कुण्डों की शैली से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यहाँ से अनेक कुषाण कालीन सिक्कों एवं बर्तनों के प्राप्त होने के विवरण भी प्राप्त होते हैं[५]।

पुराणों में कान्तिमती नगरी का वर्णन जिस प्रकार का है उसकी तुलना विन्ध्यमाहात्म्य (अध्याय २६) के विन्ध्यक्षेत्र के वर्णन से किया जा सकता है स्कन्द

---

१. Brahmanism and Hinduism, M. Williams, London 1891, P 349.

२. Emperial gazetter of India Vol. XVIII P. 377, Mirzapur A Gazetter 1911.

3. History of India (150-350) A.D., K.P. Jayaswal P. 123.

४. कान्तिपुरी के सम्बन्ध में अनेक उद्धरण पुराणों में उपलब्ध है कं० पी० जायसवाल ने विष्णु पुराण का श्लोक उद्धृत किया है- नवनागाः पद्मावत्यां कान्तिपुर्या वा। मथुरायां..........भोक्ष्यन्ति।
स्कंन्दपुराण ४७/४ में कान्ति पुरी को रुद्रसेन की राजधानी बताया गया है।
डॉ० जायसवाल के अतिरिक्त इस की स्थिति के विषय में भी अन्य मत भी है--
१.काठमाण्डू को भी कुछ लोग प्राचीन कान्तिपुरी मानते हैं।
२.ग्वालियर के निकट २० मील पर कौटिबल नामक स्थान का समीकरण भी कान्तिपुरी से किया जाता है
देखें-- History of Dharma Sastra P. V. Kane Vol. 4 Chapter 15.

५. देखें "विन्ध्यदर्शन" मीरजापुर,। १९९० ई० पृ० १२-१५।

पुराण (काशी खण्ड) के वर्णनानुसार कान्तिपुरी अत्यन्त तेजस्विनीं नगरी है। वहाँ के सभी निवासी विष्णु (लक्ष्मीकान्त) के समान कान्तिमान हैं। स्वयं तो यह नगरी कान्तिमयी है; साथ ही कान्तिमान पुरुषों द्वारा सेवित भी है[१]। विन्ध्याचल की अधिष्ठात्री देवी विन्ध्यवसिनी का तादात्म्य विष्णु की योगनिद्रा से है। अतः कान्तिपुरी के निवासियों की तुलना लक्ष्मीकान्त से करने को भी विन्ध्याचल को कान्तिपुरी कहे जाने का संकेतक माना जा सकता है। स्कंद पुराण माहेश्वर खण्ड के केदार उप प्रकरण में कान्तिपुरी में अल्लाल नाथ नामक शिवलिंग का उल्लेख है[२]। कान्ति पुरी पर्वतमाला के पास बसी थी यह संकेत ब्रह्माण्ड पुराण देता है[३]। आइने अकबरी में भी कान्तिपुरी का उल्लेख है[४]। प्राचीन पम्पापुर राज्य की राजधानी कान्तिपुरी बताई जाती है[५]। पौराणिक भूगोलवेत्ताओं का दृढ़ मत है। कि पम्पापुर विन्ध्याचल के आस पास के क्षेत्र में ही बसा था।[६] भविष्य पुराण में हेलि नामक एक ब्राह्मण द्वारा सूर्य-स्तम्भ निर्मित कराए जाने का उल्लेख है[७]। विन्ध्य माहात्म्य इस क्षेत्र में शक्ति के अतिरिक्त विष्णु, सूर्य एवं शिव की प्राचीन उपासना परम्परा की पुष्टि करता है[८]। किन्तु सम्पूर्ण विन्ध्यमाहात्म्य के शिवपरक होने के कारण अथवा उस प्राचीन स्तम्भ की पहचान लुप्त हो जाने के कारण सम्भवतः उस स्तम्भ का वर्णन यह उत्तर कालीन माहात्म्य नहीं कर पाया है। यह पम्पापुर दक्षिण भारत के हम्पीनगर के पम्पातीर्थ से सर्वथा

---

१. जगाम नगरीं कान्तीं कान्तां त्रिभुवनादपि।
लक्ष्मीकान्तः स्वयं साक्षात् ज्जन्तूस्तत्र निवासिनः।
श्री कान्तानंव कुरूते परत्रेह च निश्चितम्।
दृष्ट्वा कान्तिमतीं कान्तिमद्भिर्निषेविताम्।। स्क० पु० का० ख० ७/१००-१०२ तुलनीय वि०मा० १९/३४
वसतिं सततं विन्ध्ये परब्रह्म सुखार्थिनः।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां विपयाग्रस्तचेतसाम्।।

२. स्कं० पु० मा० ख० के० २७/३३

३. शैलः कान्तिपुराभ्याशे प्रागुदीच्यां दिशिस्थितः।।
पुण्या पुष्करिणी तत्र किरातगण रक्षिता।।
यस्यां स्नात्वा सकृद् विप्रः कामाप्नोतिसर्वशः।। ब्रह्माण्ड ३/१३/९९-९६

४. आइने अकबरी भाग १, पृ०३०५, प्रथम संस्करण।

५. History of India, K.P. Jaiswal, Page 123 and Further.

६. Historical Geography of India, B.C. Law, P. 134. एवं प्राचीन भारत का नक्शा।

७. पुरा पम्पापुरं रम्यं हेली नाम्ना द्विजोऽभवत्।
चतुष्पष्टि कलाऽभिज्ञो रविपूजनतत्परः।।
एवं पम्पासरांवरं रम्ये निर्मितः स्तम्भ उत्तमः। भविष्यपु० प्रतिसर्ग पूर्व ८/२५,२९

८. क्षेत्रे सर्वात्मना विष्णुशिवसूर्योविधिस्तथा।
अन्येऽपि देव प्रवराऋपयो ये स्वरास्तथा।। वि० महा० १९/३३

पृथक् है जो रामायण काल में सुग्रीव की राजधानी थी[१]। यह नगर प्राचीन काल में अत्यन्त समृद्ध था एवं इस नगर के अनेको ध्वंसावशेष बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों तक सुरक्षित थे। इन अवशेषों की चर्चा अंग्रेज इतिहासकारों ने भी की है। उन्होंने विन्ध्याचल बस्ती के आस पास अनेक ध्वंसावशेषों को देखा एवं उसे भरों की नगरी पम्पापुर का स्मारक चिह्न बताया है[२]। १९वीं शती में मिर्जापुर जिले के उत्तरी भाग में भारशिवों के काल की मानव मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थी[३]। उन मूर्तियों को अब कहाँ सुरक्षित रखा गया है यह नहीं ज्ञात हो सका है। कुछ मूर्तियों के 'लखनऊ संग्राहालय' में होने के विवरण मिलते हैं। आज भी विन्ध्यक्षेत्र के आस पास के क्षेत्रों में अनेकों ऐतिहासिक महत्त्व के अवशेष हैं, जो बड़ी तेजी से मूर्ति चोरों, एवं अधिग्रहणकर्ताओं के कारण लुप्त होते जा रहे हैं। प्रशासन को इसकी सुरक्षा का कम ध्यान रहता है। विन्ध्यवासिनी मन्दिर के एकदम निकट एक पुराने किले का ध्वंसावशेष था। इसे स्थानीय भाषा में "महल" कहा जाता था। इसमें मध्य में एक लगभग ३० फिट ऊँचा दीप स्तम्भ था। इस महल का विस्तार पूर्व-पश्चिम १२० मी० एवं उत्तर-दक्षिण। १२५ मी० था। स्तम्भ के नीचे चारों और एक चबूतरा था एवं उसके बाद आँगन एवं उसके चारों ओर कमरे बने हुए थे। इसकी सत्ता ६० के दशक तक थी[४]। विन्ध्याचल की परम्परा उसे भरों द्वारा निर्मित बताती है। बताया जाता है कि कान्तिपुरी के राजा प्राचीन काल में प्रतिदिन विन्ध्यवासिनी का पूजन करते थे एवं इसी भवन में सभी नागरिकों को विन्ध्यवासिनी का प्रसाद वितरण होता था। दीपस्तम्भ विन्ध्यवासिनी मन्दिर के लिए प्रकाश स्तम्भ के रूप में बनाया गया था। इस खण्डहर के महत्त्व को इतिहास वेत्ताओं ने भी स्वीकार किया है[५]।

---

१. देखें हिन्दी-विश्व-कोश "विध्याचल"

२. 'Close to Bindhachal are found extensive ruins believed to be those Pampapur the ancient city of Bhars. Emperial Gazetter Vol. XVII 1909 P. 377 and 'To the east of the site are the remains of the fort from the neighbourhood of which especially to the west, ancient relics have been found in great abundance. The old town of Bindhachal or Vindhyachal, which is famous in Puranas, is believed to have been included in the ancient city of Pampapur, to which these relics belong.' Mirzapur A Gazetter 1911. Bindhyachal.

३. 'Curious stone images of bearded men, Supposed to be relics of Bhar sula, are found in the north of district. ibid.

४. वर्तमान में उसके अधिकांश भाग में जैपुरिया धर्मशाला निर्मित है।

५. विवरण देखे हिन्दी विश्वकोश "विन्ध्याचल"

भारशिवों का राज्य सम्भवतः आधुनिक भदोही से लेकर दक्षिण में बड़हर रियासत तक विस्तृत था[१]। इस सम्पूर्ण क्षेत्र को पम्पापुर के अन्तर्गत माना जाता है किन्तु वर्तमान ओझला से पश्चिमी अष्टभुजा मन्दिर के आस-पास के क्षेत्र को उनकी राजनैतिक-धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र माना जाता है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल १५० ईसा पूर्व से ३५० ई० तक इस क्षेत्र में भारशिवों की सत्ता को स्वीकार करते हैं[२]।

नागवंशीय शैली की मूर्तियों, बावड़ियों, भवनों के अवशेषों एवं प्राचीन शिव मन्दिरों की सत्ता से यह प्रतीत होता है, कि भारशिव नागों के काल में यह नगर अत्यन्त समृद्ध एवं विकसित था गुप्तों के उदय के पूर्व प्रयाग एवं काशी पर कुछ काल तक आन्ध्रों का भी शासन था। किन्तु आन्ध्रों द्वारा नागों के इस शक्तिशाली राज्य के विजय का प्रमाण नहीं प्राप्त होता। गुप्त साम्राज्य के सर्वाधिक प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त के पूर्व वाकाटक प्रवरसेन का पिता विन्ध्यशक्ति नागों की सेना का अध्यक्ष था एवं उसकी अध्यक्षता में नागों सेनों, एवं गुप्तों द्वारा शकों एवं कुषाणों पर विजय प्राप्त की गई थी। नागों, सेनों एवं गुप्तों ने सम्मिलित रूप से शकों एवं कुषाणों से ई० १४० से २५० ई० तक लगभग एक शताब्दी तक युद्ध किया था। अन्ततः २५० ई० में विन्ध्यशक्ति का पुत्र प्रवरसेन प्रतापी वाकाटक सम्राट बना[३]। उस समय सम्भवतः यह नगर उन्हीं के अधिकार में रहा होगा। कान्तिपुरी को रुद्रसेन की राजधानी भी कहा गया है।

यह कहना कठिन है कि गुप्तों के उदय के ठीक पूर्व काल में प्राचीन पम्पापुर (विन्ध्याचल) राज्य पर वाकाटकों का शासन था अथवा नागों का; किन्तु समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के द्वितीय युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तर भारत एवं मध्य भारत पर एक केन्द्रीय

---

१. देखें "मीरजापुरनगर पालिका के १०५ वर्ष" मीरजापुर नगर पालिका द्वारा प्रकाशित, १९७१ पृ० १२ एवं आगे।

२. H.I., K.P. Jayasawal.

३. इस सम्बन्ध में पञ्चानन राय का निम्न आकलन विचारणीय है–

Only a few places in Sindha still remained under the domination of Sakas. That part of Sindha where the river Sindhu meets and if we recall slokas 34-35 chap. 12 of Markandeya Chandi Viz– दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवस्यौ युधि।
......शंपाः पातालमायुयुः।।

It strikes us that the Markandey Chandi depicts the war bitween the Nagas, Sens and Guptas as gods on one side and the Shakas and Kusanas as Asuras on other side and this was lasted from about 140 A.D. to about 250 AD.

The result of the victory in this war was that....Pravara Sen the elder son of the नाग सेनाध्यक्ष विन्ध्यशक्ति was crowed as the वाकाटक सम्राट।

A Historical review of Hindu India (300 B.C. to 1200 AD) by Panchanan Raya, Delhi, 1939. Introduction-V. And
Mirzapur A Gazetter1911 A.D. 'History'

शासन स्थापित किया था एवं नाग राजा प्रयाग प्रशस्ति के उन्मूलित राजा कहे गए हैं[१]। अत: सम्भव है कि गुप्त साम्राज्य के उदय के पश्चात् पम्पापुर गुप्तों के शासन में रहा था।

गुप्तों ने भी इस क्षेत्र की उन्नति बाधित नहीं की थी। अपितु इस क्षेत्र में उन्होंने भी अनेक कलात्मक निर्माण कराए। १९५५ में विन्ध्याचल में षष्ठीदेवी के प्राचीन स्थान के निकट वर्तमान में आनन्दमयी माता के आश्रम के निकट कुछ पुरातत्त्व विदों ने खुदाई की थी उसमें गुप्तकालीन मन्दिर प्राप्त हुए थे। उन्होंने कुछ मूर्तियाँ निकाल कर शेष मन्दिर को यथावत बन्द कर दिया। इनमें से कई मूर्तियाँ लुप्त हो गई एवं कुछ मूर्तियाँ लखनऊ संग्रहालय एवं इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित भी है। गुप्तकाल की अनेक मूर्तियाँ विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर भी थी। उनमें से सप्तमातृकाओं की प्राचीन मूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यह मूर्ति राज्य संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित है। इस प्रतिमा की चर्चा कई पुरातत्त्व विदों ने की है[२]। यह सम्भवत: उत्तर गुप्तों के समय बनी होगी। इसके अतिरिक्त अनेक मूर्तियाँ भग्न अवस्था में अभी भी विन्ध्याचल में पड़ी है[३]। मुगलों के आक्रमण के पूर्व तक इस नगर में १५० मन्दिरों की सत्ता स्वीकार की जाती रही है[४]।

---

१. "उन्मूल्याच्युताग सेन गणपतिना......" हरिषेण कृत प्रयाग प्रशस्ति।

२. Catalogue of Brahmanical Sculpture in the state Museum, Lucknow, Part-I Lucknow, N. P. Joshi1972, P. P. 131-132.
देखें– "गुप्त कालीन हिन्दू देवप्रतिमाएँ" खण्ड-२ डॉ० भगवान सिंह, दिल्ली, १९८७ ई०पृ० ८२-८३। इस प्रतिमा 'में ७ देवियों एवं एक शिव की प्रतिमा है। शिव की प्रतिमा खण्डित है। सभी पाचों प्रतिमाएँ एक ही प्रस्तर खण्ड पर निर्मित है। सभी देवियों के वाहन एवं आयुधों का भी चित्रण है। शिव की प्रतिमा वीणाधर रूप में है। उसके पश्चात् ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी आदि की प्रतिमाएँ है। अन्त में चामुण्डा की प्रतिमा है। यह भयानक रूप में प्रदर्शित की गई है। इनके दाएँ भाग में खर्पर एवं मुण्ड है। देवी मुण्डमाला धारण किये हुए है। एक हाथ मुख को स्पर्श कर रहा है। सभी प्रतिमाओं को प्रभामण्डल है एवं बैठी हुई चित्रित है। यह प्रतिमा राज्य संग्रहालय लखनऊ में क्रमांक ५५, २८३ में सुरक्षित है।'

३. विन्ध्यवासिनी मन्दिर में महासरस्वती के मन्दिर में दो मूर्तियाँ स्पष्टतया गुप्तकालीन शैली में निर्मित है। इनमें से एक महिषमर्दिनी की एवं दूसरी लक्ष्मीनारायण की है (चित्र १)। दोनों काले पत्थर पर बनी है। महिषमर्दिनी की प्रतिमा लगभग १.५' के पत्थर पर बनी है। इनकी दो भुजाएँ है दाहिने हाथ में आगे की ओर नुकीला पीछे की ओर चौड़ा खड्ग है। दूसरे हाथ से ये महिषासुर को पकड़कर उस पर वार कर रही हैं। मूर्ति में हार कमरबन्द बाजू बन्द अलंकार स्पष्ट हैं। लक्ष्मी नारायण की मूर्ति में लक्ष्मी एवं नारायण दोनों खड़े हैं बीच में शेष का फण ऊपर से छत्र लगाए हुए है। यह मूर्ति भी १.५' के पत्थर पर बनी है लक्ष्मीनारायण की बिल्कुल ऐसी ही प्रतिमा रेहडा विन्ध्याचल में वनखण्डेश्वर शिव के मन्दिर के बाहर रखी हुई है। उसे आजकल सिन्दूर लगा दिया गया है।
महिषमर्दिनी की द्विभुजी मूर्ति सिन्दूर चर्चित अवस्था में काली खोह के रास्ते में एक पीपल के पेड़ के नीचे पड़ी है इसमें दाहिना हाथ भग्न है एवं महिष पशुरूप में है। यह मूर्ति उक्त मूर्तियों से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।
इस प्रकार की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ अष्टभुजी काली खोह, विन्ध्यवासिनी मन्दिर एवं डाक बँगला शिवपुर में है। जबकि लगभग २००० से भी अधिक प्राचीन मूर्तियों को मूर्ति चोरों ने गायब कर दिया है।

४. देखें Mirzapur a Gazetter 1911 A.D. तथा हिन्दी विश्वकोश "विन्ध्याचल"।

मन्दिरों के बहुतायत के कारण यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः गुप्तों ने काशी के निकटवर्ती इस प्राचीन धार्मिक स्थली को सांस्कृतिक नगरी के रूप में ही विकसित किया होगा। जिसकी प्रधान अधिष्ठातृ देवी विन्ध्यवासिनी थी। उनकी मन्दिर की प्रतिष्ठा को किसी भी राजा ने समाप्त नहीं किया क्योंकि वह प्रतिष्ठित मन्दिर था एवं यात्रियों का आवागमन होता था। अपितु आस पास के क्षेत्र में कलात्मक दृष्टि से समृद्ध अनेक अन्य मन्दिर वनाए गए[१]।

विन्ध्याचल के आसपास के मन्दिरों में बौद्ध एवं जैन धर्मों से सम्बद्ध स्थापत्य की सत्ता यह सिद्ध करती है कि प्राचीन भारत में इस नगर का सांस्कृतिक महत्त्व भारत के विशाल भूभाग में स्वीकृत था। आज भी विन्ध्यवासिनी मन्दिर के पश्चिम खण्ड में बुद्ध के शिरोभाग की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ भग्न अवस्था में देखी जा सकतीं हैं[२]। सम्भवतः वज्रयानी तान्त्रिक बौद्धों ने विन्ध्याचल में अपना केन्द्र बनाया रहा होगा। कुछ पुरातत्त्व वेत्ताओं ने मीरजापुर के उत्तरी भाग में प्राप्त सामग्रियों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि प्राचीन काल में विन्ध्याचल नगर में बौद्धों का प्रभाव रहा था। जैन समुदाय को भी १८वीं सदी तक मीरजापुर-विन्ध्याचल में प्रभावीमाना गया है[३]। शिवपुरग्राम के निकट प्रतिष्ठित एक देवी की मूर्ति के विषय में विवाद अब तक बना हुआ है। डॉ० कनिंघम ने विन्ध्याचल की पारम्परिक मान्यतानुसार इस मूर्ति को "संकटा देवी" की मूर्ति माना है एवं पुरातत्त्वविद् जर्मन विद्वान् फ्युहरर ने इस मूर्ति की पहचान जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की माता "त्रिशला" के रूप में की है[४]।

---

१. यद्यपि अन्य मन्दिर लुप्त से हो गए किन्तु विन्ध्याचल से ५ कि०मी० दक्षिण में सप्त सागर नाम स्थल का भर मन्दिर, षष्ठी के निकट प्राप्त मन्दिर, रामेश्वर मन्दिर शिवपुरी की निचली प्राचीन दीवारें। इन मन्दिरों की कलात्मकता एवं प्राचीनता के प्रमाण है।

२. विन्ध्यवासिनी मन्दिर के खर्परेश्वर उपमन्दिर में एक कक्ष सदा बन्द रहता है वह फूलमती देवी का कक्ष है। इसमें एक देवी की प्रतिमा है एवं बुद्ध का शिरोप्रदेश रखा है।
इसी प्रकार सरस्वती देवी के मन्दिर में उत्तर की ओर बुद्ध का एक शिर रखा है। इस पर सिन्दूर लगा है। विन्ध्याचल की लोक श्रुतियों से भी यह पुष्ट होता है कि इस क्षेत्र में बौद्ध मठ भी थे। सम्भवतः वज्रयान के पृथक् सम्प्रदाय होने पर विन्ध्याचल की तान्त्रिक परम्परा से बौद्धों का आकर्षण हुआ होगा।

३. देखें– Mirzapur A Gazetter 1911 P. 90

४. 'A life sized female figure locally known as Sankata Devi but identified by Furhrer as Trishala (5 Lt. 2 in.) lying on the neighbourhood of the present temple of Rameswar Nath." District Gazetteers. of United Provinces (Vol. D) Benaras Divison P. 29. 'Encyclopeadia Indica-में कनिघम संकठादेवी ही मानते है। वर्तमान में यह मूर्ति पटिगरा नाला एवं शिवपुर बाजार के मध्य में सड़क के किनारे एक छोटे से मन्दिर में प्रतिष्ठित है। इस पर विन्ध्याचल के भण्डारी परिवार का अधिकार है। एवं इसकी पूजा प्रतिदिन विन्ध्याचल का एक सारस्वत ब्राह्मण करता है।

इन विवरणों से विन्ध्याचल क्षेत्र में प्राचीन भारत के विकसित एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नगर की सत्ता सिद्ध होती है। इस नगर के विषय में विशेष ज्ञान पुरातात्विक अन्वेषणों एवं परीक्षणों के पश्चात् ही हो सकता है।

मीरजापुर नगर का नामकरण भी इस पूरे जनपद पर विन्ध्याचल एवं विन्ध्यवासिनी की धार्मिक महत्ता के प्रभाव का परिचायक है। **विन्ध्यमाहात्म्य** विन्ध्याचल के क्षेत्र को तारकेश्वर (मीरजापुर) से वीरभद्र पुर (आधुनिक विरोही) तक विस्तृत बताता है[१]। महालक्ष्मी विन्ध्यवासिनी का नगर होने के कारण ही इस जनपद का नाम मीरजापुर माना गया है[२]। मीरजापुर के स्थानीय विद्वानों की मान्यता है कि वस्तुतः मीरजापुर नगर का नामकरण मध्यकाल में कभी विन्ध्याचलनगर की अधिष्ठातृ देवी विन्ध्यवासिनी के प्रभाव के कारण पड़ा रहा होगा। संभवत है यह सत्य भी हो एवं मुग़लआधिपत्य के प्रभावकाल में इसका नाम "मिर्ज़ापुर" हो गया होगा[३]। उत्तर गुप्तों के बाद १२वीं शताब्दी ईसवी तक विन्ध्याचल नगर का इतिहास राजनैतिक भारत के लिए सम्भवतः अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा था। तब तक यह क्षेत्र एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में पुनः विकसित हो चुका था।

सातवीं शती में लिखे गए **गउडवहो** का उल्लेख ऐसा संकेत देता है कि विन्ध्याचल राजनैतिक सत्ता का केन्द्र नहीं होकर एक शक्तिपीठ के रूप में विकसित हो चुका था। कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा की विन्ध्याचल यात्रा[४] कश्मीर के राजा रणादित्य की यात्रा[५] इस पीठ की धार्मिक व्यापकता का ऐतिहासिक साक्ष्य उपस्थित करता है। बाणभट्ट ने अपने दोनों ग्रन्थों में विन्ध्यवासिनी की चर्चा की है। बाण का **'चण्डीशतक'**

---

१. तारकेशात् सामरभ्य वीरभद्रपुरं प्रति।
पञ्चक्रोशात्मकं क्षेत्रं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।। वि० महा० ३२/२८

२. कोशों में "मीर" शब्द का अर्थ समुद्र है। अतः "मीरजा" का अर्थ लक्ष्मी जो पुराणों के अनुसार समुद्र से उत्पन्न हुई। "पुर" निवास का वाचक है। इस प्रकार मीरजापुर का अर्थ है "लक्ष्मी का नगर"।

३. १९वीं शती के आरम्भ में बद्रीनारायण उपाध्याय प्रेमघन ने आनन्द कादम्बिनी (हिन्दी की पत्रिका) में "मीरजापुर" शब्द को इस जनपद का मध्यकालिक नाम माना है। इसकी पुष्टि सीताराम द्विवेदी ने "समन्वयी" मे किया है। प्राचीन मीरजापुर के भूगोल में भी यही नाम प्राप्त होता है विशेष देखें–"मीरजापुर नगर पालिका के १०५ वर्ष, पु० १-२। मीरजापुर नगर में बूढे नाथ मन्दिर के शिला पट्ट में मिरजापुर शब्द उल्लिखित है यह शिलापट्ट मुगलसम्राज्य के अन्तिम दिनों का है।

४. गउडवहो २८५ से ३३५ गाथाओं में इस यात्रा का उल्लेख है। ये गाथाएँ वाक्पतिराज ने यशोवर्मा द्वारा बंगाल पर चढ़ाई करने के पूर्व विन्ध्याचल आने पर लिखीं थीं।

५. कल्हण की राजतरङ्गिणी में रणादित्य के पूर्वजन्म में भ्रमर स्वामिनी के मन्दिर की यात्रा का वर्णन है। दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक 'The Sakta Peethas' पृ० २० में भ्रमर स्वामिनी का तादात्म्य विन्ध्यवासिनी से किया है। इसके अतिरिक्त गउडवहो गाथा सं०२८७ से भी यही पुष्ट होता है–
भमरावलियो भइरवि तुज्झभवणइरम्भि सामोए।
भुइ मंत्तुम्भो इट जंतुणिअलमालाओ व लुढंति।।

सम्पूर्ण रूप से विन्ध्यवासिनी को ही समर्पित है। **देवी पुराण** यद्यपि बंगाल में निर्मित हुआ[1] किन्तु सम्पूर्ण रूप से विन्ध्यवासिनी को ही केन्द्र मानकर रचित है[2]। इस प्रकार के अनेक साहित्यिक साक्ष्य हैं जो विन्ध्याचल नगर के सांस्कृतिक महत्त्व को पुष्ट करते हैं[3]। **गउडवहो** काव्य में विन्ध्यवासिनी मन्दिर में यज्ञ बाहुल्य का वर्णन, वीरों द्वारा विजयोपरान्त खड्ग एवं तलवार के समर्पण का वर्णन, सिद्ध सन्तों द्वारा संध्याकाल में उपासना किया जाना, कौलनारियों आदि के वर्णन विकसित धार्मिकनगर को व्यक्त करते हैं[4]।

१२वीं शताब्दी ईसवीय के आसपास यह नगर एक बार पुन: राजनैतिक केन्द्र बना था। कुछ लोकश्रुतियाँ बुन्देलखण्ड के गहरवारों की उत्पत्ति विन्ध्यवासिनी से सम्बद्ध करतीं है। बुन्देलों की उत्पत्ति विन्ध्याचल में विन्ध्यवासिनी की आराधना करने के कारण हुई अथवा नहीं यह एक पृथक् वस्तु है किन्तु विन्ध्यवासिनी बुन्देलों की कुलदेवी है, यह तथ्य है[5]। कन्तित एवं विजयपुर रियासत पर १२वीं शती से गहरवार क्षत्रियों का शासन था। कन्तित विन्ध्याचल के प्रथम गहरवार राजा का नाम गूडनदेव प्राप्त होता हैं[6]। गूडनदेव का काल सम्भवत: १२वीं शती था[7]। कन्तित एवं विजयपुर के गहरवारों ने विन्ध्याचल के

---

१. देखें-- हर्पचरित एवं कादम्बरी (विन्ध्याटवी वर्णन)

२. विशेप देखें राजेन्द्र चन्द्र हज्रा 'The studies in Upapuranas' देवी पुराण का प्रकरण।

३. वही। तथा मत्स्य पुराण पितृतीर्थ प्रकरण में विन्ध्याचल को श्राद्ध के लिए कुरुक्षेत्र से दशगुणित उत्तम मानता है। इसके अतिरिक्त वामन पुराण पृ० १७-२१, ५१-५६, वराह २१-२८ एवं ९०-९६, कूर्म १/११-१२, हरिवंश २/२-४, भविष्यपु० ५/१३८ (क्षेमराजसंस्करण)

४. गउड वहो गाथा सं० ३००
पाढण व उवहाराअरेसु सइ धूवधूमवडला इं
उव्वमसि बहुल रअणी भावेसु गिरंतरं तिमिरं।।
वीर विइण्ण विकोसासि धेणु करवाल कन्तिकज्जालिअम्।।
दिअसम्मि वि देवि असंकको सिअं गम्भ भवणं ते।।
सइसिद्धसिद्धिमंडल पईव परिकम्पिणो पओसेसु।
तुन्झांसव गंध्र सुहा सहअंति समीरणुगारा।। वही ३१५
विसंसिज्जंतमहापसु दंसण जण लंछणेहिं चलणेहि।
गअणंच्चिअ गंध डडिं गुणंति तुव कडल णारीओ।। वही ३१९

५ विवरण देखें "बुन्देलखण्ड का प्राची इतिहास, भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी वाराणसी। तथा बुन्देलखण्ड का इतिहास, गोरेलाल तिवारी।

६. Mirzapur a Gazetteer १९११ पृ० ३३४ एवं मीरजापुरनगर पालिका के १०५वर्ष, पृ० १४

७. मी०न०पा०कं० १०५ वर्ष पृ० १५

आस पास के क्षेत्र को अपनी राजधानी के रूप में विकसित किया था। गहरवारों के पूर्व खरवारों द्वारा शासन किये जाने का भी उल्लेख किया जाता है[१]।

लोदीवंश के शासनकाल में यह क्षेत्र खैरागढ़ राज्य में मिला लिया गया था[२]। पुनः पन्ना के गहरवारों ने इस पर आक्रमण करके गहरवारों का शासन स्थापित किया[३]। १६वीं शती में शकतसिंह यहाँ का राजा था जो अकबर का समकालीन माना जाता है[४]। इसने अकबर की अधीनता स्वीकार की थी एवं सक्तेसगढ़ को कौलों से छीनकर अकबर को दिया था। १७५५ तक कन्तित में गहरवार शासक राज्य करते रहे। यद्यपि इनका राज्य बहुत विस्तृत नहीं था तथापि स्वतन्त्र था। १७५५ ई० में काशी के राजा बलवन्त सिंह ने कन्तित नरेश "विक्रमाजीत" को पदच्युत करके उसकी जमीदारी छीन ली। १७५८ ई० से १८३० ई० तक कन्तित परगना एक स्वतन्त्र ताल्लुके के रूप में बना रहा। कन्तित के शासकों द्वारा स्थापित कजरी का त्योहार मध्य प्रदेश में श्रावण पूर्णिमा को एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में भद्रपद कृष्ण तृतीया को मनाया जाता हैं यह उनके प्रभाव का द्योतक है[५]। १८५० ई० के आस पास **फैनी पार्केस्** नामक यूरोपीय पादरी यात्री विन्ध्याचल नगर में आया था। उसने इस नगर की पूर्व समृद्धि का तथा विन्ध्यवासिनी मन्दिर के आस पास की स्थितियों का वर्णन अपने यात्रा विवरण में लिखा है[६]।

अठारहवीं सदी के विन्ध्याचल-कन्तित के शासकों की राजनैतिक स्थिति कमजोर थी। औरंगजेब ने विन्ध्याचल के धार्मिक केन्द्र के स्वरूप को नष्टकर दिया था। कन्तित के राजा इस ध्वस्त भवनों वाले नगर का व्यवस्थित पुनर्वास नहीं कर सके। बीसवीं सदी के अन्त तक इस नगर में अनेक ध्वस्त भवनों के अवशेष बिखरे पड़े थे जो औरंगजेब द्वारा नष्ट किए हुए बताए जाते हैं। उनमें से अनेक आधुनिक बस्ती के विस्तार में विलीन हो गए[७]।

---

१. Mirazapur A Gazetteer1911 P.P. 334
२. वही
३. काशी का इतिहास मोती चन्द्र वाराणसी १९८५, पृ० २४४ एवं Mirzapur A Gazetteer 1911, P. 334
४. Emperial Gazetteer of India Vol. XVII 1908, P.P. 377 and Mirzapur A Gazetteer 1911 P. 334.
५. काशी का इतिहास मोतीचन्द्र पृ० ३७७
६. Wanderings of a Pilgrim. Fanny Parkes, London 1850, Vol. II P.P. 448-454.
७. Tradition says that this city ones possessed 150 Temples all of which were destroyedby Aurangzeb. Mirzapur A Gazetteer 1911, 'Bindhachal'.

अठारहवीं सदी में मीरजापुरनगर एकप्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। नागपुर पूना हैदराबाद आदि के व्यापारी मीरजापुर में व्यापार के लिए आते थे। १७८० के दशक में इनकी संख्या बढ़ी थी। १७६०-७० में जर्मन यात्री ने मीरजापुर नगर को गंगाघाटी की आढत बताया है[१]। किन्तु विन्ध्याचल नगर से गहरवारों के पतन के पश्चात् इस नगर की उपेक्षा ही रही[२]।

१७५० के आस पास के विन्ध्याचल के आधुनिक पण्डों का वर्ग विन्ध्याचल में बसने लगा था उस समय विन्ध्याचल नगर ठगों द्वारा आक्रान्त था[३]। सम्पूर्ण १९वीं सदी में इस नगर के विकास पर किसी शासक ने ध्यान नहीं दिया। १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में मीरजापुर एवं भदोही के लोगों ने सक्रिय भाग लिया था। विक्टोरिया के घोषणा पत्र के अनुपालन में भी विन्ध्याचल के धार्मिक स्थल होने के कारण अंग्रेजों द्वारा भी उपेक्षित ही रहा[४]।

यद्यपि १८९६-९७ तक बनारस के राजा विन्ध्याचल एवं मीरजापुर का ध्यान रखते थे[६]। बनारस राज्य की ओर से विन्ध्याचल में एक वाटिका एवं कई भवन बनाए गए थे, एवं देवी के पूजन की व्यवस्था भी की जाती थी। आस पास के रियासत के राजाओं ने भी यात्रियों एवं रजवाड़ों की सुविधा के लिए उद्यानों का निर्माण कराया था। इनमें अमेठी, नड़हर आदि रियासतों के ध्वस्त उद्यान एवं विश्राम गृह आज भी हैं।

इस नगर का आधुनिक पुनर्निर्माण १९वीं सदी के अन्त में आरम्भ हुआ[५]। तब तक यहाँ पण्डों का प्रथम वर्ग स्थाई रूप से रहने लगा था। अंग्रेजों ने विन्ध्याचल नगर को मात्र ५३६ बीघे में विस्तृत माना था। इसी काल में यहाँ पुलिस चौकी, अस्पताल एवं एक प्रारम्भिक पाठशाला स्थापित हुए।[७]

---

१. Benaras in Tradition (1738-1795) A socio Economic study, Kamala Prasad Mishra, New Delhi 1975, P. 100.
२. Emperial Gazetteer of India Vol. XVII 1909 P. 377
३. विन्ध्याचल के पण्डों के पास से २२५ वर्प पुराने यात्री दस्तावेज मिल पाए हैं। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है।
४. Mirzapur A Gazetteer 1911, 'Vindhyeswari' and Emperial Gazetteer of India xvii P. 377
५. Mirzapur A Gazetteer १९११ में पृ० २४० के आगे देखा जा सकता है।
६. जून १८९७ में मीरजापुर भीपण अकाल की चपेट में था इसमें ४८०००० रुपए खर्च किए थे। देखें-Mirzapur A Gazetteer १९११ में अकाल का प्रकरण।
७. यह विवरण विन्ध्याचल (शरीफपुर) का विवरण मीरजापुर तहसीली दस्तावेजों के आधार पर दिया गया है।

१९२३-२४ में विन्ध्याचल का क्षेत्र मीरजापुर नगर पालिका में पृथक् सदस्यता क्षेत्र बना। इसके पूर्व १८६७ से १९२३तक यह क्षेत्र मीरजापुर के चेतगंज निर्वाचन क्षेत्र में सम्मिलित था[१]। १९२५ में विन्ध्याचल से पण्डा विश्वनाथ प्रसाद पाण्डेय प्रथम सदस्य चुने गए। उन्होंने सदस्य चुने जाने के पूर्व से ही विन्ध्याचल में अनेक धार्मिक सामाजिक रचनात्मक कार्य करना आरम्भ कर दिया था अतः लोकप्रिय थे। १९१७ में अखिल भारतीय संस्कार समिति की स्थापना विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर की। इसमें यात्रियों के यज्ञोपवीत संस्कार कराए जाते हैं। इसी प्रकार विन्ध्येश्वरी पुस्तकालय की स्थापना की इसमें उसकाल में लन्दन में छपी प्राच्यविद्या के मूल पुस्तकों का भी संग्रह है। यह पुस्तकालय अब भी उत्तम पुस्तकों का भण्डार है[२]। २२ जून १९२६ को श्री विश्वनाथ प्रसाद पाण्डेय हत्या के पश्चात् से १९४४ तक पण्डा ज्वालाप्रसाद पाण्डेय सदस्य चुने जाते रहे। १९२८ से ४० नगरपालिका की समितियों के अध्यक्ष एवं न०पा० के उपाध्यक्ष रहे[३]। पं० ज्वालाप्रसाद पाण्डेय ने विन्ध्याचल शक्ति पीठ के विकास के लिए आवश्यक धन जुटाने के संबन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। भारतीय रेल ने विन्ध्याचल, प्रयाग हरिद्वार एवं इन चार तीर्थस्थलों पर यात्री कर लेना आरम्भ किया था। श्री पाण्डेय ने विन्ध्याचल से प्राप्त यात्रीकर को विन्ध्याचल के विकास पर खर्च करने के लिए नगर पालिका को दिए जाने के लिए संघर्ष किया लंदन के न्यायालय ने उनके पक्ष में फैसला दिया। तब से आज तक रेल विभाग यात्री कर से प्राप्त आय नगरपालिका मीरजापुर को देता है। जिससे लाखों रुपए की आय होती है।

अतः विन्ध्याचल नगर के विकास पर नगरपालिका का ध्यान आकर्षित हुआ एवं विन्ध्याचल की सड़कों का निर्माण हुआ एवं उनका पृथक् नामकरण सर्वप्रथम ७.फरवरी २८ को घोषित किया गया[४]। १९३२ में विन्ध्याचल नगर के लिए एक पेयजल योजना बनीं। उसका कार्यान्वयन १९५३ में हुआ तथा विन्ध्यवासिनी मन्दिर के पास २५००० गैलन क्षमता की पानी की टंकी बनाई गई थी।[५] उन्नसवीं सदी के उत्तरार्ध में विन्ध्याचल में

१. "मीनपा.के १०५......" पृ० ९७
२. विश्वनाथ प्रसाद पाण्डेय के व्यक्तिगत दस्तावेजों एवं पुस्तकालय को देखकर यह विवरण दिया गया है।
३. मी०न०पा०......पृ० ९७ एवं आगे।
४. १७.२.२८ को जारी नगर पालिका की अधिसूचना के अनुसार २५ गलियों/सड़कों का नामाकंन हुआ।
५. मी०न०पा०.......पृ० ३३।

रेलवे स्टेशन बना था। यात्रियों के अनेकों भूतल परिवहन एवं गंगापार करके आने वालों के लिए नावों की व्यवस्था पहले से ही थी।

नगर पालिका ने १९३० के से विन्ध्याचल के तीर्थ यात्रियों की सुविधा के लिए मार्गों पर प्रकाश की व्यवस्था, स्वास्थ्य सुविधाओं, जल, सड़क आदि की व्यवस्था करनी आरम्भ कर दी। प्रत्येक नवरात्र में जिला प्रशासन एवं नगर पालिका पृथक् व्यय करके नगर की व्यवस्था करते हैं। आधुनिक विन्ध्याचल की बस्ती उसके कुल क्षेत्र के ५१.७ प्रतिशत क्षेत्र में बसी है। ४८.३ प्रतिशत क्षेत्र में रेलवे कालोनी, डाकघर, पुलिस चौकी, अस्पताल एवं अन्यसरकारी आवास बने हैं। नगर के २.६ प्रतिशत क्षेत्र में उसकी व्यापारिक गतिविधियाँ होती है। जो तंग गलियों के रूप में है। पण्डों का प्रभाव इस क्षेत्र में पिछले २५० से भी अधिक वर्षो से है एवं वे मात्र मन्दिर से सम्बद्ध जीविकोपार्जन एवं नियमविहीनता के कारण असंगठित थे तथापि सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में सहयोगी होते थे। ज्वालाप्रसाद पाण्डेय के बाद विन्ध्याचल मिश्र, व्यास नारायण द्विवेदी शिवदत्तद्विवेदी आदि योग्य व्यक्तियों ने प्रतिनिधित्व किया।

१९५३ ई० में राष्ट्रीय-स्वयसेवक-संघ के सहयोग से श्री लालचन्द्र पाण्डेय ने पण्डों का पञ्जीकृत संगठन स्थापित किया। किन्तु यह संस्था दण्डाधिकार एवं कोश के अभाव में अधिक सफल नहीं हो सकी। १९८२ में प्रशान्त कुमार मिश्र (आई०ए०एस० जिलाधीश, मीरजापुर ने) एवं अन्य प्रशासनिक अधिकारियों ने विन्ध्याचल में रूचि लिया। तब पुन: श्री लालचन्द्र पाण्डेय ने "विन्ध्यविकास परिषद्' का प्रारूप प्रस्तुत किया। इस संस्था के माध्यम से प्रशासनिक अधिकारियों में विन्ध्याचल की व्यवस्था करने के लिए नैतिक एवं विधिक बाध्यता सी आ गई। 'विकास परिषद्' के नियमानुसार विन्ध्याचल के धार्मिक सामाजिक कार्यों में व्यय हेतु पृथक् कोश का निर्माण करने एवं उसे नगर के विकास के लिए खर्च करने का अधिकार जिलाधीश को प्राप्त है। नगर मजिस्ट्रेट उन कार्यों की देख-रेख करने के लिए अधिकृत हैं[१]।

"विन्ध्यविकास परिषद्" के निर्माण के पश्चात् विन्ध्याचल नगर के विकास के लिए प्रशासन अधिक रुचि लेता दिखाई देता है। १८ मार्च १९८८ से 'विन्ध्याचल विशेष क्षेत्र विकास प्राधिकरण' निर्मित हुआ इसे यू० पी० सरकार ने ५ लाख की बीज राशि देकर

---

१. विन्ध्यविकासरिषद् की नियमावली देखे यह विन्ध्याचल में परिषद् कार्यालय में उपलब्ध है तथा विन्ध्यदर्शन, विन्ध्याचल १९९०, पृ० ८२-८४ में हीरामणिमिश्र (पी०सी०एस०) का लेख।

आरम्भ किया है। यह प्राधिकरण नगर के सुन्दरीकरण यात्रियों के लिए सुख सुविधा का निर्माण, पार्क, पहाड़ों पर स्थाई-विद्युत् व्यवस्था आदि का कार्य करने के लिए प्रतिबद्ध है। अधिकांश कार्य पूर्ण भी हो चुके हैं। वर्तमान सरकार इस धार्मिक क्षेत्र को पर्यटन स्थल का स्वरूप प्रदान करने का प्रयास कर रही है। किन्तु औद्योगिक विकास दृष्टि से यह क्षेत्रपूर्णतः वंचित है। स्थानीय नागरिकों एवं यात्रियों के उपयोग की वस्तुएँ भी विन्ध्याचल के बाहर ही निर्मित होतीं हैं। इस क्षेत्र में औद्योगिक विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं। लघु उद्योगों को इस क्षेत्र में प्रोत्साहन देने से पर्यावरण की रक्षा के साथ-साथ विकास एवं विस्तार कार्य में गति लाई जा सकती है।

अध्याय २

महाशक्तिपीठ के रूप में विन्ध्याचल की सत्ता एवं विन्ध्यवासिनी की पूजापरम्परा

विन्ध्यवासिनी देवी उपलब्ध पौराणिक साक्ष्यों में जिस रूप में प्रतिपादित हैं। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह देवी प्राचीनतम एवं सतत पूजित मातृशक्ति हैं। एक क्षेत्र विशेष-विन्ध्य से इस महनीया देवी कां नामकरण है तथापि दुर्गा, कात्यायनी अथवा महिषमर्दिनी, कौशिकी, एकानंशा, विमला आदि रूपों में इस देवी की सम्पूर्ण भारत में प्रतिष्ठा है।

इस विद्या या मातृशक्ति के साक्ष्यों का अध्याय आरम्भ करने से पूर्व ध्यातव्य है कि भारतीय इतिहास के अध्ययन की जो पद्धति १९वीं शती में विकसित हुई थी उसमें सर्वाधिक चिन्तनीय प्रकरण प्राचीन भारत के साहित्यिक साक्ष्यों के कालनिर्धारण का है। भारत की प्राचीन संस्कृति के सभी पक्षों के प्राथमिक ज्ञान के साधन वेद एवं पुराणों का विशाल साहित्य है। इस साहित्य में प्रथम वेद श्रुति कहे जाते हैं, क्योंकि वे सहस्त्रों वर्षों तक सुनकर यथावत् याद किए जाते रहे। उनकी आनुपूर्वी मे एक मात्रा का भी परिवर्तन प्राचीन भारतीय समाज को सह्य नहीं था। इसके पाठ को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रकार की विधियों का आविष्कार भी हुआ था जैसे- अष्टाविकृति। द्वितीय पुराण स्मृति कहे जाते हैं। इनके विषयों को स्मरण रखना ही पर्याप्त था। इसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि उन्हें उन्हीं शब्दों में भी याद रखा जाए जिन शब्दों में प्रथम वक्ता ने कहा था। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक साहित्य में रचना सम्बन्धी अत्यधिक विविधता दिखाई देती है। स्मृति में प्राप्त प्राचीन विषय एवं परम्पराओं को कथाकारों ने अपनी भाषाओं एवं शैलियों में सुरक्षित रखा था। उन्हें क्रमवार कब लिखा गया इस विषय में किसी भी पुराण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फलतः अध्येतागण इतिहास के अध्ययन की वर्तमान पद्धति से प्रभावित होकर पौराणिक रचनाओं को कुछ शताब्दियों के बीच रचित होने की कल्पना करके उसी काल को अपने अध्ययन का आधार बना लेते हैं।

पुराणों के काल निर्धारण में वैमत्य होने के कई कारण भी दिए जाते हैं। किन्तु वेद जिनके एक अक्षर का भी पाठभेद नहीं मिलता उनके काल निर्धारण के संबन्ध में पर्याप्त बौद्धिक व्यायाम करने के बाद भी उनके प्राचीनतम सीमा का इदंतया ज्ञान नहीं किया जा सका है। वैदिक रचनाओं की समय सीमा सर्वाधिक कम आँकने वाले विद्वान् माक्सम्यूलर भी स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद को १२०० ई०पू० के बाद का नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसकी प्राचीनता पीछे कहाँ तक जा सकती है इसकी कोई भी सीमा नहीं है।

वेदों के काल गणना में सर्वाधिक बाधक सिन्धु सभ्यता का परिज्ञान होना बन गया। इस नागर सभ्यता का ज्ञान होने के पश्चात् कुछ ऐतिहासिक कल्पनाओं के आधार पर यह मान्यता पाश्चात्यों एवं उनके अनुसरण कर्ताओं ने स्थिर किया कि वैदिक जन (आर्य) सिन्धु सभ्यता के नगरों के ध्वंसक हैं। आर्यों का कथित भारत आव्रजन सिन्धु नगरों के निवासियों को पराजित करने के पश्चात् हुआ ऐसा प्रचारित किया गया। सिन्धु सभ्यता क्योंकि १५०० ई०पू० में वर्तमान थी। अत: भारत में आर्यों का कथित आगमन इसके पश्चात् हुआ होगा एवं ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य की रचना हुई होगी। इस पाश्चात्य मान्यता के प्रचार के साथ ही इसका विरोध भी होता रहा। इस का भी आधार वही ऋग्वेद का रचनाकाल एवं कथित आर्य आव्रजन का परीक्षण था। १९८८ में प्रकाशित डॉ० भगवान सिंह के शोध प्रबन्ध 'हडप्पा सभ्यता एवं वैदिक साहित्य' के विवेचन से उक्त पाश्चात्य मान्यता को प्रबल आघात लगा है। इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य ही यही है कि वैदिक जन ही हडप्पा सभ्यता के निर्माता थे। इस ग्रन्थकार ने भी एक बार पुन: ऋग्वेद का रचना काल परीक्षित करके तिलक की मान्यता के अनुरूप अर्थात् ४५०० ई०पू० बताया है। वह भी दावे के साथ नहीं अपितु मात्र सम्भावनाओं तक।

अब तक इतिहास के मूल ढाँचे के काल-ज्ञान सम्बन्धी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु को विवाद के घेरे से नहीं निकाला जा सका है। यदि प्राचीन काल के इतिहास का अधिकांश पक्ष अटकलों एवं कल्पित अवरकाल की सीमाओं के आधार पर इतिहास लेखन की विधि अपनाने की विवशता हो तब भारत की इस प्राचीन देवी की मूल-उत्पत्ति के सम्बन्ध में कालक्रम की अध्येता कल्पनाओं का परम्परागत प्रयत्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होगा। क्योंकि भारतीय इतिहास के कथित आर्य एवं अनार्य की दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों की ऐतिहासिक कल्पना के भ्रमजाल से आज भी मुक्त नहीं होना चाहते। अत: विन्ध्यवासिनी विद्या पर उपलब्ध सामग्री को हम यथाक्रम रखने की चेष्टा करते हुए भी कालक्रम की दृष्टि से उसकी क्रमिकता का कोई दावा नहीं कर रहे हैं।

वर्तमान शताब्दी में भारतीय शाक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं।[१] उन सभी ने एवं अन्य देशी विदेशी विद्वानों ने इस बात पर आम सहमति जताई है कि देवी पूजा का मूल अनार्य संस्कृति में था।[२] शाक्त सम्प्रदाय अनार्यों की देन है ऐसा मानने का आधार देवी पूजा के द्रव्य एवं वामाचार की इतिकर्तव्यता माना जाता है जिसमें मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा आदि का प्रयोग सम्मिलित है। अवश्य ही ये वस्तुएँ तान्त्रिक आचार में जिस रूप में प्रयुक्त होती हैं वह सभ्य समाज में गर्हित मानी जानी चाहिए। इसी कारण सम्भवतः तन्त्रों में भी इस प्रकार के आचारों यहाँ तक कि हस्तमुद्राओं के भी सार्वजनिक प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया गया है।

ऐसा माना जाता है कि प्राचीन भारत की पूजा विधि का सुव्यवस्थित रूप तन्त्रों में है। इस साहित्य में प्राचीन भारत के लोकाचार को शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया गया है! एवं इन लोकाचारों के प्रयोक्ताओं के गुणधर्म भी बताए गए हैं। उपलब्ध तान्त्रिक साहित्य में भारत के शाक्त सम्प्रदाय का सर्वाधिक विकसित एवं वैविध्यपूर्ण स्वरूप दिखाई देता है। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि इन साहित्यों का पृथक् साहित्य के रूप में व्यवस्थापन गुप्तोत्तरकाल से प्रारम्भ हुआ था।

यद्यपि यह सत्य हो सकता है कि अनेक अथवा अधिकांश तान्त्रिक साहित्य का समाम्नाय गुप्तोत्तर काल में हुआ हो। किन्तु यह मानना कठिन ही नहीं असम्भव भी है कि तान्त्रिक आचार ने व्यवस्थित रूप भी गुप्त काल को बाद की शताद्वियों में लिया होगा। विन्टरनित्स यह समझाने की चेष्टा करते है कि कोई भी तन्त्र एक पृथक् शास्त्र के रूप में सातवीं शती के पूर्व का नहीं सिद्ध किया जा सकता। उनका कथन है कि अमरकोश के रचयिता को तन्त्रशास्त्र का ज्ञान नहीं था। पांचरात्रों की सूत संहिता (मुक्तिखण्ड) में वेदमार्ग से बहिष्कृत लोगों के लिए पाञ्चरात्र सम्मत विधियों को मुक्ति के मार्ग के रूप में दर्शाया गया है। विन्टरनित्स का विचार है कि इस कथन से यह संकेत मिलता है कि 'तन्त्र शास्त्र' का जन्म वेदों के अविर्भाव के बहुत बाद में तब हुआ होगा जब वैदिक सम्प्रदाय परिक्षीण हो चुका होगा।[३]

किन्तु प्राचीन भारत के साक्ष्य इस प्रकार की मान्यता के विपरीत संकेत देते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तन्त्र एक शास्त्र के रूप में मौर्यों के पूर्व

---

१. यह लेख Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, के Dimond jubilee Vol. में प्रकाशित है।
२. Principles of Tantras, P.41
3. History of Indian Litarature, (HIL) II, P. 635

के भारत में वर्तमान था। शास्त्र से यहाँ हमारा तात्पर्य एक सुव्यवस्थित विद्या से है, जिसके आधार पर लोक या सामान्य जन अपने इष्ट देवों की पूजा करते थे।

तन्त्र शास्त्र को एक रहस्यात्मक विद्या के रूप में स्वीकार किया जाता है। यदि इसी रूप में माना जाए तब भी ऋग्वेद में ही ऐसे प्रमाण है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि मायावी या रहस्यात्मक पूजा प्रक्रिया उस काल में भी व्यवस्थित रूप में लोक में प्रचलित थी। *ऋग्वेद* (१०.५९) में वर्णन है कि राजा असमाति के पुरोहित सुबन्धु को निरृति नामिका एक कृत्या ने मार डाला। इस सूक्त के प्रथम ४ मन्त्रों में उस कृत्या को भगाने की प्रार्थना की गई है। पुरोहित सुबन्धु को कृत्या ने कैसे मारा इसका पूर्ण वृत्तान्त *आश्वलायन श्रौतसूत्र* (२.५) में बताया गया है। तदनुसार असमाति के दो मायावी पुरोहितों ने कृत्या प्रयोग करके सुबन्धु के प्राण लिए थे। क्योंकि राजा ने अपने पूर्व पुरोहित सुबन्धु के स्थान पर उन मायावी पुरोहितों का वरण किया था सुबन्धु ने इसका विरोध किया। तब उन मयावी पुरोहितों ने सुबन्धु के लिए 'कृत्या' प्रयोग किया था। *ऋग्वेद* ७/२१/५, एवं १०/९९/३ में भी कुछ मायावियों की चर्चा की गई है जो *अदेव* एवं *अनृत* देव थे। वैदिक जन इन्हें सम्भवतः वेद प्रतिपाद्य इन्द्र आदि देवों के अतिरिक्त देवताओं के पूजक होने के कारण देवविहीन मानते थे। अथवा उनके देवताओं की पूजा सम्भवतः वैदिक जनों के विचार से सत्य के मार्ग को प्रथित करने वाली नहीं थी। *ऋग्वेद* ७/१०४ एवं १०/३७ ए के मन्त्रों से स्पष्ट है कि तत्कालिक जनसमुदाय माया या रहस्यवादी पूजा प्रयोगों से भयभीत रहता था। *वाक्सूक्त* (१०/१२५) एवं *रात्रिसूक्त* (१०/१२७) के मन्त्रों को विद्वानों ने तन्त्रों के शक्तिवाद का वैदिक रूप माना है। शक्ति शब्द भी *ऋग्वेद* के अनेकों मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। *ऋग्वेद खिल* ५/२२/९ में उल्लिखित *महानग्नी* एवं *महानग्न* के युग्म को एक सर्जिकाशक्ति का दो पक्ष या रूप माना गया है। कुछ विद्वान् इस महानग्नी को *पृथिवी* का रूप मानते है। यद्यपि इस वैदिक मिथुन की तुलना *अर्धनारीश्वर* से भी की जा सकती है जो तान्त्रिक शैवदर्शन में परमतत्त्व की आदि सिसृक्षा को द्योतित करता है।[१]

अथर्व वेद में शान्तिपुष्टि अभिचार आदि कर्मों का विशद एवं बहुशः वर्णन है। इस विषय पर प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के निर्देशन में डॉ० मायामालवीय ने एक शोध प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया था।[२] इन कर्मो को अथर्व वेद की विशेषता माना गया है। (अथर्व वेदस्तु यज्ञानुपयुक्त शान्ति- पौष्टिकाभिचारादि- कर्मप्रतिपादकत्वेन अत्यन्तविलक्षण एव - प्रस्थान भेद)

---

१. इस युग्म के सम्बन्ध में विशेष विवरण एस०ए०डाँगे के लेख *'Sex in stone and the vedic Mithuna'* को देखना चाहिए।

२. यह शोध प्रबन्ध 'अथर्ववेदे शान्ति पुष्टि कर्माणि तेषां वेदान्तरैस्तुलनं च' नाम से वाराणसी से १९६७ में प्रकाशित है।

केन, श्वेताश्वतर एवं महानारायण उपनिषदों में शाक्त सम्प्रदाय के वैदिकबीज हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद के **'परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते'** वाक्य में आदि शक्ति की अवधारणा स्पष्ट हैं। केनोपनिषद की उमा हैमवती एवं महानारायणोपनिषद की कुमारी दुर्गा तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित रुद्र की हिंसिका शक्ति अम्बिका, ईशोपनिषद् की लोहित-शुक्ल-कृष्णा अजा शतपथ की असुरघ्नी वाक् आदि के उल्लेख वैदिक जनों में शाक्तसिद्धान्त के प्रभावकारी परिचय को प्रमाणित करते हैं।

आर्थर एवोलन ने यह विचार व्यक्त किया है कि तान्त्रिक आचार वेदों के समानान्तर आर्येतर जातियों में प्रतिष्ठित थे। साहित्य रचना के परवर्ती होने के ऐतिहासिक कारण भी हो सकते हैं। वर्तमान तान्त्रिक परम्परा यह प्रकट करती है कि जिसप्रकार वेदों के अध्ययन अध्यापन की श्रुति परम्परा थी उसी प्रकार तान्त्रिक परम्परा भी श्रुतिरूप में अत्यन्त प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। वैदिक मीमांसा में देवता मन्त्रात्मक माने गए हैं। अतः देवताओं को मन्त्रध्वनिरूप में चेतन रखने के लिए मन्त्रों को श्रुति रूप में अधिकारियों द्वारा सुरक्षित रखा गया था। तन्त्रों को श्रुतिरूप में सुरक्षित रखने के अन्य कारण भी थे। तान्त्रिक आचार के मन्त्र एवं विधियाँ अत्यन्त रहस्यात्मक एवं तत्काल प्रभावी होती हैं। अतः उनके उचित अभ्यास या पुरश्चरण की अपेक्षा होती है। इस प्रकार की साधनाएँ यज्ञों की ही भाँति कर्म वैकल्य को सहन नहीं करती हैं। इसलिए आवश्यक था कि तान्त्रिक शिक्षा देने वाला गुरु अपने शिष्य की योग्यता का अध्ययन करता एवं उसे अपने नियन्त्रण एवं निर्देशन में साधना कराता। यह प्रक्रिया सम्पूर्ण प्राचीन विश्व की प्राचीन जनजातियों में प्रचलित रहस्यात्मक देव साधना के सम्बन्ध में समान थी। रहस्य ज्ञान को बिना गुरू से श्रवण किए नहीं समझा जा सकता इस तथ्य को **कठोपनिषद** के इस वाक्य में भी समझाया गया है।

नैषा तर्केण मतिरापनीया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥ (कठ० २/९)

देवताओं के विविध रूपों की साधना करने वाले अनेक प्रकार की साधना क्रियाओं को अपनाते थे। उसे अपनी परम्परा के रूप में सुरक्षित रखते थे। इन्हीं परम्पराओं का वर्गीकरण आम्नाय के रूप में तान्त्रिक साहित्य में किया गया है।

आर्यों की स्मार्त परम्परा तन्त्रों के श्रुतित्व को स्वीकार करती है। मनुस्मृति (२/१) की टीका में कुल्लूक भट्ट ने हारीत का श्लोक उद्धृत किया है। हारीत के इस उद्धरण के अनुसार श्रुति दो प्रकार की होती है। १. वैदिकी, २. तान्त्रिकी,

श्रुतिश्च द्विविधा प्रोक्ता वैदिकी तान्त्रिकी तथा।

ऋग्वेद (१/१६४) के टीकाकारों ने वैदिक मन्त्रों के भाष्य में वाक् की परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी की वैदिक अवधारणा को व्यक्त किया गया है जिसका सीधा सम्बन्ध शैवदर्शन के साथ स्थापित किया जा सकता है। शंकराचार्य के **प्रपञ्च सार** एवं लक्ष्मण देशिकेन्द्र के **शारदातिलक** के आरम्भिक अध्यायों में शाक्तदर्शन के अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया के वर्णन के प्रसंग में अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया के वर्णन के प्रसंग में उक्त वैदिक अवधारणा का पूरा उपयोग हुआ है। यामुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ **'आगमप्रामाण्य'** में तन्त्रों या आगमों की वेदमूलकता की भारतीय परम्परा के अनुसार प्रतिपादित किया है।

यद्यपि फाह्यान (४०१-४१० ई०) ह्वेनसाँग (६३०-६४३ ई०) इसिंग (६७५ ई०) आदि यात्रियों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की है। किन्तु किसी भी विदेशी यात्री से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह भारत के सभी सांस्कृतिक पक्षों का विवरण दे। महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री कुछ तान्त्रिक हस्तलेखों को गुप्तकाल का बताते हैं।[१] इनमें **'कुब्जिकामतम्'** को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। यह ग्रन्थ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता (हस्तलेख सं० ५८०४, ६८२०) में सुरक्षित है। कुछ प्रतियाँ नेपाल दरबार संग्रहालय (ह०सं० १/२८५; २/२७१, ३७८) में सुरक्षित है। इनमें मातृका संख्या २/३७८ का लिपिकाल ११९५ ई० है। सौन्दर्य लहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर **कुब्जिकामतम्** को वामाचार का प्रतिपादक ग्रन्थ बताते हैं- **'कुब्जिका मतं घुटिका सिद्धि हेतुः। सोऽपि वामाचार प्रधान एव।' (सौन्दर्यलहरी श्लोक ३१ पर लक्ष्मीधर भी टीका)।**

कम्बोडिया के Sdok-kak-Thom के अभिलेख में ऐसा विवरण है कि **शिरश्छेद, विनाशिख एवं सम्मोह** तन्त्रों से कम्बोज वासियों को एक ब्राह्मण ने परिचित कराया था। इस अभिलेख की तिथि ८०० ई० है। सातवीं शती में आचार्य शंकर द्वारा रचित सौन्दर्य लहरी में दक्षिणाचार की तान्त्रिक विधि का रहस्यमय शब्दों में व्याख्या की गई है। इस स्तोत्र में षट्चक्रों एवं श्रीयन्त्र का अत्यन्त सूक्ष्म एवं दार्शनिक वर्णन है। लक्ष्मीधर ने ३१वें श्लोक की व्याख्या में कहा है कि **वातुल, वातुलोत्तर** एवं **कामिक** तन्त्रों में प्रतिपादित कुछ भाग वैदिक हैं- **'स चैकदेशो वैदिकमार्ग एव।'** (सौ०ल०, पृ० ७६ मैसूर संस्करण, १९६९) इन्होंने यह भी कहा है कि **'समयमत'** वैदिक ऋषियों ने ही प्रस्तुत किया है। इसके प्रतिपादक ५ वैदिक ऋषियों का नामोल्लेख किया गया है। वे ऋषि ये हैं - १. वसिष्ठ २. सनक, ३. शुक, ४. सनन्दन, ५. सनत्कुमार। इन ऋषियों ने किसी

---

१. देखें- नेपाल कैटलॉग - ह०प्र० शास्त्री, भाग १, पृ० १०, ८५, ११७।

तान्त्रिक संहिता का निर्माण भी किया था जिसे **शुभागम पञ्चक** कहा जाता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि **'शुभागमपञ्चक'** वेदों के गुह्य अर्थों को प्रकाशित करने वाले भाष्य थे जो सायण से बहुत पूर्व प्रणीत हुए थे। सायण ने अपने भाष्य में स्थान स्थान पर उनका नाम निर्देश भी किया है एवं उद्धरण भी दिया है। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि पं० अनन्त कृष्ण शास्त्री ने तैत्तिरीय आरण्यक पर वसिष्ठ कृत भाष्य देखा था[१]

प्रो०जी० टुच्ची कापालिक शैव्र के सोम सिद्धान्त के आधार पर तन्त्रों को हरिवर्मन् एवं असंग (४ थी शती ई०) के काल में प्रचारित मानते हैं[२]। मैत्र्युपनिषद में कापालिकों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त मालती माधव, प्रबोधचन्द्रोदय, कर्पूरमञ्जरी, चण्डकौशिक, मत्तविलास आदि साहित्यिक ग्रन्थों में कापालिकों एवं वामाचारी तान्त्रिक पूजा विधियों का यत्किञ्चित् उल्लेख उसके प्राचीन कालिक प्रचार को प्रमाणित करता है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५७/५६; लेखनतिथि ई० ४७५-५५०) एवं विश्ववर्मन् के गान्धार प्रस्तराभिलेख (४२४ ई०) में मातृकाओं का उल्लेख है। अनेक प्राचीन महापुराणों उपपुराणों में तान्त्रिक देवसाधना की विधियों एवं मन्त्रों का संग्रह है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महाभारत के भीष्म एवं विराटपर्वों की दुर्गा स्तुतियाँ एवं शान्ति पर्व (अ० ७) में अश्वत्थामा द्वारा शिव की वामाचारी विधि से पूजा का वर्णन है। वनपर्व के (अ० ९०) स्कन्दोपाख्यान में मातृकाओं का दुर्गा, काली, महाकाली का उल्लेख है। इसी पर्व के अध्याय ३३ में द्रौपदी, श्रीः, लक्ष्मी, सरस्वती को अर्जुन की रक्षिका होने की प्रार्थना करतीं है- **इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनञ्जय।** हरिवंश (२, ३, ४, १२० अ०) एवं विष्णु पुराण (५/१) की दुर्गा, आर्या या योगनिद्रा की स्तुतियों से इस विद्या की पृथक् सत्ता के संकेत मिलते हैं। विष्णु की तान्त्रिक विधि से पूजा का विधान भागवत ९/११, १२/११ पुराण में पूर्ण विशदता के साथ वर्णित है। इसमें भूतशुद्धि, दीक्षा, मन्त्र, कवच आदि का वर्णन सम्मिलित है। कूर्मपुराण (१/१२/२६१-२६३;) में उल्लिखित है कि भैरव यामल वाम आदि शास्त्रों ने वेदों एवं स्मृतियों के विपरीत मार्गों का प्रदर्शन किया है एवं लोक, को मोह में डाल दिया है। पाद्म (५/८५/२६) एवं मात्स्य (२६६/२९) पुराणों में न्यास का महत्त्व प्रतिपादित है। ब्रह्माण्ड पुराण का प्रसिद्ध ललितोपाख्यान शुद्ध शाक्त तन्त्र का परिचय देता है। देवीपुराण, कालिका पुराण, महाभागवत, देवीभागवत आदि ग्रन्थों में तान्त्रिक साहित्य की भाँति तान्त्रिक प्रयोगों के समाम्नाय विधिवत् प्राप्त होते हैं।

---

१. देखें - तान्त्रिक साहित्य, म.म. गोपीनाथ कविराज, भूमिका, पृ० ४०।

२. देखें - Journal of Asiatic Society of Bengal 1930, PP. 129A

अत: यह निश्चित है कि प्राचीन भारत की सामान्य अभिव्यक्तियो में जिसे तान्त्रिक आचार कहा गया है, वह रहस्यमयी पूजा पद्धति विविध रूपों में वर्तमान थी। वैदिक आर्य जन इस प्रकार की रहस्यमयी साधना से अछूते नहीं थे। वाक्सूक्त से यह भी संकेत मिलता है कि शाक्त सम्प्रदाय की कुमारी पूजा की अवधारणा वैदिक आर्यों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित थी।

यह भी तथ्य ध्यातव्य है कि उक्त विवरण का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि तान्त्रिक पूजा का अर्थ केवल माया या अभिचार से ही था अथवा है। इन संकेतों का तात्पर्य वैदिक आर्यजनों में इस प्रकार की रहस्यमयी पूजा की स्वीकृति बताने में है जिसके अनुयायी कालान्तर में उद्भूत बौद्ध जैन आदि भी हुए।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने विश्व के अनेक भागों में प्रचलित देवी पूजा का अध्ययन किया है तथा देवी पूजा के सम्बन्ध में ऐसी धारणा विकसित की है कि सम्पूर्ण विश्व में ईश्वर की अवधारणा माता के रूप में भी उतनी ही स्वाभाविक रही है जितनी पिता के रूप में। इस प्रकार के कुछ मतों का संग्रह नरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक Indian Mother goddesses (पृ० ४-५) में किया है। भारत में देवी पूजा का अध्यन करने पर विन्ध्यवासिनी या महिषमर्दिनी की प्राचीनता प्रथम दृष्ट्या ही परिलक्षित होती है। इस देवी की प्राचीनता को दृष्टि में रख कर पायने ने भारत एवं मिस्त्र की देवियों की तुलना करते हुए दोनों देशों के धार्मिक आदान प्रदान की कल्पना की है।[1] पायने का विचार है कि जिन विद्वानों ने भारतीय शाक्त सम्प्रदाय को शिव की अवधारणा के अंग के रूप में विकसित बताने की चेष्टा की है वे भ्रम में है। वस्तुत: शाक्त सम्प्रदाय पृथक् रूप से विकसित हुआ है। पायने के अनुसार यह अवश्य कहा जा सकता है कि शाक्त सम्प्रदाय में कथित आर्य एवं अनार्य विश्वासों का सम्मेल है[2]।

वस्तुत: शाक्तपरम्परा के इतिहास की दृष्टि से प्राचीन भारत की शक्ति पूजा परम्परा को एकेश्वरवाद अथवा वेदान्त एवं शक्ति के परात्त्व के दार्शनिक सिद्धान्त के स्वीकार करते हुए उसके पूजक वर्गों की रुचियों के अनुरूप दस वर्गो या सम्प्रदायों में विभाजित किया गया है। पुन: इन सम्प्रदायों को दो धाराओं में विभाजित किया गया है-

---

1. The Shaktas P. 115.
2. Śaktism is considered to be an offspring of Sairvism by some scholers, but it is in fact an indipendent cult of the female principle with some relation of Saivism from the historical point of Veiw Saktism seems to be a combination of Aryan religion will Non Aryan belief. The Śaktas. P. 63

१. वाम मार्ग २. दक्षिण मार्ग, इन दोनों मार्गों में पाँच सम्प्रदायों की गणना है - वाम मार्ग में १. कौलिक २. वाम ३. चीन ४. सिद्धान्त ५. शाबर। एवं दक्षिण मार्ग में १. वैदिकी २. स्मार्ती ३. पौराणी ४. तान्त्रिकी ५. दैशी, काली, जातीया अथवा लोकविश्वासों के आधार पर प्रचलित पूजा परम्परा।

वामदक्षिण भेदेन पञ्चपञ्च क्रमेण च।
कौलिकीऽङ्गुष्ठतां प्राप्तो वामस्स्यात्तर्जनी समः।
चीनक्रमो मध्यमस्स्यात्सिद्धान्ती योऽपरो भवेत्॥
कनिष्ठः शाबरो मार्ग इति वामस्तु पञ्चधा।
कर्तव्या वैदिकी श्रेष्ठा स्मार्ती स्यान्मध्यमोत्तमा।
पौराणी मध्यमा ज्ञाता तान्त्रिकी त्ववरा स्मृता॥
दैशी काली च जातीया कनिष्ठा स्यादुपासना॥

मेरुतन्त्रम्, व्यवस्थाप्रकाश श्लो. ३७, ६०-६१, ६३-६४।

पारानन्द सूत्र में इस वर्गीकरण को दूसरे रूप प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार मार्ग ३ प्रकार का होता है - १. वाम २. दक्षिण ३. उत्तर। इन तीनों में वैदिक मार्ग को सर्वोत्तम एवं उत्तर मार्ग माना है। वेद, स्मृति पुराणों में प्रतिपादित पद्धतियाँ दक्षिणमार्ग कहीं जाती है। वाम में वेद एवं आगम द्वारा प्रतिपादित पद्धतियाँ परिगणित हैं। वेदों एवं गुरूओं द्वारा बताई गई पद्धति उत्तर मार्ग है।

पारानन्द मते त्रयोमार्गाः। दक्षिणः। वामः। उत्तरः। तथैव गाथामुदाहरन्ति। दक्षिणादुत्तमं वामं वामादुत्तरमुत्तमम्। उत्तरादुत्तमं किञ्चिन्नैव ब्रह्माण्ड मण्डले॥

पारानन्द सूत्रम् (गायकवाड् ओरिएण्टलसिरीज पृ० १-३, १३)

देश की दृष्टि से शाक्तों को तीन क्षेत्रों में बाँटा गया है। इन्हें भी सम्प्रदाय कहा जाता है - १. केरल सम्प्रदाय २. गौड सम्प्रदाय ३. काश्मीर सम्प्रदाय। आर्यावर्त से दक्षिणी समुद्र तक या केरलप्रान्त तक केरल सम्प्रदाय का क्षेत्र था। इसके अन्तर्गत १९ प्रान्त बताए गए हैं। नेपाल से कलिंग तक १८ प्रान्तों में विभक्त सम्पूर्ण पूर्वी भारत गौडक्रम के अन्तर्गत था। इसके अतिरिक्त शेष भाग आर्यावर्त एवं कश्मीर, काश्मीर क्रम में परिगणित था।

आर्यावर्तं समारभ्य समुद्रान्तं महेश्वरि।
केरलाख्यः क्रमः प्रोक्तस्तूनविंशतिदेशके॥

नेपाल देशमारभ्य कलिंगान्तं महेश्वरि।
अष्टादशसु देशेषु गौडमार्गः प्रकीर्तितः॥
तदन्यद्देशे देवेशि काश्मीराख्यः क्रमः शुभः॥

(आगमरहस्य, भा० २, पृ० २०)

इस विभाग में भारत के सभी प्रमुख तान्त्रिक सम्प्रदायों का समाहार शाक्त एवं शैव सम्प्रदायों के रूप में किया गया था। शुद्ध शैव सम्प्रदायों को पृथक् एवं शुद्ध शाक्त सम्प्रदाय को पृथक् सम्प्रदाय के रूप में परिगणित करते हुए जिन सम्प्रदायों में शक्ति के किसी रूप की पूजा शिव के पत्नी के रूप में होती थी। उसे शिवशक्ति सम्प्रदाय माना गया। इन 'तीनों' भेदों के आधार पर उक्त तीनों क्षेत्र विभाजक क्रमो को पुनः ३-३ भागों में बाँटा गया था। यथा–

१. शिव केरल। २. शक्ति केरल। ३. शिवशक्ति केरल। १. शिव गौड। २. शक्तिगौड। ३. शिव शक्ति गौड। १. शिव काश्मीर। २. शक्ति काश्मीर। ३. शिव शक्ति काश्मीर। देवता के स्वभाव के अनुसार शुद्ध, उग्र एवं गुप्त भेद से प्रत्येक के पुनः ३-३ भेद हैं। यथा–

१. शुद्ध शक्ति केरल। २. उग्र शक्ति केरल। ३. गुप्त शक्ति केरल आदि। प्रत्येक सम्प्रदाय में ९-९ भेद किए गए हैं। इस प्रकार प्राचीन शैव एंव शाक्त सम्प्रदाय को २७ भागों में विभक्त किया गया है।

शैव केरलकं देवि शक्ति केरलक तथा।
शिव शक्ति केरलाख्यं त्रितयं परिकीर्तितम्॥
शुद्धोग्रगुप्त भेदेन नवधा केरलं भवेत्।
नवधा चैव काश्मीरं नवधा गौडमेव हि॥

(आगम रहस्य भा०२, पृ० १९)

तन्त्रों की इसी परम्परा को आधार बना कर डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय का अभिमत है कि यह स्थिति मौर्य काल में थी। पश्चिमोत्तर प्रान्त में रहनेवाला शाक्त सम्प्रदाय शिव के साथ शक्ति की पूजा करता था। दूसरा वर्ग पूर्वी भारत में था जो यन्त्रों की पूजा करता था। तृतीय वर्ग दक्षिण भारत में था यह वर्ग कुमारी देवी की पूजा करता था[1]। पुराणों की एवं तान्त्रिक सम्प्रदाय दोनों ही परम्पराएँ शाक्त सिद्धान्त के पृथक विकास

1. The evolution of Theistic sects - Dr. S. Chattopadhyay, PP. 56

का संकेत देते हैं। शाक्त उपासना की पूर्ण स्वतन्त्रता शक्ति के कुमारी रूप की पूजा से और भी असंदिग्ध है क्योंकि कुमारी रूप के पूजा का तात्पर्य ही स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष शक्ति भी पूजा से है। शाक्तों के उक्त सम्प्रदायों को उपासना मार्ग की दृष्टि से ६ आम्नायों में विभाजित किया गया है।[1]

प्राचीन विन्ध्यवासिनी विद्या इन सभी शाक्त सम्प्रदायों में समान रूप से दुर्गानाम से पूजित थी- **कुलबाला च दुर्गा च सर्वाम्नाय प्रपूजिता।** पुरश्चर्यार्णव पृ० १३

देवी पुराण में विविध अवसरों पर देवी पूजा के ८० से अधिक स्थानों का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इनमें १०८ शक्ति पीठों की परम्परा में गिनाए गए शक्ति स्थलों में अनेक की गणना है किन्तु अनेक स्थान एकदम पृथक् एवं प्राचीन है। इस पुराण में देवी पूजा सम्बन्धी केन्द्रों के उल्लेख पर बल नहीं दिया गया है, बल्कि उन जनपदों एवं क्षेत्रों की गणना की गई है जहाँ के निवासी देवी भक्त हुआ करते थे। देवी पुराण ने देवी श्जा के स्थानों में भारत के १० पर्वतीय क्षेत्रों को प्रमुख स्थान दिया है - १. मलय। २. सह्य ३. विन्ध्य, ४. हिमालय, ५. अर्बुद ६. चित्र ७. गोप ८. नर ९. काल १०. नीच। इनके अतिरिक्त ६. प्रान्तों को भी वह प्रमुख शाक्त स्थानों में गिनता है - १. लंका २. ओड्रदेश ३. स्त्रीराज्य ४. काशिका वन ५. कामरूप ६. काञ्ची। (देवी. ९/४-६) नदियों में गंगा यमुना एवं नर्मदा के किनारे शक्ति स्थानों को इस पुराण ने अधिक महत्त्व दिया है (देवी० २३/३, ९३/१७६)

कुछ स्थानों को इस पुराण ने 'सिद्धस्थान' नाम दिया है। इन क्षेत्रों में शाक्तसम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रभाव था। इनमें मन्दरा, शतश्रृंग, त्रिकूट एवं विन्ध्य के पर्वतीय क्षेत्र, विन्ध्य में जहाँ गंगा, यमुना, रेवती (नर्मदा), पयोष्ठी एवं अश्वरक्ष्या नदियाँ हैं इनके अतिरिक्त कुण्डलेश्वर, शंकरेश्वर, रामेश्वर, अमरेश्वर नामक शैव स्थलियाँ, सरस्वती नदी का तट एवं सुगन्धायतन। इन सभी स्थानों पर विन्ध्यवासिनी की पूजा होती थी यह प्रसिद्धि थी कि इन स्थलों पर पूजा जप आदि करने से शीघ्रसिद्धि प्राप्त होती है।

अतः परं प्रवक्ष्यामि सिद्धिस्थानानि यानि तु।
यस्मिन्नाराधिता देवी क्षिप्रं भवति सिद्धिदा॥
मन्दारं शतश्रृंगं च त्रिकूटं पर्वतं तथा।
विन्ध्ये अश्वरथ्ये तु अथवा कुण्डलेश्वरे।
शंकरेश्वर रामेशे अथवा अमरेश्वरे॥

---

१. आम्नाय भेद के लिए आगम रहस्य भाग-२, पृ० ७-१०, पुरश्चर्यार्णव पृ. ११-१३ देखना चाहिए।

सरस्वतीतटे पुण्ये सुगन्धायतनेऽपि वा।
स्थानेष्वेषु जपं कुर्यान्नन्दा तद्गत मानसः।।

(देवी पु० ९३/१७५-७८)

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के आसेतु हिमाचल समस्त प्रान्तों में शाक्त उपासकों का एक बहुत बड़ा वर्ग था जिनमें देवी के विभिन्न अवतारों एवं स्वरूपों की उपासना वैदिक, पौराणिक, एवं अन्य लोक प्रचलित विधियों से होती थी।

इतिहास के अध्येताओं में इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त अत्यधिक लोक प्रिय है। जिसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य मूलतः युद्धक प्रवृत्ति के थे। साथ ही उनमें अपने को जातीय सम्मिश्रण से बचाने की प्रवृत्ति अत्यधिक थी। उत्तरवैदिक काल में उनकी ये दोनों भावनाएँ शनैः शनैः शिथिल होने लगी थी। इसके स्थान पर उनमें सांस्कृतिक सम्मिलन की भावना आने लगी थी। इस काल में वैदिक ब्राह्मणों का वर्ग इस सांस्कृतिक विस्तार के प्रति अधिक उदार था। महाभारत एवं पुराणों के संग्राहक एवं रचयिता इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस वर्ग ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक वैदिक प्रक्रिया के कठोर अंशों को युगानुकूल को शिथिल करते हुए लोक में प्रचलित अन्य धार्मिक प्रक्रियाओं को स्वीकार किया। इस प्रक्रिया में देव पूजा, नैतिकता की व्याख्या जाति व्यवस्था का सुदृढीकरण आदि सभी प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक पक्षों का सामान्यीकरण हुआ। इस वैचारिक एवं सैद्धान्तिक सम्मिश्रण की प्रक्रिया में आर्येतर कही जाने वाली जातियों की परम्पराओं को संस्कृत भाषा में निबद्ध किया गया। इसे कुछ आधुनिक मानवविज्ञानियों ने (Sanskritization) संस्कृतीकरण का नाम दिया है।[१] वैदिक आर्य पूर्वजन्म के सिद्धान्त पर दृढ विश्वास रखते थे एवं वेदान्त एवं सांख्य जैसे दर्शनों को विकसित कर रहे थे जिनके माध्यम से परमसत्ता के एकत्त्व की स्थापना एवं देवस्वरूपों के विविध रूपों को पूर्वजन्म के आधार पर एक ही तत्त्व का अवतार भेद सिद्ध करना अधिक सुकर था। इन्हीं दो दर्शनों के माध्यम से समस्त वैदिक अवैदिक देवी देवताओं के स्वभाव की तर्क संगत व्याख्या हुई। यह कार्य भी पुराणों में प्रतिष्ठित हुआ है। पुराणों के इन आरम्भिक लेखकों ने पूर्ण रूप से आग्रह मुक्त होकर लोक संग्रह किया

---

१. इस प्रक्रिया के विश्लेषकों में S.K. Chattarjee एवं रविन्द्र नाथ ठाकुर का नाम महत्त्वपूर्ण है - इनके विश्लेपण क्रमशः "The Indian synthesis, and Racial and cultural Intermixture in India" (All India Oriental conference, Poona १९५३ का अध्यक्षीय भापण) एवं A Vīsion of Indian History, (Calcutta, 1951) में देखा जा सकता है।
पाश्चात्यों में W.N. Brow, Marriot Staal, आदि की कृतियाँ भी उल्लेखनीय है।

है। धर्म की दृष्टि से इन लोगों ने आर्येतर भारतीय सभ्यता को अभिभूत नहीं किया अपितु वैदिक एवं अवैदिक दृष्टियों के मध्य एक संवाद स्थापित किया।

किन्तु देवी उपासना के सम्बन्ध में कुछ भिन्न दृष्टि अपनाने की विवशता थी। क्योंकि देवियाँ परमसत्ता के रूप में पूर्ण स्वतन्त्र शक्ति के रूप में पूजी जाती थी। अतः उनके इस परमत्त्व की स्थापित करने में सांख्य एवं वेदान्त जैसे वैदिक दार्शनिक सिद्धान्तों का विरोध अवश्यम्भावी था। अतः इन परमादेवियों को शिव अथवा विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया एवं शिव एवं विष्णु को सांख्य के पुरूष या वेदान्त के ब्रह्म के रूप में परिभाषित किया गया। देवियों के विविध रूपों में भी दो प्रधान थी। १. उमा जिनका उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में हुआ है। २. विन्ध्यवासिनी जो पूर्ण रूप से स्वतन्त्र एवं कुमारी देवी थी। एवं जिन्हें महानारायणो पनिषद के 'कन्यकुमारि दुर्गि' के रूप में पहचाना जा सकता है। उमा हैमवती हिमालय के पर्वतीय प्रान्त से सम्बद्ध देवी हैं। इनका विवाह रुद्र या शिव के साथ बताया गया है। अतः ऐसा माना जाता है कि उमा प्राचीन समय से ही हिन्दू देवी के रूप में स्वीकृत थीं। शैव लेखकों ने अपने पौराणिक साहित्य में इन्हें वेदान्त की माया, पराप्रकृति के रूप में व्यक्त किया एवं यह दर्शाया कि अन्य सभी देवियाँ इन्हीं की विभिन्न अवतार या रूप हैं।

विन्ध्यवासिनी को वैष्णव लेखकों ने प्रकाशित किया। यह देवी विन्ध्याटवी की प्रधान उपास्या थीं। इन्हें पुराणकारों ने विष्णु की योगनिद्रा के रूप में व्याख्यायित किया। क्योंकि विन्ध्यवासिनी के जितने भी वर्णन हुए है उनमें उन्हें कुमारी देवी के रूप में ही वर्णित किया गया है। पौराणिक वैष्णवी योगनिद्रा को भी स्वतन्त्र एवं कुमारी रूप में ही वर्णित किया गया है।

इस सिद्धान्त में रुचि रखने वालों का यह भी मानना है कि समय के प्रवाह के साथ लोक ने एक केन्द्रीय देवी की अवधारणा को माया अथवा सांख्य के प्रधान की प्रतिकृति के रूप में आत्मसात् किया एवं अन्य सभी देवियाँ इस केन्द्रीय महादेवी की विविध रूप मानी गईं। किन्तु एक शक्तिवाद या अद्वैत सिद्धान्त की लोकप्रियता के कारण शैवों ने इस केन्द्रीय देवी को उमा नाम से पुकारा एवं विन्ध्यवासिनी, काली, महासरस्वती, चामुण्डा, शीतला आदि सभी देवियों को उमा का ही अवतार होने की कथाएँ प्रस्तुत की। वैष्णवों ने केन्द्रीय देवी का नामकरण योगनिद्रा दिया एवं उमा सती काली आदि को योगनिद्रा की अभिव्यक्तियाँ बताई।[१]

---

१. दे०हज्रा, S.U.P, पृ०२६

इस प्रकार का विवेचन आपाततः रोचक एवं तर्क संगत प्रतीत होता है। किन्तु सावधानी से देखने पर इसकी कमियाँ स्पष्ट होती हैं। वस्तुतः इस व्याख्या का आधार भी वेदों के काल निर्धारण की अनिर्णीत प्रक्रिया को ही बनाया गया है। वास्तविक इतिहास अथवा मूलग्रन्थों के कथनों से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होना कठिन है। इसके विपरीत यदि डॉ० भगवानसिंह, तिलक आदि के ऋग्वेदिक काल निर्धारण (४५०० B.C.) को भी स्वीकार किया जाए तब वैदिक जनों का निवास हड़प्पा या सरस्वती घाटी के नगरों में मानना होगा एवं यह भी स्वीकार करना होगा कि वे सभी जातियाँ (जो बाद में भारतीय देवियों विशेषतः विन्ध्यवासिनी की पूजक मानी गई हैं) आर्यों के पूर्वी भारत में संक्रमण के बहुत बाद मे मध्यभारत में विस्तार पासकीं।

वेदो के काल के संबन्ध में अनेक रोचक सिद्धान्त प्रचलित हैं-

बर्न होफ़रके अनुसार वैदिककाल २०० ई०पू०, हर्टन के अनुसार वैदिककाल ५०० ई०पू०, माक्सम्यूलेर के अनुसार वैदिककाल १२०० ई०पू०, ओलडेन बर्ग के अनुसार वैदिककाल २००० ई०पू०, याकोबी के अनुसार वैदिककाल २५००० ई०पू०, तिलक के अनुसार वैदिककाल ८०००-४५०० ई०पू०, अविनाश चन्द्र के अनुसार वैदिककाल २५००० ई०पू०, एच० पी० ब्लाउट्स्की के अनुसार वैदिककाल ६०००० या ६००००० ई०पू०, ये सारे मत 'Veda and Bharat' ग्रन्थ में उद्धृत हैं।

जिस मैक्समूलर के ऋग्वेद के काल निर्धारण सिद्धान्त को आधार बनाकर आत्मसात्करण का सिद्धान्त अथवा 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा विकसित की गई है। उन्होंने बुद्ध के मृत्यु की तिथि को आधार बना कर ४०० ई०पू० में उपनिषदों का रचना काल माना एवं स्वतः ही कल्पना करते गए कि आरण्यक ब्राह्मण एवे संहिताओं के काल में २००-२०० वर्षों का अन्तर रहा होगा। यद्यपि स्वयं बुद्ध के ही निर्वाण की तिथि के विषय से पर्याप्त मतान्तर आज भी बना हुआ है एवं सबके अपने अपने प्रामाण भी है। स्वयं दीपवंश के अनुसार बुद्ध का निर्वाण ५४३ ई०पू० निश्चित होता है।[१] अतः इस

---

१. बुद्ध के मृत्यु की तिथि के विषय में कुछ प्रमुख मत इस प्रकार है-

Kern 368, 370, 380, 388 B.C., Rhys Davidas 412 B.C., Max Muller 477 B.C., L.D.S. Pillai 478 B.C., Olden Berg 480 B.C., Fleet 482 B.C., दीपवंश ५४३ B.C., के०पी० जायसवाल ५४४ B.C., चीनी एवं जापानी परम्परा १०६७ B.C., विलियम जोन्स १००४ B.C., फाह्यान १०५० B.C., Sri Jones Prineep 1032 B.C., Triveda 1790, 1793 B.C., देखें:- Veda and Bharat - Janarden Mishra New Delhi 1988, P.134)

अन्धकार पूर्ण परम्परा पर विश्वास करके कोई सिद्धान्त विकसित करना इतिहास के प्रति असावधानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

वस्तुतः १९वीं २०वीं शताब्दी के पराधीन भारत के इतिहास के लेखन का उत्तरदायित्व आक्रान्ताओं पर था। उन्हें यह अभीष्ट था कि वे भारत की प्रत्येक महनीय वस्तु को आयातित बताते। प्राचीन भारत के सारे तथ्यों को अटकलों के सहारे खीचकर नीचे की तिथि तक लाने का प्रयास किया गया। विदेशी इतिहासकारों का यह प्रयत्न रहा कि वे प्राचीन साहित्यों को सिकन्दर युगीन ग्रीक सभ्यता के काल के निकट जाएँ एवं भारतीय सभ्यता पर ग्रीक-प्रभाव को प्राचीन काल से ही व्याख्यायित करें।

जिस काल में Max Muller प्रभृति व्यक्ति भारतीय इतिहास एवं वैदिक सामग्री के साथ मनमानी कर रहे थे। उसी काल के जर्मन विद्वानों का एक वर्ग उनका विरोध कर रहा था एवं भारत को हिन्दुओं का आदिदेश मानते हुए। उन्हें अत्यधिक विकसित प्रागैतिहासिक जाति मान रहा था। दोनों समान एतिहासिक सामग्री का प्रयोग कर रहे थे। F.G. Eichhoff की प्राचीन भारतीय आर्य सभ्यता के सम्बन्ध में टिप्पणी ध्यातव्य है -

"This rich and terracious civilization propagated it self in a thousand defferent degrees, but always on similar stocks an in regular ramifications from the banks of Gangas the acient mystrious home, over the enormous area that civilization now covers and whose borderi are daily extending."

(Pre-Historic antiquities of the Aryan peoples -Ed. Dr. O.Schrader London 1890 P. 5)

प्राचीन शाक्त सम्प्रदाय का विकास परवर्ती मानने वाले विद्वानों के एक बडे वर्ग ने शक्ति पूजा या दुर्गा पूजा को भी बाहर से आयातित माना है। इस आधार पर तन्त्रों के प्राथमिक ज्ञान को भी वैदेशिक मानने की भी प्रथा रही है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री कुब्जिकामततन्त्र के एक श्लोक के आधार पर शक्ति देवियों की पूजा परम्परा को भारत में सीथियन मागी पुरोहितों की देन मानते हैं। वह श्लोक इस प्रकार है।

गच्छत्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः।
पीठे पीठे क्षेत्रेऽस्मिन् कुरु सृष्टिमनेकधा॥

(नेपाल कैटलाग, पृ० LXXIX)

बी भट्टाचार्य (Buddhist Esoterism; P. 432) प्रो० एस०के० चटर्जी (Journal of Asiatic society, I, 1959 P. 113) S. Levi (Nepal, I, P. 346) एवं Woodroffe

(Śakti and Śākta, 8th ed P. 123) आदि विद्वान् सभी मातृ देवियों की उपासना का जन्म फ्रीगिया से मानते हैं। इन सभी के आधार पूर्णत: सतही हैं।

यह सत्य है कि भारतीय विन्ध्यवासिनी के साथ विश्व के अनेकों देवियों का अद्‌भुत साम्य है। सुमेरिया की निनहुरसागा (Ninhur saga), मेसोपोटामियाँ की इश्तर (Istar या Astarte), एवं इनन्ना (Inanna) मिस्त्र की नीथ (Neith), तुर्की की (mā) मा आदि देवियाँ कुमारी हैं एवं सर्व जननी हैं। **नीथ** त्रैलोक्य जननी हैं, देवमाता हैं। निनहुर सागा भूमि की जननी है। इश्तर एवं नाना पराशक्ति मानी जाती थी साथ ही सिंह वाहना है।

ई०पू० ४००-५०० वर्ष के कहेजाने वाले दो यूनानी मन्दिरों के अवशेष प्राप्त होते हैं इनमें जिन देवियों की पूजा होती थी। उसे देवताओं की माता माना जाता था। इस देवी के पार्श्व में दो सिंह निर्मित हैं। ईसापूर्व ४०० के एक यूनानी प्रस्तर चित्र में सिंहासन पर बैठी हुई देवी के चरणों में दो सिंह चित्रित हैं। यूनान की ही १५०० ई०पू० की एक मुद्रा में एक देवी पर्वत की चोटी पर चित्रित हैं। इनके पार्श्व में एक सिंह चित्रित है। इसे पर्वत परविराजमान देवी का सर्वाधिक प्राचीन साक्ष्य बताया जाता है। प्राचीन यूनानी साहित्य में इस पर्वतस्था देवी को देवमाता माना गया है एवं इन्हें जंगली पशुओं की स्वामिनी कहा गया है।[१]

उपर्युक्त देवियों का विन्ध्यवासिनी या उमा के किसी न किसी रूप विशेष के साथ साम्य तो समझ मे आता है किन्तु शक्ति उपासना के विदेशों से आयातित होने की कल्पना के पीछे भी भारतीय इतिहास के भ्रमपूर्ण काल गणना ही कारण है। अन्यथा वैदिक मन्त्रों के समाम्नाय के काल की प्राचीनता को दृष्टि में रखने पर ये सिद्धान्त सारहीन दिखाई देते हैं एवं यह स्वीकार करने की बाध्यता हो जाती है कि इन वैदेशिक कही जाने वाली देवियों का मूल भारत था। जिन्हें विविध कबीलों ने अपने अनुसार अपनाया। तन्त्रों में उल्लेख है कि देवी दुर्गा की उपासना मेरुपर्वत एवं विन्ध्य पर्वत के मध्य होती थी। यद्यपि मेरु पर्वत के स्थिति के विषय में कोई निश्चित मत नहीं हो पाया है तथापि नाम साम्य के आधार पर प्राचीन सुमेरिया को मेरु या सुमेरु के रूप में मना जा रहा है[२]। आर्य प्राचीन समय में (4000 B.C.) मध्यपूर्व की ओर सुमेरिया एवं तुर्की (एसिया माइनर) अनेक बार गए थे एवं वहाँ के धर्मों को प्रभावित किया था। फिलिस्तीन की अनेकों नदियों के नाम वैदिक हैं। वहाँ की प्रागाग्नेय जातियाँ हडप्पा काल में विन्ध्य

---

१. Raichaudhuri; D.R. Bhandarkar Felicitation Vol; P. 301-303 में इस प्रकार की अनेक अन्य देवियों का उल्लेख है जिनका साम्य भारत की प्राचीन देवियों के साथ है।

२. देखें - Geographical horizon of Mahabharat - S.N. Pandey, Varanasi, 1987

तक वास करतीं थी। सुमेर, बेबिलोन से भारत का हड़प्पा युग में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। हडप्पा की सहस्त्रों मुद्राएँ मध्य पूर्व के अनेक स्थानों में प्राप्त हुई हैं[१] ।

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ है। यह भी निर्विवाद है कि वेद जिसकी देन हैं वे एसिया एवं यूरोप के अनेकों देशों में अपनी संस्कृति की छाप, ईसा के २००० वर्ष पूर्व से भी पहले, भली भाँति छोड़ चुके थे। आर्य सभ्यता के इन्हीं प्रभावों को, भाषा एंव सांस्कृतिक अवशेषों को प्रमाण बनाकर भारत पर आर्य आक्रमण का मिथक इतिहासकारों ने रचा है। किन्तु यदि हम वेदों के मूल देश को आधार माने तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ब्रह्मावर्त का सभ्य समाज विश्व का सर्वाधिक सभ्य समाज था[२] एवं उसने ईरानी केल्टिक एवं यूरोप के सम्पूर्ण भागों में अपनी सभ्यता को विकसित किया था। आर्यावर्त[३] एवं ब्रह्मदेश की सभ्यता एवं उसके मिथकों को अन्य कबीलाई जातियों ने अपनी क्षमता के अनुसार स्वीकार किया तथा अपनी अपनी सभ्यताओं को समृद्ध किया। इसी प्रक्रिया में अनेकों विदेशी जन-जातियाँ भारत की ओर आकर्षित हुई एवं आर्य धारा में विलीन हो कर अपनी पूर्णता पासकीं थीं।

संस्कृति के विकास को क्षणिक विकास के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह बड़ी लम्बी एवं धीमी प्रक्रिया होती है। वेद जैसे उच्चतम वैचारिक अभिव्यक्तियों वाले ग्रन्थ जिनका प्रत्येक भाग आज भी मानव जाति के आत्मिक विकास का सर्वोत्कृष्ट मार्ग दर्शक बना हुआ है; उनकी उत्पत्ति १००-२०० वर्षों में सम्भव नहीं हो सकता यह ध्रुव है। असभ्य समाज के लिए अनगिनत सहस्त्राद्वियों की आवश्यकता होगी वैदिक तत्त्वज्ञान के अशों तक भी वैचारिक स्तर पर विकसित होने के लिए। सम्भव है कि अन्य संस्कृतियों ने यदि वे पृथक् रूप से विकसित हुई होगी तो उस सभ्यजाति के सम्पर्क में आने पर स्वयं ही समृद्ध हुई होंगी। कुछ विद्वान् वेदों एवं पुराणों को दो पृथक् सभ्यताओं के परिचायक मानते हैं। जो पौराणिक बातें वेदों में संकेतित नहीं होतीं वे अनार्यों की या प्राग्वैदिक संस्कृति कही जातीं हैं। कर्म, पुनर्जन्म, योगाभ्यास देवों से पूजा विधियाँ आदि तथा अन्य अनेक वस्तुएँ जो हिन्दू संस्कृति एवं धर्म में प्राप्त होते हैं अनार्यमूलक कहे जाते हैं। अनेक पौराणिक एवं महाकाव्यीय पुराकथाएँ पारम्परिक अनुश्रुतियाँ एवं अर्धऐतिहासिक गथाएँ आर्यों के कथित आगमन के पूर्व से भारत में प्रचलित बताए जाते हैं। अधिकांश सांस्कृतिक तत्त्व तथा अन्य प्रयोग की वस्तुएँ जैसे कुछ वनस्पतियों की कृति इनमें चावल

---

१. देखें वेद एण्ड भारत - जनार्दन मिश्र, 'आर्य एण्ड अनार्य'

२. मनुस्मृति २/२१

३. मनुस्मृति २/२२

कुछ सब्जियाँ, फल नारियल ताम्बूल आदि जो हिन्दू जीवन एवं धार्मिक क्रियाओं में प्रयुक्त होती हैं, अधिकांश प्रचलित धार्मिक विश्वास, लोक कलाएँ धोती, साड़ी आदि पोशाक, सिन्दूर एवं हल्दी आदि का भी प्रचलन आर्य पूर्व कालिक माना जाता है।[१]

यदि शाक्त संप्रदाय को केन्द्र में रख कर भी पौराणिक साहित्य पर दृष्टि पात करें जिसे मुक्त कण्ठ से अनार्यमूलक ही माना जाता था तब भी भारत के सांस्कृतिक अघमर्णता की मान्यताओं की सारहीनता समझ सकते हैं।

पुराणों में प्राचीन भारत की ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक आख्यानों का एक प्रामाणिक संग्रह है। इसके मूल स्मरण कर्ता ऋषि गणों ने उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार किया था। उन गणों ने अपने प्रारम्भिक संग्रह को क्या रूप दिया था। यह आधुनिक इतिहास की शैली में कहना कठिन है। परम्परा गत रूप से पुराणों के स्मरणकर्ताओं ने यह बताया है कि पुराण साहित्य आरम्भ में एक ही थे एवं उनका असंख्य विस्तार था। इस साहित्य का हेतु मनुष्य मात्र को नैतिक नियमों का पालन कराते हुए आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से विकास करना था।-

पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।।

मत्स्य ५३/४; वायु १/६१, ब्रह्माण्ड १/१/४१, पद्म ५/१/४७, शिव ५/१/२८, मार्कण्डेय ४५/२१

गरुड पुराण (१/२२३/१७-२०) एवं पद्म पुराण (६/२६३/८१-८४) में पुराणों के इस त्रिवर्ग साधनत्व की सरणि को ३ भागों में विभाजित किया है - सात्त्विक, राजस एवं तामस। ये विभाग अनेक पुराणों में अध्यायगत रूप से कहे जा सकते हैं।[२]

वायु (१/६०/१) मत्स्य (५३/३) पद्म (५/१/४५-६) ब्रह्माण्ड (१/१/४०) शिव (५/१/२७) मार्कण्डेय (४५/२०) आदि पुराणों में समान रूप से कहा गया है कि ब्रह्मा के मुख से सर्वप्रथम शास्त्र के रूप में पुराण निकले तत्पश्चात् वेदों का प्रादुर्भाव हुआ।-

पुराणं सर्व शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।।

---

१. विशेष देखें - Indo Aryan and Hindu, S.K. Chatterjee PP.31

२. देखें धर्मशास्त्र का इतिहास - पी. वी. काणे - 'आचार, श्राद्ध, तीर्थ, दान, आह्निक राजधर्म आदि का विवेचन।

विल्सन इस वक्तव्य को इस रूप में समझते है-

The justification of this statment lies in the fact that the 'purans preserve in them many traditions which come down from very early times and even from the pre vedic days[1].

अथर्व वेद के इस मन्त्र से यह पूर्ण स्पष्ट है कि पुराणविद्या वेदों के समान काल में ही उत्पन्न हुई थी।-

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।। अथर्व ११/७/२४

शतपथ का वचन है कि पारिप्लव के ९वें दिन किसी पुराण का पाठ करना चाहिए। इस अवसर पर पुराण को वेद की श्रेणी में रखा गया है।

अथ नवमेऽहन्। ....तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित्पुराणमाचक्षीत। श०ब्रा० ३/४/३/१३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र (कम से कम ५०० ई०पू०) १/६/१९/१३ में भविष्यत् पुराण के दो श्लोक उद्धृत हैं। गौतम ने बताया है कि राजा को वेद धर्मशास्त्र वेदाङ्ग एवं पुराणों द्वारा बताए मार्ग के आधार पर अपना व्यवहार सुनिश्चित करना चाहिए - **'तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्।**

गौतमीय धर्मसूत्र १०/१९

अर्थशास्त्रकार ने व्यवस्था दी है कि मन्त्री को चाहिए कि पथ भ्रष्ट राजा को पुराण निर्दिष्ट उचित मार्ग पर ले जाए। दक्षस्मृति (२/६९) में कहा गया है कि सभी द्विजगृहस्थों को दिन के छठे एवं सातवें भाग में इतिहास एवं पुराण का अध्ययन करना चाहिए।[२]

इस प्रकार के अनेकों प्रमाण प्राचीन भारतीय साहित्य में भरे पड़ें हैं जिनका उपयोग वर्तमान एवं १९वीं शताद्वियों के पुराण अध्येताओं ने भरपूर किया है। इस प्रकार के उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट है कि पुराण-साहित्य एक मानक साहित्य के रूप में वैदिक काल कहे जाने वाले युग में उपस्थित था।

वस्तुतः वेदों में यज्ञ का तत्त्व एवं विधियाँ निर्दिष्ट है एवं पुराणों में उस तत्त्वज्ञान की व्याख्या सुहृत् सम्मित शैली मे अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं, गाथाओं व्याख्याओं के

---

1. Wilson, Visnu Purana, culcutta 1961, Intraduction P. XII
२. वही भा० ४ पृ० ३७५ में उद्धृत।

आधार पर की गई है। वायु पुराण का वचन है कि पुराण वेदानुमत हैं एवं ब्रह्मा के वचन हैं-

पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेद सम्मितम्।। वायुपुराण १/११

इसी प्रकार के वाक्य अन्य पुराणों में भी मिलते है यथा - **गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेद सम्मितम्** (ब्रह्मपुरा० १/२९) **पुराणं नारदोपाख्यमेतद्वेदार्थ सम्मिलतम्।** (नारदीय पुराण १/१/३६) शब्द के रूप में पुराण ऋग्वेद में भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त (३/२७) में पुराण के ६ पर्यायवाची वैदिक शब्द दिए गए हैं प्रत्नम्, प्रदिवः, प्रवयाः, सनेमि; पूवर्यम् एवं अहनाय। यास्क (नि० ३/१९) ने पुराण शब्द का अर्थ 'पुरानवं भवति' 'जो प्राचीन काल में नया था' या सभी के लिए वर्तमान कालिक वस्तु रूप में था करते है। पी०वी० काणे का मानना है कि 'पुरातन शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त नहीं है। पुराण पुरातन का अति प्राचीन रूप हो सकता है।' (काणे भाग ४ पृ० ३९८)

वायु पुराण ने पुराण शब्द का निरुक्त की शैली में अर्थ बताया है। तदनुसार-

यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपायैः प्रमुच्यते।। (वायु १/२०३)

'क्योंकि यह प्राचीन काल में प्राणवान् था अतः इसे पुराण कहा जाता है'

पद्म पुराण के अनुसार जो प्राचीन परम्परा को चाहता है या सम्मान देता है उसे पुराण कहते हैं-

पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्।। (पद्म ५/२/५३)

स्पष्ट है कि प्राचीनार्थक पुराण शब्द प्राचीन परम्पराओं को यथोचित रीति से जिस ग्रन्थ में रखा गया था उस ग्रन्थ के लिए स्वभावतः प्रयुक्त होता था।

वेद एवं पुराण अपने उद्‌भव काल में अलग-अलग विभागो में संग्रहीत नहीं थे। अपितु एक थे। भारतीय परम्परा से यह ज्ञात है कि ऋषि पराशर के पुत्र व्यास ने वेदों एवं पुराणों का पृथक् पृथक् संहिताओ के रूप में संग्रह किया। पुराणों में व्यास को द्वैपायन एवं विष्णु का अंश कहा गया है। इनका वर्ण काला था। इन्होंने ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्तित वेद को व्यस्त या वर्गीकृत करने के लिए जन्म लिया था। इनकी माता सत्यवती थी एवं पुत्र शुक थे। व्यास ने अपने ४ शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, एवं सुमन्तु, नामक ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद एवं अथर्व वेद की शिक्षा दी एवं सूत लोमहर्षण को इतिहास पुराण की शिक्षा दी। सूत के पुत्र ने नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों को

महाभारत को सुनाया था।

अस्मिन् युगे कृतो व्यासः पाराशर्यः परन्तप।
द्वैपायन इत्याख्यो विष्णोरंशः प्रकीर्तितः।
ब्रह्मणा चोदितं सोऽस्मिन्वेदं व्यस्तुं प्रचक्रमे।
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदकारणात्।
ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह विधिवद् द्विजम्।।

यजुर्वेद प्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।
जैमिनिं सामवेदार्थं श्रावकं सोन्वपद्यत।।

तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।
इतिहास पुराणस्य वक्तारं सम्यगेव हि।।

मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः।।

वायु ६०/११:१६, ब्रह्माण्ड २/३४/११-१६

व्यास के संपादन का तात्पर्य यह नहीं है कि वेदों का नाम करण भी व्यास द्वारा प्रदत्त है। ऐसा भी नहीं है कि व्यास के पूर्व इसके चारों भागों ऋग्वेद यजुष् साम एवं अथर्वन् का यथोचित प्रयोग नहीं था। क्योंकि स्वयं ऋग्वेद में ही ऋक् यजुष् एवं सामन् मन्त्रों के स्वभाव का वर्णन इन्हीं नामों से प्राप्त हैं[१]। जिस प्रकार व्यास ने अपने उपर्युक्त शिष्यों को वेदों को पृथक्-पृथक् शिक्षा दी उसी प्रकार सूत को पुराण एवं इतिहास की शिक्षा दी एवं ये सभी इन विषयों के पृथक् प्रचारक एवं विशेषज्ञ बने।

पुराणों की इस प्राचीन विद्या में वेद प्रतिपादित देवताओं का वर्णन यज्ञ से पृथक् पूजा की दृष्टि से किया गया है। डॉ० जी०सी० त्रिपाठी (वैदिक देवता उद्भव एवं विकास) एवं प्रो० इयान खोदा (Visnuism and Saivism) आदि विद्वानों के अध्ययनों में उपस्थित साहित्यिक साक्ष्यों के क्रम एवं व्याख्याओं का विश्लेषण करने से यह तथ्य स्पष्ट होने लगा है कि वेदों एवं पुराणों में वस्तुतः एक ही तत्त्व का वर्णन किया गया है। उनमें जो अन्तर है वह पूजा पद्धति के कारण है। वेद यज्ञ परक हैं। पुराण साधना परक अथवा पूजापरक। दोनों की परिणति त्रिवर्ग साधन में या पुण्य उत्पादन में है।

---

१. देखें - ऋ २/३५/१२, ४३/२, ५/६/५; ४४/१४-१५/६२/५; ८/८१/५; ९५/७; १०/१८१/३

यदि सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य एवं वैदिक साहित्य के देवी सम्बन्धित वर्णनों को समग्र रूप से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि जितने अंश में वेदों में उनका वर्णन है लगभग उतने ही अंश में पुराणों में भी हुआ है। क्योंकि पुराणों में प्रत्येक देवरूप का वर्णन आख्यानों आदि के माध्यम से विस्तार पूर्वक बताया गया है। अतः आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों में देवियों का वर्णन अधिक हुआ है।

ऐसी सम्भावना है कि वैदिक आर्यो ने जब भारत से विभिन्न दिशाओं में प्रव्रजन किया तब उन्होंने अपने समाज के धार्मिक एवं नैतिक आख्यानों एवं विद्याओं को दूसरों को समझाना आरम्भ किया। एक ओर स्वंय वैदिक पद्धति से यज्ञ करते थे दूसरी ओर उसके तत्त्व को लोक को ग्रहण कराने के लिए पुराण की कथाओं का वाचन करते थे। जिससे जो लोग वेदों की आनुपूर्वी को उसी श्रद्धा के साथ सुरक्षित नहीं रख सकते थे उन्हें भी हिन्दू दर्शन एवं शाश्वत नियमों का ज्ञान हो सके तथा किसी भी पद्धति से उस तत्त्व की उपासना करके आध्यात्मिक लाभ ले सकें या उनकी अपनी पद्धति पर विश्वास दृढ़ हो सके। जब सामान्य रूप से इन्हें धारण कर पाना कठिन हो गया तब व्यास ने इनके पृथक् पृथक् दलों को प्रचारित करने की व्यवस्था दी। आर्य समुदाय में मात्र वैदिक विद्या को व्यक्ति के भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए पूर्ण नहीं माना जाता था। यह आवश्यक था कि वह पुराण विद्या का भी ज्ञाता हो। वायु पुराण का वचन है कि साङ्गोपाङ्ग वेदों के अध्ययन के साथ पुराण का जानना द्विजों के लिए परमावश्यक था तभी वह विचक्षण माना जा सकता था। क्योंकि वेदज्ञान का प्रचार लोक में इतिहास पुराण के माध्यम से किया जाना उचित था।-

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः।
इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति।

वायु/१/२०१, महाभारत आदि १/२९७ एवं वसिष्ठ धर्म सूत्र २७/६

इस प्रकार के विचक्षणों ने भारतीय ईरानी एवं भारोपीय शाखाओं के रूप में दूर दूर तक यात्राएँ करके वहाँ के निवासियों को वैदिक सभ्यता का परिज्ञान कराया। विदेशियों को समझाने के लिए पुराणविद्या एवं विधि का अधिक महत्त्व रहा होगा। नैतिकता पर आधारित शाश्वत सभ्यता के इन प्रचारकों को मनु ब्रह्मावर्त एवं ब्रह्मर्षि देश का निवासी मानते हैं। ब्रह्मावर्त सरस्वती एवं दृशद्वती नदियों के मध्य में स्थित था एवं उस क्षेत्र से पूर्व कुरुक्षेत्र मत्स्य पाञ्चाल शूरसेन जनपदों तक ब्रह्मर्षि देश कहा गया है। इन्हीं क्षेत्रों में महान्

वैदिक विचारकों की मूलभूमि थी एवं उन श्रेष्ठ व्यक्तियों से विश्व की अन्य जनजातियों में अपनी-अपनी सभ्यताओं का विकास किया-

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चाला शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षि देशो वै ब्रह्मवर्तादनन्तरम्॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

मनुस्मृति २/१७-२०

शाक्त विद्या का प्रचार भी इन्हीं सभ्यों के प्रभाव से हुआ था। राजेन्द्र चन्द्र हज़्रा ने शाक्त उप पुराणों के संग्रह या लेखन के कारणों पर विचार करते हुए मध्य, पूर्वी एवं दक्षिणी भारत में प्रचलित कुछ उत्सवों की चर्चा की है (दे.S.U.P. Vol.II, Chap.I.)। इनमें कुछ इस प्रकार हैं।-

१. माह के कृष्ण पक्ष की नवमी या शुक्ल पक्ष की षष्ठी को बिल्व वृक्ष में किया जाने वाला देवी-बोधन।[1]

'षष्ठ्यां बिल्वतरौ बोधं सायं संध्यासु कारयेत्॥'
'बोधयेत् बिल्वशाखायां षष्ठ्यां देवीं फलेषु च॥'

पत्रिप्रवेशात् पूर्वेद्युः सायाह्ने विन्ध्यवासिनीम्।
चण्डीं आवाहयेद् विद्वान् नात्र कार्या विचारणा॥'

२. शुक्ल प्रतिपदा से शुक्ल पञ्चमी तक किए जाने वाले केश संस्कार आदि उपचार-

---

१. इन तीनों उद्धरणों को बंगाल के निबन्ध कार शूलपाणि ने 'दुर्गोत्सव विवेक' पृ० ७ में क्रमशः भविष्य पुराण, कालिकापुराण सवं नन्दिकेश्वर पुराण के नाम से उद्धृत किया है। अन्य कई निबन्धकारों ने भी इसे उद्धृत किया है। (देखें हज़्रा S.U.P.II.P.4)

केश संस्कार द्रव्याणि प्रदद्यात् प्रतिपद्दिने।
पट्टडोरं द्वितीयायां केश संयम हेतवे।।
दर्पणं तु तृतीयायां सिन्दूरालक्तकं तथा।
मधुपर्कं चतुर्थ्यां तु तिलकं नेत्रमण्डनम्।।
पञ्चम्यां अङ्गरागांश्च शक्त्यालंकरणानि च।।

३. शुक्ल चतुर्थी को होने वाला 'देवी केश विमोचन' का उपचार-

शुक्ल पक्षे चतुर्थ्यां तु देवी केश विमोचनम्।।[1]

४. **अधिवास** जोकि पत्रिका प्रवेश के पूर्व संध्या पर किया जाता है-

'षष्ठ्यां सायं प्रकुर्वीत बिल्ववृक्षेऽधिवासनम्।'
सायं षष्ठ्यां तु कर्तव्यं पार्वत्याश्चाधिवासनम्।
षष्ठ्यभावे तु कर्तव्यं सप्तम्यामपि नारद।।'

दोनों श्लोक क्रमशः श्रीनाथ आचार्य चूडामणि के दुर्गोत्सव विवेक पृ० ४३, में लिंग पुराण के एवं शूलपाणि के दुर्गो तावविवेक पृ० ८ में किसी स्मृति के उद्धरण के रूप में दिये गए हैं।

५. नव पत्रिका प्रवेश कृत्य में नौ औषधियों - रम्भा, कच्चीहरिद्रा, जयन्ती, बिल्व, दाडिम, अशोक, मानक धान्य को नवदुर्गा की पूजा के लिए पूजा मण्डप में लाया जाता है।

सप्तभ्यां पत्रिका पूजा रम्भादिनवभिर्सुता।
रम्भा कच्ची हरिद्रा च जयन्ती बिल्वदाडिमौ।।
अशोको मानकाश्चैव धान्यं च नव पत्रिका।।[2]
ब्रह्माणी कदली काण्डे दाडिमे रक्तदन्तिका।
ध्याने लक्ष्मीर्हरिद्रायां दुर्गा मानकपत्रके।।

---

१. कालिका पु० ६२/१८; जीमूतवाहन के 'कालविवेक' पृ० ११५, में इसे भगवती पुराण का बताया गया है।
२. शू०पा० का दुर्गो, वि०पृ० १२-१३ में बृहन्नदिकेश्वर पुराण का उद्धरण

चामुण्डा कालिका कच्यां शिवा बिल्वे प्रतिष्ठिता।
अशोके शोकरहिता जयन्त्यां कार्तिकी मता॥[१]

६. श्वेतापराजिता बन्धनोपचार -

श्वेता पराजिता बद्धाः सर्वसम्पत् समृद्धिदाः।[२]

७. शाबरोत्सव या विसर्जन

अन्तपादो निशाभागे श्रावणस्य भवेद्यदि।
तदा संप्रेषणं देव्याः दशम्यां शाबरोत्सवः॥[३]

'सम्पूज्य प्रेषणं कुर्याद् दशम्यां शाबरोत्सवैः॥[४]

ये समस्त कृत्य विशेषतः पूर्वी भारत के निबन्धों में अधिक वर्णित है। कहा जा सकता है कि बंगाल एवं मिथिला में अधिक प्रचलित रहे होगें। पश्चिम एवं दक्षिण भारत में प्रचलित प्राचीन स्मृतियों में इस प्रकार के कृत्यों के विषय में उल्लेख नहीं है। हज्रा 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा पर विश्वास करते हैं उनका कथन है कि इन कृत्यों को शास्त्रीय रूप देने की इच्छा भी शाक्त उप पुराणों के पृथक् रूप से लिखे जाने में कारण था - उन्हीं के शब्दों में-

'We have already seen that the peculiar customs of the people of eastern India encouraged them to compose new verses and even write new puranic works in order to furnish these customs with a Sāstric basis. People of other provineas also must have made similar attempts for, the spread of Sakti worship.'

(Hazra - S.U.P.II PP. 15-16)

किन्तु वे स्वयं भी इन कृत्यों के शास्त्रीयकरण मात्र को ही कारण नहीं मानते

But this was not the only cause of composition of new works and chapters on Sakti-worship in later days. There were other reasons.(ibid. P. 16)

---

१. गोविन्दानन्द की 'वर्ष कौमुदी' पृ० ३९१ में भविष्यपुराण का उद्धरण
२. श्रीनाथ के दुर्गोत्सव विवेक पृ० ५० में लिंग पुराण का उद्धरण
३. जीमूतवाहन के काल विवेक पृ० ५१४ में 'सत्य' का उद्धरण
४. (रघुनन्दन के 'दुर्गापूजातत्त्व' पृ० ६ एवं ४२ में भविष्य पुराण का उद्धरण)

दूसरे कारण के रूप में हज़्रा ने भी पुराणों का उसी आधार पर परिशीलन किया है जिसकी चर्चा की जा चुकी है। उन्होंने वैदिक उत्तर वैदिक आदि कथित कालों को सामाजिक विकास के विभिन्न स्तर के रूप में देखा एवं देवी पूजा को अनार्य जातियों की देन मानकर यह दर्शाया कि आर्यों ने लोकप्रचालित पूजा को पौराणिक रूप दिया जब कि वे जन जातियाँ प्रेतों एवं जंगली पशुओं से अपनी सुरक्षा करने के लिए तथा मातृ सत्तात्मक समाज वाली होने के कारण देवी पूजा करतीं थीं। उन्होंने यह भी समझाने की चेष्टा की है कि वैष्णव एवं शैव धर्मों का विकास होने पर भारतीय जन जातीय पूजा पद्धति को देवियों को मुख्यतः उमा एवं विन्ध्यवासिनी की पूजा को उनके साथ जोड़ा गया।[१] इस प्रकार की अनेक व्याख्याएँ पुराणों के अन्य अध्येता भी करते आए हैं।

वस्तुतः इस प्रकार के व्याख्या कर्ताओं की एक विचित्र धारणा है। वे यह मान कर चलते हैं कि ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है तथा इस ग्रन्थ से हम इसके प्रयोक्ताओं के सम्बन्ध में जितनी जानकारी पाते हैं। उससे उनकी सामाजिक स्थिति का ऐतिहासिक दृष्टि से की विश्लेषण कर सकते हैं। अन्य संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् क्रमशः रचे गए एवं उनसे प्राप्त ज्ञानकारी पश्चात्कालीन विकास के ज्ञान की आधार सामग्री बन सकती है।

ऋग्वेद आदि संहिताएँ जो यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली स्तुतियाँ है, उनका प्रयोग इतिहास के ज्ञान के लिए प्रयोग करना भले ही सर्वथा अनुचित न हो किन्तु उन्हें एकाकी ऐतिहासिक साक्ष्यों का स्रोत मान लेना अनुचित है। इन ग्रन्थों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि जो कुछ भी उस काल में लोक में प्रचलित था प्रचारित होता था उसकी समस्त सूचनाएँ इनसे मिलनी ही चाहिए। इन ग्रन्थों की भाषा प्राचीनतम एवं अभिव्यक्ति कठिन है। अतः उनमें प्राप्त मूल उद्धरणों का उपयोग करते समय हमे सावधानी पूर्वक उससे सम्बद्ध भारतीय परम्परा की मान्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रखना चाहिए।

पुराणों ने देवी उपासना को जिसरूप में व्याख्यायित किया है उसे वैदिक परम्परा से मिला कर देखने से स्पष्ट होता है इस पूजा को प्राचीन काल से ही दार्शनिक स्तर पर देखा गया है। चेतना के स्तर पर स्त्री एवं पुरुष में कोई मूल भूत अन्तर नहीं माना गया है। मनु ने भी स्त्री पुरुष के तात्त्विक एकत्व की प्राचीन बात को सामाजिक व्याख्या के सन्दर्भ में भी दोहराई है। उनका कथन है कि प्राचीन काल में विप्रों ने कहा है कि जो पति है वही पत्नी है एवं प्रजा या पुत्र स्त्री का ही आत्मरूप होता है–

---

१. दे. S.U.P. II PP. 17-35।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना।।

मनुस्मृति ९/४५

व्याख्या कार कुलूकभट्ट ने वाजसनेय (शतपथ) ब्राह्मण का उद्धरण दिया है यह आत्मा से आधा ही है अतः जो जाया को प्राप्त नहीं करता वह प्रजोत्पत्ति नहीं करता क्योंकि वह सम्पूर्ण नहीं होता। जब जाया प्राप्त करता है तब प्रजोत्पत्ति करता है तब सम्पूर्ण होता है-

नैकः पुरुषो भवति अपितु भार्यास्वदेहमपत्यानीत्येतत्परिमाण एव पुरुषः। तथा च वाजसनेय ब्राह्मणम् अर्धो हवा एष आत्मनस्तस्माज्जायां न विन्दते नैतत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति तथा चैत द्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता इति। (मनु ९/४५ पर कुलूक की टीका)

क्योंकि प्राचीन भारतीय जीवन शैली शाश्वत धर्म से तादात्म्यापन्ना थी। अतः जो दार्शनिक ज्ञान आध्यात्मिक स्तर पर था कि चेतना के दो विभाग हो सकते है चित् एवं चिति दोनों में तात्त्विक अभेद है। अतः दोनों का अलग-अलग व्यवहार करने पर भी दोनों एक दूसरे के निरपेक्ष रहेगे। पुरुष रूप में भी चेतना की पूर्णता रहेगी एवं शक्ति रूप में भी। व्यवहार में भले ही स्त्री रूप एवं पुरुष रूप में उसे देखा जाए किन्तु जब उसके तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान ही दुर्लभ है उसके भेद की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती यह तथ्य ऋग्वेद १०/१२९ नासदीय सूक्त में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। -

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।।

ऋ. १०/१२९

अतः शक्ति पूजा से सम्बद्ध पौराणिक विवरणों का उपयोग करते हुए यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शक्ति पूजा का पौराणिक रूप मूलतः आर्य तत्त्व ज्ञान की ही देन है एवं एक ही तत्त्व के दो पक्षों के रूप में व्याख्यात है। ब्रह्म के विषय में जो बात छान्दोग्य उपनिषद में सनत्कुमार ने नारद को बताई है कि 'वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होता है' - **स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि।**

(छा०उ० ७/२४/१)

यही वेदान्त की माया के लिए एवं

'स्वयमेव स्वभत्तौ विश्वमुन्मीलयति।' 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः।' आदि शिवसूत्रों में शक्ति के लिए कहा गया है। छान्दोग्य की 'महिमा' शिवसूत्र प्रतिपादित 'स्वातन्त्र्य' एवं पुराण प्रतिपादित 'योगनिद्रा' एक ही तत्त्व के नामान्तर मात्र हैं।

दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि वैदिक जनों ने सृष्टि के कण-कण में चेतना देखी है **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** कहते हुए ईश्वरीय सत्ता के प्रत्येक पक्ष को कार्य के आधार पर एक स्थिति विशेष में स्थिर करके भी उसकी पूजा की है। इसी कारण पुरुष देवताओं एवं देवियों के अनेक नाम उनके कार्य के आधार पर रखे गए हैं एवं उनकी उसी नाम से उसी रूप में पूजा की जाती है। इस वैदिक परम्परा के प्रमाण मध्यकालीन भक्तिमार्ग में भी मिलता है चैतन्य का पूरा सम्प्रदाय महारास काल में राधा के वियोग के एक क्षण की अनुभूति में ही अपनी पूर्णता पाचुका है। उसे कृष्ण या विष्णु के अन्य स्वरूपों अवस्थाओं एवं क्षणों का तात्त्विक ज्ञान होते हुए भी कोई विशेष रुचि नहीं है।

अध्याय ३

विन्ध्यवासिनी विद्या

विन्ध्यवासिनी एवं प्राचीन भारतीय जन

विन्ध्यवासिनी पूजा परम्परा को प्रस्तुत करने से पूर्व उन प्रमुख जातियों के मूल स्वरूप पर कुछ लिखना आवश्यक है, जो प्रधान रूप से विन्ध्यवासिनी की पूजक कही गई हैं। **हरिवंश** एवं **देवी पुराण** में विन्ध्यवासिनी की पूजक वर्गों में शबर बर्बर एवं पुलिन्द की विशेष चर्चा है,

शबरैर्बर्बरैश्चैव पुलिन्दैश्च सुपूजिता।।

घण्टानिनादबहुला विश्रुता विन्ध्यवासिनी।। हरि० २/३/६-७

शबरैर्बर्बरैश्चापि पुलिन्दैश्चापि पूज्यसे।।

विन्ध्यवासिनि वासौघे अमोघे अम्बिके शुभे।।

देवी पु० ३९/९४२;९२७/११०-१११

स्कन्द पुराण (माहेश्वर खण्ड, अरुणाचल माहात्म्य १९/५६) में विन्ध्यवासिनी से किरातिनियों के सन्निध्य की बात कही गई है–

विन्ध्यवासिनि विन्ध्येन किमबन्ध्यं तपः कृतम्।

यत्र मैत्री किरातीभिरभिलभ्या त्वया समम्।।

शबर– शबर कोई जाति विशेष थी अथवा एक विशेष व्यावहारिक गुणवाले वर्ग को शबर कहा जाता था यह सुनिश्चित करना कठिन है। पुराणों में इस जाति का अनेकशः वर्णन है। ७वीं शती के गउडवहो में इस जाति के व्यक्ति को विन्ध्यवासिनी मन्दिर के मार्ग दर्शक के रूप में वर्णित किया गया है। महाभारत के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्ग अच्छे संस्कारों वाला नहीं था। (महाभारत १२/६५/१३१४/२०/४)। **वायु**

(१/४५/१२६) एवं **ब्रह्माण्ड** (२/१६/५७) में इनके लिए क्रमश: **छवर** एवं **शर्वर** शब्दों का प्रयोग है। यद्यपि जिस **वायु पुराण** को अल्बरुनी ने देखा था उसमें **'शबर'** पाठ ही था (Alberuni's-India P. 299-300) **देवीपुराण** के अतिरिक्त अन्य पुराणों में एवं **कथासारित्सागर** तथा **कादम्बरी, चन्द्रकलानाटिका** आदि साहित्यिक ग्रन्थों में 'शवर' शब्द का ही प्रयोग हुआ है।

महाभारत के अतिरिक्त अन्य पौराणिक अभिलेखों से भी यही ज्ञात होता है कि शबर संस्कार हीन थे। **मार्कण्डेय** (५७/४७) **मत्स्य** (११३/४७) एवं **वामन पुराण** (१३/४७-५०) में कहा गया है कि शबरों का देश श्राद्ध के योग्य नहीं होता।

महाभारत (१२/२०७/४३) के अनुसार शबरों का सामूहिक निवास दक्षिणाथ में था। महाभारत के लिए दक्षिणापथ का अर्थ विदर्भ से दक्षिण का भाग था जिसे महाभारत में ही व्याख्यायित भी किया गया है।[1] वैजयन्ती कोश में भी दक्षिण भारत को शबरों की भूमि बताया गया है। प्लिनी (M.A.PP. 51-52) एवं टॉलेमी (C.A.G.I New ed. P. 583,586) ने भी इनकी स्थिति दक्षिण भारत में ही बताई गई है। ये जातियाँ अब भी कोडक, बरहामपुर के उत्तर (जिला गंजाम) तथा चिल्का झील के आसपास में पाई जाती हैं। ग्वालियर के आस पास की सबरी एवं उडीसा के सौरा भी सम्भवत: इसी जाति से सम्बद्ध हैं।

पीछे बताया जा चुका है कि दुर्गापूजा के सम्बन्ध में शाबरोत्सव कृत्य बंगाल एवं मिथिला के निबन्धों में विशेष रूप से वर्णित है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह कृत्य शबर जातियों में अधिक लोकप्रिय थी। तन्त्रों में वाममार्ग के पाँच प्रभेदों में एक शाबर मार्ग भी परिभाषित है। मेरुतन्त्र में आया है कि महाशक्ति स्वयं शाबर रूप में वाममार्गीय उपचारों द्वारा पूजी जाती हैं– **कृत्वा स्वं शाबरं रूपं वाममार्गेण सेविता** (मेरु० ३/११५) बौद्ध देवियों पर्णशाबरी एवं नग्नशाबरी का नामकरण भी इस जाति के नाम पर हुआ है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि शबरों का शाक्तसम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राचीन काल से ही रहा था।

प्रश्न है कि शबर आर्यजनों से मूलत: सम्बद्ध थे अथवा नहीं। हज्रा, सुधाकर चट्टोपाध्याय आदि विद्वान् इन्हें अनार्यमूलक मानते हैं।[2] किन्तु साहित्यिक साक्ष्य इन जातियों को आर्यसन्तति बताते हैं। **ऐतरेय ब्राह्मण** में उल्लिखित है कि विश्वामित्र के १०० पुत्र

---

१. महा ३/६१/२३।
2. S.U.P. II Chap I; by R.C. Hazra; Evolution of Hindu Seets S. Challapadhyaya P.

थे ५० बड़े पुत्र कुमार्गी हो गए शेष ५० वेद मार्गानुयायी रहे। कुमार्गी पुत्रों में अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द; मूतिब आदि अनेक दस्यु संज्ञक व्यक्ति परिगणित हैं। इन सभी को वैदिक समाज के बाहर कर दिया गया था। ये **उदन्त्य** कहे गए एवं आर्यावर्त के बाहर बसे।

'तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः। पञ्चाशदेव ज्यायासो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत्कनीयांस इति। तद् मे ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे। तानु व्याजहारान्तान् वः प्रजान् भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा इति' (ऐ० ब्रा० ७/१८)

इसलिए मूलतः शबर जाति को आर्य जनों से सम्बद्ध जाति ही मानना होगा जोकि अपने कुकृत्यों के कारण सभ्य समाज से निष्कासित थीं।

पुलिन्द–यह भी विश्वामित्र के दस्यु पुत्रों में एक हैं। यह जाति राजनैतिक दृष्टि से भी प्रबल थी।इनकी स्थिति के विषय में कई सूचनाएँ पुराणों से मिलती हैं। **विष्णु-धर्मोत्तर पद्म** (स्वर्गखण्ड ६/५७) एवं **गरुड, पुराण** (५५/१२) में पुलिन्दों का निवास दक्षिणापथ बताया गया है। भीम ने दक्षिणापथ विजय में पुलिन्द नगर पर भी अधिकार किया था। (महा २ (२७११०-१२) पुलिन्द नगर विन्ध्य के दक्षिणी पठार में ही कहीं बसा था। **मार्कण्डेय पुराण** (५७/५०) के आधार पर पुलिदों की स्थिति अपरान्त क्षेत्र में ज्ञात होती है। **पद्म पुराण** (स्वर्ग० ६/३५) 'सिन्धुपुलिन्दकाः' के रूप में उल्लिखित करता है। यह सिन्धु यमुना की सहायक नदी है। इसकी स्थिति बेतवा एवं चम्बल के बीच थी। **मत्स्य पुराण** पुलिन्दों को उदीच्य भाग में बताता है (मत्स्य ११३/४१)। इस पुराण ने इस जाति की स्थिति **हिरण्यावती** नदी के किनारों पर बताया है। यह नदी हिमालय के तटीय क्षेत्र में बहती थी (मत्स्य ११६/१-२० विष्णु धर्मो० १/१४८/१-२०)।

महाभारत भी पुलिन्दों के हिमालय में रहने की पुष्टि करता है (**महा०** ३/१४०/२५)। ऐसा कहा गया है कि गंगा कुरुक्षेत्र में पहुंचने से पूर्व पुलिन्दों की राज्यसीमाओं से होकर बहती थी। **शाक्तिसंगम तन्त्र** में पुलिन्दों को कामरूप का निवासी बताया है।[1] **नाट्यशास्त्र** (१४/४५) में कहा गया है कि पुलिन्द प्राग्ज्योतिष एवं विदेह में समूह गत रूप से रहा करते थे। ऐसा कहा जा सकता है कि पुलिन्द जाति हिमालय एवं

---

1. The Country of Pulinda is placed to east of Silahatta and passibly to the south of Kāmrūpa.- D.C. Sircar Studies in the Geography of A. and M. India P.111

विन्ध्य के मध्य विस्तृत क्षेत्र में अनेक स्थानों पर रहा करते थे।[1] पार्जिटर ने पुलिन्दों को कई वर्गों में बाँटा है[2]। पार्जिटर ने विन्ध्य मौलेय शब्द (मार्क० ५७/६७) को पुलिन्दो का विशेषण माना है। (मार्कण्डेयपुराण Trans. by Pargiter P.335)। **विष्णु पुराण** में इस शब्द के सम्बन्ध में रोचक तथ्य बताया गया है। पुलिंदक नाम पुष्यमित्र शुंग के वंशज का था (वि०पु० ४/२४/३५) शातकर्णि के पितामह का नाम पुलिन्दसेन था (वि०पु०४/२४।४७)। **श्रीमद्भागवत** में भी पुलिन्दक को पुष्यमित्र के वंश में उत्पन्न बताया गया है (भा० १२/१/१६-१७)। **अमरकोश** (२/१०/२०) के अनुसार यह म्लेच्छ जाति थी– **'भेदाः किरातशबर पुलिन्दा म्लेच्छ जातयः।'** देवी पुराण में भी इन्हें म्लेच्छ जाति कहा गया हैं– **पुलीन्दा शबरातंकाः कपालि म्लेच्छ जातयः।** देवी० १३/५२। साथ ही इन्हें विन्ध्य की निवासी जाति के रूप में वर्णित किया गया है। विन्ध्यवन में ये जातियाँ राज्य भी किया करती थीं। रघुवंश में पुलिन्दों का वर्णन विन्ध्यवन में विकसित जाति के रूप में हुआ है–

व्यलंघयत् विन्ध्यमुपायनानि पश्यन् पुलिन्दैरूपपादितानि।।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरास्ताः क्लिश्यन्त उद्यान लता मदीयाः।।

(रघु० १६/१९,३२)

पुलिन्दों के राजवंश की सूची या इतिहास नहीं प्रकाशित हो पाया है। यह जाति पल्लियों या ग्रामों में गणशासन पद्धति के आधार पर अपना विकास करती रही होगी।

भोजवर्मा के समय के अजयगढ़ प्रस्तरामिलेख में भीलों शबरों एवं पुलिन्दों को पल्ली निवासी कहा गया है। भोजवर्मा के पूर्वज त्रैलोक्यवर्मा के भी पूर्वज आनन्दवर्मा ने विन्ध्य वन के मध्यभाग की निवासी इन जातियों पर विजय की थी एवं इन्हें अपना आज्ञाकारी बनाया था।

---

१. विन्ध्य के पुलिन्दों के सम्बन्ध में अनेक पौराणिक साक्ष्य। D.C.Sirear ने Studies in the Geography of Ancient and Medeaval India पृ० ३९ Not 5 में उद्धृत किया है।

2. Pulindas were a hill tribe usually conneted wiith Vindhyan range. Pargiter notices several branches of the Pulind tribes viz 1, a western branch 2. a Himalayan branch related to the kiratas and Tanganes, and 3.a Southern branch. Sircar, P.11)
पुलिंदा विन्ध्य मौलेयाः मार्कण्डेय, पुलिन्दा विन्ध्यमालेया, पुलिन्दा विन्ध्यमूलीका व्रह्म. वायु, पुलिन्द्रा विन्ध्यमूलीका वायु, पुलिन्दा विन्ध्य पुषिका मत्स्य, पुलिन्दा विन्ध्यशौलेयाः वामन।

आज्ञाकरान् प [ल्लि] निवासिनोऽयं चकार भिल्लाञ्छबरान् पुलिन्दान्।"[१]

५१७ ई० के महाराज हस्तिन् के दान पत्र में नागोद के आसपास के क्षेत्र के लिए 'पुलिन्दराजराष्ट्र' शब्द प्रयुक्त है[२] रतलाम के पास से प्राप्त ताम्रलेख में पुलिन्दानक ग्राम की चर्चा है-"मालवके उच्यमान भुक्तौ पूर्वतः वराहकोटग्रामकङ्कटः दक्षिणतो नदी अपरतः लक्ष्मणपट्टिका, उत्तरतः पुलिन्दानकग्रामकङ्कटः।[३] इन दानपत्रों की तिथि गुप्त संवत् ३२० (६३९-४० ई०) है। अशोक के स्तम्भ लेख में वर्णित है कि आन्ध्र एवं पुलिन्द देवानांप्रिय राजा के धर्म के अनुशासन का सर्वत्र पालन करते थे-

"भोजपितिनिकेषु आन्ध्र पुलिन्देषु सर्वत्र देवानां प्रियस्य धर्मानुशिष्टं अनुवर्तन्ते।।"[४]

साक्ष्यों से अधिक स्पष्ट रूप से यह ज्ञात नहीं होता कि विश्वामित्र के ये पुत्र कैसे दस्यु हो गए। ऐतरेय में यह वर्णन है कि इन लोगों ने शुनः शेष को अपना भाई नही माना इस कारण अभिशप्त हो गए। यह सम्भव है कि अशोक के काल में इनपर बौद्ध प्रभाव पड़ा होगा। किन्तु फिर भी वैदिक प्रभाव के कारण यह जाति संस्कारगत रूप से विन्ध्यवासिनी की पूजा करती रही थी। ऊपर दिए गए हरिवंश व देवी पुराण के उद्धरण में 'च' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि वैदिक जन तो आर्या विन्ध्यवासिनी के पूजक थे ही वेद बहिष्कृत जातियाँ भी इनकी पूजा करती थी। शबरों को कादम्बरी आदि में काला एवं भयावह बताया गया है। पुलिन्दों के वर्ण के विषय में कोई चर्चा नहीं की गई है। तथापि हिमालय से सम्बद्ध होने के कारण सम्भवतः ये गौर ही रहे होंगे।

किरात – मूलतः इनका वर्णन हिमालय में प्राप्त होता है किन्तु जैसा कि ऊपर उद्धृत किया जा चुक है ये जातियाँ विन्ध्य में भी रहती थी। (दे० स्कंद पुराण का उद्धरण)। किरातों का वर्णन अथर्ववेद में भी किया गया है। कालिदास ने कुमार सम्भव प्रथम सर्ग में इनको आखेटक रूप का वर्णन किया है-**"यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरा सेव्यते भिन्नशिखण्डि बर्हः।"** (कुमार० १/१५) **भागवत** (२/४/१८) में इन्हें पाप जाति कहा गया है। सम्भवतः ये संस्कृतसमाज के अनुकूल सभ्य नहीं बने थे। किन्तु यह जाति शिव, विष्णु एवं शक्ति की उपासक थीं। किरातों का मूल भी सम्भवतः आर्य सभ्यता में

1. Epigraphiea Indiea Vol I P. 334 अजयगढ़ प्रस्तरामिलेख श्लोक २२ उत्त०
2. Ep. Ind. Vol XXI P. 126
3. Two Grants of Dhruva Sena II, Ep. Ind. Vol VIII, P. 193
४. अशोक के धर्मलेख जनार्दन भट्ट पृ० २६०, **Epi. Indi, Vol 2** पृ० ४६३ में 'पुलि [दे] षु' पाठ है।

ही था। रामायण में इन्हें रूपवान् उन्नतललाट एवं सोने के समान वर्ण वाला बताया गया है–

किरातास्तीक्ष्णचूडाश्च हेमाभाः प्रियदर्शनाः" रामायण ४०/२७

बर्बर – इस जाति के सम्बन्ध में विस्तृत साक्ष्य नहीं मिलते। देवी पुराण में बर्बरों को श्रेष्ठ की संज्ञा दी गई है एवं इन्हें **'वेणुसम्भवसन्तानसम्भूत'** बताया गया है।

वेणुसंभवसंतानसम्भूताबर्बना वराः॥ (देवी० १३/५१)

पेरिप्लस मे बार्बरिकुम' की (Barbaricum) चर्चा है। माना जाता है कि सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर भारत में बर्बर नगर की स्थापना की थी। ईसा की आरम्भिक शतियों में यह नगर सिन्धु के मुहाने पर था। बर्बर जाति का उल्लेख पुराणों में यवनों एवं खसो (शकों) के साथ बहुशः हुआ है। १. **महाभारत** के सभा अ० ३१, वन अ० २५३, शान्ति अ० २०७ आदि स्थलों पर भी यवनों एवं शको के साथ इस जाति का उल्लेख है। अतः सम्भव है कि बर्बर सिकन्दर के बसाए नगर के निवासी भी रहे हों अथवा इन जातियों के एकत्र रहने के कारण ही उस नगर का नाम सिकन्दर ने 'बार्बरिकुम' (= वर्बरों का स्थान) रखा होगा। डॉ० सरकार लिखते हैं–

The great country called varvar is discribed as extending from Māyāpur and as laying to the north of Sapta Śringa. Varvara reminds us of Barbaricum of the Periplus, which lay on the sea at the mouth of the Indus and belonged to the country of Seythia (Indo-Seythia of Ptolemy) i.e. the Śaka country, about the beginning of the Christian era. It is tempting to identify Māyāpura with the place of that name near Haridwar, but it is far away from ancient Barbaricum, Sapta Śring is again a famous place to the north of Nasik. The image of the eighteen armed goddess of the place is 12 feet high (Indian Culture Vol VII P. 450) Sircar, Studies in the Geography of Ancient and Medeaval India, P. 113)

यदि देवी पुराण (१३/५१) की पंक्ति में 'वेणु सम्भवसंतान सभ्भूताः' को बर्बराः का विशेषण माना जाए तब यह कहा जा सकता है कि जाति आर्य शाखा से पृथक् कुल की रही होगी। कुछ लोग इन्हें आभीरों के साथ समीकृत करते है)

इससे मिलते जुलते नामों वाली एक जाति है बाँसफोड़ या बसोर। यह आधुनिक डोम जाति की एक शाखा मानी जाती है। इनका व्यवसाय बाँस से बनने वाली वस्तुओं को बनाना एवं बेचना है। इस जाति के सारे धार्मिक कृत्य देशज होते हैं एव उनमें किसी

ब्राह्मण का पौरोहित्य नहीं होता। इनकी कुल देवी विन्ध्यवासिनी हैं। जिनका मन्दिर विन्ध्याचल में है।[१] जिन यूरोपीय जिप्सियों के मूल संस्कृति का अध्ययन अधुनातन शोधार्थी कर रहे हैं। तथा यह माना जा रहा है कि राजस्थान की कञ्जर जाति का ही एक वर्ग यहाँ से प्रव्रजन करके यूरोप पहुँचा था एवं वहाँ जिप्सी के नाम से जाना जाता है। उस जाति की भी कुलदेवी विन्ध्यवासिनी हैं।[२] क्योंकि विन्ध्यवासिनी की ये प्राचीनतम पूजक जातियाँ आज भी किसी न किसी रूप में जीवित हैं। इसलिए इनपर प्रथमतः टिप्पणी किया गया।

इनके अतिरिक्त विन्ध्यवासिनी के पूजकों के विषय में पौराणिक साक्ष्य के ३ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं १. देव वर्ग २. मनुष्य वर्ग ३. राक्षस वर्ग

(१) देव वर्ग में प्रथमतः विष्णु, ब्रह्मा एवं महेश या शिव की गणना है। ब्रह्माण्ड पुराण का उल्लेख है कि सर्वप्रथम परमात्मा कृष्ण ने देवी की पूजा की। द्वितीय अवसर मधुकैटभ से डरे हुए ब्रह्मा को प्राप्त हुआ तृतीय अवसर त्रिपुर से प्रेरित त्रिपुरारि ने प्राप्त किया इस प्रकार इन त्रिदेवों ने प्राथमिक स्तर पर भगवती की पूजा की-

प्रथमे पूजिता सा च कृष्णेन परमात्मना।
मधुकैटभभीतेन ब्रह्मणा सा द्वितीयतः।
त्रिपुरप्रेरितेनैव तृतीये त्रिपुरारिणा।। ब्रह्माण्ड ५७/२९-३०

देवी विन्ध्यवासिनी कुमारी है अतः सभी देवतागण उनकी स्तुति एव पूजा करते है ऐसा महाभारत का वर्णन है-

कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया।
तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च।। (विरा० ६/१४-१५)

सप्तशती में भी महिषासुर के नाश के पश्चात् इन्द्रादि देवताओं ने देवी की स्तुति की जोकि अपने दार्शनिकता के लिए आज भी प्रसिद्ध है (सप्त अ० ४), इसी प्रकार की स्तुति देवताओं ने शुभ निशुम्भ के बध के पूर्व (अ० ५) एवं पश्चात् भी की थी (अ० ११)।

---

१. देखें-Encyclopedea of Religion and Ethics Vol. II, P. 350
2. E.R.E. Vol VII, P. 653 1- (इस प्रकार के पौराणिक वाक्यों के लिए देखें Sirear-ibid P. 30 Note 1. 67 Note 9।

देवताओं का द्वितीय स्तर गन्धर्व, नाग, यक्ष, एवं किन्नरों का है। ये सभी विन्ध्यवासिनी के पूजक हैं–

'गन्धर्वैरुरगैर्यक्षैः पूज्यते किन्नरैः. . . .' (भविष्य उत्तरपर्व० १३८/१०)

वामन पुराण में उल्लेख है कि विन्ध्यवासिनी जब महिषासुर के नाश के लिए विन्ध्य पर्वत पर पधारीं तब उनकी सेवा देवता, सिद्ध, नाग, विद्याधर, भूतगण एवं अप्सराएँ करती थीं।

देवाश्च सिद्धाश्च महोरगाश्च,
विद्याधरा भूतगणाश्च सर्वे।
सर्वाप्सरोभिः प्रतिरामयन्तः
कात्यायनी तस्थुरपेतशोका।। वामन १८/३७

इसी प्रकार का दृश्य योगमाया के लिए भी दिखाई दिया था–

सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरः किन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्।।

भागवत १०/१०/११

(२) मनुष्यवर्ग में सर्वोच्च स्थान योगियों का हैं। योगीगण विन्ध्यवासिनी का ध्यान करते है यह वर्णन तन्त्रों में बहुशः आया है। भविष्य पुराण भी इसका उल्लेख करता है–

ध्यायन्ति यां योगरता सा देवी परमेश्वरी। उत्तर पर्व १३८/९५०

जो ऋषि गण कल्प के आदि में थे एवं शुभ लक्षण वाले थे वे भी इस महाशक्ति की पूजा करते थे–

अन्येष्वपि युगेष्वादौ सृष्टेः पूर्वं प्रदर्शिताः।
पूज्यतेऽयं पुरादेवीं तेभ्यः पूर्वतरैः शुभैः।। भविष्य उ०प० १३८/११

महाभारत (भीष्म २३/२) में देवी को **'सिद्ध सेनानी'** कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इस तत्त्व की उपासना करने वाले सिद्ध पुरुष थे। देवीपुराण का वर्णन है कि विन्ध्याचल में अनेक प्रकार के वैदिक एवं योगी शैव वैष्णव आदि मार्गों के साधक रहा करते थे।

वेदवेदाङ्ग तत्त्वज्ञास्तत् क्रिया ध्यान तत्पराः।
योगाभ्यास रता नित्यं शिवविष्णुपरायणाः॥
अनेक शाखशाखान्ता निवसन्ति तपोर्थिनः॥ देवी १३/५०-५१

गउडवहो में विन्ध्यवासिनी के मन्दिर के सिद्धों के पूजा के धूम से भरे होने का वर्णन है।

द्वितीय स्तर पर राम (बृहद्धर्म पु०) युधिष्ठिर (महा वि० ६, स्कन्द माहे० अरुण०महा० अ० ६५) अर्जुन (भीष्म २३) सुरथ (सप्तशती) आदि क्षत्रिय, कात्यायन (कालिका पु०) वैशम्पायन (हरिवंश) आदि ब्राह्मण समाधि (सप्तशती) आदि वैश्य, शूद्र, बालक, स्त्री, अन्त्यज, निषाद, शबर, बर्बर, पुलिंन्द, किरात आदि (देवी पुराण) जातियों के व्यक्ति वर्णित हैं। भविष्य पुराण का वचन है कि विन्ध्यवासिनी की पूजा स्नानादि से पवित्र होकर प्रसन्नता एवं प्रफुल्लित मन से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र म्लेच्छ एवं अन्य सभी मनुष्य करते हैं।

स्नातैः प्रमुदितैर्हृष्टैर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैः नृपैः।
वैश्यैः शूद्रैर्भक्तिचित्रैर्म्लेच्छैरन्यैश्च मानवैः।
स्त्रीभिश्च कुरु शार्दूल तद्विधानमिदं शृणु॥

भविष्य उ०प० १३८/२९-३०

यहाँ तक कि दस्युगण भी इस देवी की पूजा के अधिकारी है-

अर्च्यते दस्युभिर्घोरैर्महाबलिपशुप्रिया॥ (हरि० २/२२/५३)

३. राक्षस वर्ग में अन्धक (वामन पु०) महिषासुर (कालिका पु०) आदि राक्षसों द्वारा देवी श्री स्तुति किए जाने का वर्णन है। इनके अतिरिक्त नागों अप्सराओं भूतों द्वारा भी सेवित होने के उदाहरण पुराणों में बहुशः मिलता है। इसप्रकार इस विद्या के उपासकों का विस्तार व्यापक है।[१]

---

१. दे०-हस्त्रा S.V.P. II P. 15+16; S. Chattopadhyay-Evolution of Hindu Sects P. 161 Origin and History of Durga - R.E. Majumdar of R.A.S. 1906; D.e. Sircar the Śākta Peethas P. 3, 20 आदि

विन्ध्यवासिनी विद्या का मूलरूप

पाश्चात्य लेखकों ने आरम्भ से ही भारत को प्राचीनतम उपनिवेश एवं असभ्यों का आदि देश मानकर अपने अध्ययन को आगे बढ़ाया। उनकी यह मान्यता रही है कि भारत में सभ्यता का विकास आक्रान्ताओं ने किया। अत: वे कथित आर्येतर प्रजातियों को अनिवार्य रूप से भारत का प्राचीन निवासी मानते है। किन्तु इस प्रकार की मान्यताओं के कारण भारतीय विद्याओं के अध्ययन के क्षेत्र में अत्यधिक भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई। परिणामत: अनेको प्राचीन तथ्यों की किसी सीमा तक उपेक्षा हुई।

इस प्रकार की अध्ययन शैली को भारतीय लेखकों ने भी अपनाया एवं देवी पूजा पर लिखे गए शोधपत्रों अध्यायों या लेखों में भी इसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। एक सीमा तक राजेन्द्र चन्द्र हज्रा (S.U.P. II. Introductin) सुधाकर चट्टोपाध्याय (Evolution of the Hindu Secto the Sāktas,) दिनेशचन्द सरकार (The Sakta Pecthas) आदि विद्वानों के अतिरिक्त अन्य लेखक विन्ध्यवासिनी की प्राचीनता एवं उनके मौलिक स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ बने रहे।

ऋग्वेद आर्य कही जाने वाली सभ्य जाति के विभिन्न समुदायों के धार्मिक विश्वासों एवं पूजा पद्धति का प्राचीनतम साधन है। साथ ही आर्यजनों के जातीय विकास राजनैतिक एवं सामाजिक प्रभाव तथा भारतीय संस्कृति की परिचित उदारता का इतिहास पुराण प्रस्तुत करते हैं। अत: विन्ध्यवासिनी विद्या के मूलरूप सम्बन्ध में इन दोनों साहित्यों का परम्परानुकूल सन्तुलित अध्ययन करना श्रेयस्कर है। अन्यथा अध्ययन एकाङ्गी एवं निर्णय अपूर्ण रहेगें। उदाहरण के लिए देवी पूजा के सम्बन्ध में अध्ययन करने वाले कुछ प्रतिष्ठित पाश्चात्य पौरस्त्य विद्वानों की मान्यताओं के मूल कथन इस प्रकार हैं।

पायने वैदेशिक विद्वानों में सर्वाधिक चर्चित रहे हैं[१] एवं उनके विचारों के अनेक अनुनायी भी हुए हैं। उन्होंने बंगाल में विकसित शाक्त सम्प्रदाय पर केन्द्रित होकर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। पश्चिम में वैदिक देवताओं की व्याख्या प्रतीकात्मक रीति से प्राकृतिक शक्तियों के रूप में की जाती रही है। पायने उसी शैली से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने स्त्री एवं उसकी प्रतीकात्मकता को प्रकृति के साथ जोड़ा है। उन्होने ने यद्यपि अपने

---

1. Ernest Payne - The Śākatas : An Introductory and comparative study Y M C A Publishing House Calcutta 1933.

ग्रन्थ में भारतीय संस्कृत वाङ्मय एवं तन्त्रों का उपयोग किया है किन्तु पश्चिमी अनुवादों के रूप में, साथ ही भारतीय दर्शन के विकास से भी शक्ति की अवधारण को जोड़ने का यत्न किया है। प्रतीकात्मक अवधारणा के विकास में कथित अनार्य विश्वासों एवं समानान्तर भारतेतर प्रजातियों चीन आदि में प्रचलित विश्वासों की भी समीक्षा की है। अन्ततः उन्होंने अपने निष्कर्षात्मक अध्याय का नामकरण– 'The Impermanance of Śaktism' किया है। सशक्त कश्मीरीय एवं मैथिल शाक्तपरम्पराओं एवं व्याख्याओं के अस्तित्व में रहते हुए भी शाक्त सिद्धान्तों के प्रति पायने ने अपनी रुचिहीनता प्रदर्शित की है।

दूसरी स्वतन्त्र पुस्तक वेण्डेल बीने ने लिखी[1]। ये पायने के प्रकृतिवाद के पोषक रहे हैं। किन्तु उन्होंने ने उमा आदि शब्दों के द्रविड (अनार्य) मूलकता को प्रतिपादित करने के लिए भाषाविज्ञान का भी सहारा लिया है। साथ ही सिन्धुसभ्यता से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों की भी प्रतीकात्मक व्याख्या की है। संस्कृत वाङ्मय की अपने रीति से व्याख्या की है। संस्कृत की सामग्री का अधिकांश भाग उन्होंने मुइर के 'मूल संस्कृत उद्धरण' से प्राप्त किया है। बीने पायने की अपेक्षा विषय के प्रति कम अनुदार हैं।

स्वदेशी विद्वानों में शाक्तधर्म के इतिहास पर पुस्तक नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य ने लिखा है[2]। ये वैदिक एवं पौराणिक साक्ष्यों का पाश्चात्य शैली में उपयोग करते हैं। इन्होंने धर्म को समाजशास्त्र के साथ जोड़ा है एवं समाज के विकास के साथ शाक्त परम्पराओं के परिवर्तन की समालोचना करने की चेष्टा की है। संस्कृत उद्धरणों को अपने अनुसार तोड़ना मरोड़ना एवं उसकी व्याख्या करना इनके अध्ययन की प्रकृति रही है। इनकी कल्पना में शाक्त उपासना पद्धति का उदय मातृसत्तात्मक सामाजिक संरचना की देन है। इनके विचार से वैदिक धर्म एवं शैव तथा वैष्णव धर्म ने शाक्तधर्म को आयास पूर्वक द्वितीय स्थान पर रखा क्योंकि ये धर्म पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना की देन हैं। इनके विचार से इन धर्मों ने शाक्त धर्म की मौलिक परम्पराओं एवं आदर्शों को अङ्गी के स्थान

1. Wendell Beane - Myth, Cult and Symbols in Śākta Hindusm : A study of the Indian Mother Goddess, E. J. Brill Leiden 1977.
2. Indian Motha Goddesses एवं History of Sakta Religion, Pushpendra Kumar, Sakti Cult in Ancient India (with special referance to the Puranic Literature), Bhartiya Publishing House (Varanasi 1974).

पर अंग बना डाला। इस प्रकार के प्रमत्तप्रलापीय आधारों पर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की है।

कुछ विद्वान् शक्ति विद्या का मूल वेदों में भी खोजते हैं। किन्तु उसके बहुदेववादी व्याख्याओं के जाल से निकले बिना। दुर्गा (विन्ध्यवासिनी का एक नाम) के मूल को ऋग्वेद से बताने वाले कुछ विचार इस प्रकार है। कुछ लोग वैदिक निर्ऋति से दुर्गा के स्वरूप का विकास बताते हैं। क्योंकि निर्ऋति क्रूर देवता है।[१] किन्तु वैदिक कृत्या निर्ऋति की तुलना दुर्गा से किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। इन दोनों के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाली कोई क्षीण कड़ी भी दृष्टिगोचर नहीं होती। स्वामी अभेदानन्द आदि विद्वान् वैदिक रात्रि से दुर्गा विन्ध्यवासिनी का विकास बताते हैं।[२] प्रतापचन्द्र घोष ने अपनी बँगला पुस्तक **दुर्गा पूजा** में लिखा है कि दुर्गा वेद की उषा हैं। पी०वी० काणे इसका खण्डन करते हैं[३]। उनका कथन है कि कालिका पुराण की भयानक दुर्गा एवं वैदिक सुन्दरी उषा के बीच कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कुछ विद्वान् आर्यों को कृषि प्रधान जन मानते हुए मातृ उपासना के प्रति उनकी रुचि का उल्लेख करते हैं।[४] मैकेन्जी का विचार है कि सम्पूर्ण शाक्त समुदाय भरतों की देवी भारती (सरस्वती देवी) से विकसित हुआ।[५] इस प्रकार के मत स्पष्ट रूप से एकांगी एवं अग्राह्य हैं। कुछ लोग द्रविडों में मातृसत्तास्मक समाज व्यवस्था बताते हुए उन्हीं की संस्कृति में दुर्गा पूजा का मूल खोजते हैं।[६]

दुर्गा की पूजा के इतिहास से सम्बन्धित ३ लेखों का भी उल्लेख करना आवश्यक है—

1. Durgā : Her Origin and History (V.C. Majumdar, journal of Royal Asiatic Soceity of Bengal, 1906)

2. Cult of Vana Durga (by N.N. Chaudhuri J.R.A.S.B. Part II, 1930)

---

1. देखें E.R.E. Vol VI P. 706 एवं Vol. VII P. 813
2. The philosophical idies of Swami Abhedanand vol II, P. 507
३. देखें धर्मशास्त्र का इति० भाग ४ अध्याय ८ 'दुर्गोत्सव' का अन्तिम अंश जहाँ उन्होंने दुर्गा पूजा की प्राचीनता पर कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।
४. E.R.E. Vol IV, P. 828 Female Principle लेख में Starburk का अभिमत।
५. Indian Myth and Legend, P.39
6. Oxford History of India-Sleter; P.63, 91-92, 103

3. Briddheswari : Cult the old lady (by N. N. Chaudhuri, J.R.A.S.B. Part 5 1935)

इन लेखों में प्रथम दो में महाभारत की दुर्गा स्तुतियों को एवं हरिवंश के आर्यास्तव को आधार बनाकर विन्ध्यवासिनी की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए दुर्गा को अनार्यमूल की देवी बताने की चेष्टा की गई है।[1]

इतिहास की दृष्टि से अध्ययन करने वाले सुधाकर चट्टोपाध्याय का विचार है कि विन्ध्यवासिनी के पूजक श्वेत हूणों के काल में अधिक महत्त्वशाली थे। ये जातियाँ शबर आदि के रूप में विन्ध्य के पश्चिमी भाग में रहती थीं। इन्होंने बड़ी उदारता से वैष्णव सम्प्रदाय को अपनी पूजा परम्परा में स्थान दिया इतना ही नहीं इन जातियों ने बौद्धों एवं इश्तर (सुमेरियाई) देवी के धार्मिक प्रभावों को आत्मसात् किया (दे० The Evolution of Theistic Seets P. 104) डॉ० चट्टोपाध्याय यह भी लिखते है कि जिस क्षेत्र में विन्ध्यवासिनी की पूजा होती थी। उस क्षेत्र में कभी प्रागाग्नेय जातियाँ रहती थी। सम्भव है विन्ध्यवासिनी उन्हींकी देवी रही हों जिसे बाद में बसी शबर आदि जातियों में अपना लिया[2]।

किन्तु डॉ० चट्टोपाध्याय की परिकल्पना में विप्रतिपत्ति है। प्रथमतः यह स्मरण रखना चाहिए कि जो काल विन्ध्य के प्रागाग्नेयों का बताया जाता है वही काल सिन्धु सभ्यता का भी है एवं उस काल में भारत एवं सुमेरिया का व्यापारिक सम्बन्ध चरम पर था। ये जातियाँ सिन्धु सभ्यता के नगरों में भी रहती थी एवं सुमेर आया जाया करती थीं। यदि इश्तर की पूजा का प्रभाव विन्ध्यवासिनी पूजा पर पड़ना था तो उसी काल में पड़ता हूणों के काल में इस प्रकार के प्रभाव का औचित्य नहीं है। जबकि सुमोरिया की सभ्यता समाप्त हो चुकी थी। अपितु यह सम्भव हो सकता है कि बौद्धों ने इश्तर एवं

---

1. दुर्गा के अनार्य मूलकता को बाद के इतिहास करों ने भी समर्थन दिया है दे० Mother Goddess Cult Series in Incient India - by D.D. Koshambi I.R.A.S. of Great Brt.& I., 1960 P.17, 135;
2. The association of the goddess wth the Vindhyan regin is intersting for the range was the home of various Proto Austroloid tribes, while Iswhere the goddess is expressedly associated with the sabaras and the Pulindas who lived on the same range. The description clearly shows that a Mothergoddess of the Perota Austroloid tribes wasnow being merged with the great Aryan Mother goddess and the saktas were limbng on Aryan habits.
   Evolution of Hindu Sects-Sudhakar Chattopadhyay P. 161, Delhi 1970.

विन्ध्यवासिनी की पूजा को मिश्रित करके अपनी देवी 'तारा' की पूजा विकसित की हो। इश्तर या अस्तार्ते का नाम साम्य तारा से माना जा सकता है।

यदि विन्ध्यवासिनी को प्रागाग्नेयों की मूलदेवी माना जाए तब इस देवी का मूल स्थान फिलिस्तीन मानना होगा क्योंकि आग्नेय जातियों को वहीं का मूल निवासी माना जाता है। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण हमें नहीं मिला है जिससे विन्ध्यवासिनी विद्या का मूल देश फिलिस्तीन सिद्ध किया जा सके। धार्मिक परम्पराओं का आयात चोरी छिपे नहीं किया जा सकता। यह ग्राह्य नहीं है कि सुमेरिया या फिलिस्तीन या आनोथोलिया से किसी देवी की पूजा सीधे विन्ध्यप्रदेश में लाकर स्थापित कर दी जाए एवं जब वे सभ्यताएँ नष्ट भी हो जाएँ तब भी भारत में बड़ी श्रद्धा से वह पूजा परम्परा चलती रहे। इसप्रकार के धार्मिक विश्वासों के प्रचार विस्तार के क्रम होते हैं। यदि इश्तर की उपासना के प्रभावों को भारत में प्रवेश मिलता तो इसके प्रमाण सर्वप्रथम हडप्पा में प्राप्त होते।

जबकि वास्तविकता यह है कि भारतीय देवी देवताओं की पूजा उपासना आर्यों के प्रव्रज्या के साथ विश्व भर में ईसा के कम से कम ४००० वर्ष पूर्व से ही प्रचारित होता रहा था। आधुनिक अनुसंधान कर्ताओं ने आर्यों का प्रव्रज्या काल यही स्वीकार किया है[१]। जिन स्थलों में प्राचीन आर्यों ने अपने ज्ञान का प्रचार किया था। वहाँ बाद के धर्मों ने (ई०पू० ६ठी शती एवं उसके बाद से) अपना स्थान बनाया। आर्य ज्ञान की शाश्वत भूमि भारत में थी वह आज भी वर्तमान है एवं उसका अविच्छिन्न सातत्य है। भारत में उत्पन्न बौद्ध जैन आदि वेदविरोधी होते हुए भी शाक्त सम्प्रदाय से प्रभावित रहे एवं पर्ण शाबरी, नग्न शाबरी (बौद्ध) एवं चण्डिका (जैन, आचाराङ्ग चूर्ण ६१) की पूजा करते रहे। इसी प्रकार स्पूनर फारस देश से शक्ति पूजा की परम्परा को आयातित बताने की चेष्टा करते हैं।[२] किन्तु उन्होंने भी आर्य प्रव्रज्या काल का विचार तो नहीं ही किया है साथ ही दार्शनिक स्तर पर समृद्ध भारत में दुर्गा पूजा के बाहर से आने या लाए जाने के कारणों को व्याख्यायित भी नहीं कर पाए।

---

1. द्रष्टव्य Journal of G. N. Jha K.S.V. के Vol, XXXVIII एवं XXXIX संयुक्त अंक १९८५ डा० रामशरण शास्त्री स्मृति खण्ड पृ० ४५-८५ में प्रकाशित लेख–

   The Date of Ṛgveda and Aryan Migration (An Assassment of the up to date Research-Linguistic and Archarological) by Satya Swarup Misra
2. (Journal of Royal Asiatie Society of Greet Britainn and Ireland 1915 P. 81)

इस प्रकार के मत मतान्तरों को सार्वभौम मान्यता न मिल पाना स्वाभाविक है। भारतीय देवियों विशेषत: विन्ध्यवासिनी के स्वरूप, व्यक्तित्व एवं चरित्र में भारतीय दर्शन में विकसित चेतना के विविध स्वरूपों का स्पष्ट दर्शन होता है। अत: उचित यही होगा कि इस विद्या के मूल का अनुसन्धान वेदों एव पुराणों की परम्पराओं में ही देखा जाए।

वैदिक विवरण:

पीछे बताया गया है कि दुर्गा का मूल वेदों में खोजने वाले अध्येताओं के एकवर्ग ने वैदिक निर्ऋति को दुर्गा का मूल बताने की चेष्टा की है। इसका कारण उसका क्रूर चरित्र बताया गया है। यद्यपि यह कल्पना सभी दृष्टियों से व्यर्थ है तथापि आत्मतोष के लिए इस सम्बन्ध में भी कुछ पंक्तियाँ लिखी जा रही है।

निर्ऋति

निर्ऋति का उल्लेख ऋग्वेद में (१०/५९/१-४) में एक कृत्या के रूप में है। इस सम्बन्ध में एक कथा है। इक्ष्वाकुवंश में एक राजा था असमाति। उसके पुरोहित गोपायन के पुत्र बन्धु सुबन्धु श्रुतबन्धु एवं विप्रबन्धु नामक चार ब्राह्मण थे। राजा ने किसी कारण वश इन पुरोहितों को त्याग दिया एवं अन्य दो मायावी पुरोहितों का वरण कर लिया। पूर्व पुरोहितों को राजा का यह कार्य गर्हित लगा उन लोगों ने असमाति से क्रुद्ध होकर उसके लिए अभिचार किया। उन मायावी पुरोहितों ने सुबन्धु के प्राण कृत्या प्रयोग कर के ले लिया।[१]

ऋग्वेद १०/५८/२ के सायण भाष्य में इसी कथा का विस्तार शाट्यायन के ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। तदनुसार गोपायन के पुत्रगण असमति के लिए खाण्डवप्रस्थ (दिल्ली) में 'सत्र' कर रहे थे। उसी काल में किलात एवं आकुलि नामक मायावी पुरोहितों ने यज्ञ के लिए जिस अग्नि में चावल पकाया जा रहा था उसी में मांस एवं असुरान्न का हवन कर दिया। यज्ञ भ्रष्ट हो गया। इस कृत्य के कारण गौपायनों की आहुतियाँ असमाति की हानि कर रही थीं। असमाति ने किलाताकुली को अपनी हानि का कारण बताया। उन दोनों ने कहा कि इसका प्रतिषेध भी हम लोग ही कर सकते हैं। हम

---

१. तथा चानुक्रान्तं-'अथ हैक्ष्वाको राजाऽसमातिर्गौपायनान्बनध्वादीन् पुरोहितांस्त्यक्त्वान्यौ मायाविनौ श्रेष्ठतनौ भूत्वा पुरोदधे। तमितरे क्रुद्धा अभिचेरु:। अथ तौ मायाविनौ सुबन्धो: प्राणानाचिक्षिपतुरथ हास्य भ्रातरस्त्रय:। मा प्र गामेति षट्कं गायत्रं स्वस्त्ययनं जप्त्वा इति।" ऋ १०/५८ सायण भाष्य में उद्धृत

ऐसी व्यवस्था कर देंगे कि आहुतियाँ आपकी क्षति नहीं कर पाएँगी। पुनः उन दोनों ने जाकर सोते हुए सुबन्धु के प्राण को आहुति की अंतः परिधि में रख दिया।[1]

सुबन्धु के प्राण हरण के लिए निर्ऋति नाम्नी पाप देवता को बताया गया है। एवं उसके भाईयों ने उसे भगाने की प्रार्थना की (ऋ १०/५९/१-४)। इसके पश्चात् असुनीति, अनुमति, पथ्यास्वस्ति एवं पृथिवी, सोम, पूषन् नामक देवी देवताओं से प्रार्थना किया कि सुबन्धु का मन इन्द्रिय संघात के साथ पुनः प्राप्त हो जाए (ऋ० १०/५९/६-७)। इन्द्र से प्रार्थना की गई कि वे असमाति को बलशाली बनाएँ। अगस्त्य की बहन सुबन्धु आदि की माता ने असमाति की प्रशंसा की (१०/६०/५-६)। असमाति ने प्रसन्न होकर अग्नि की स्तुति की एवं सुबन्धु के प्राण को अपनी परिधि से मुक्त करने के लिए कहा। अग्नि ने कहा कि मैने सुबन्धु के प्राण को हित की कामना से गुप्त कर रखा था। अग्नि ने सुबन्धु के प्राण लौटा दिए एवं सुबन्धु जीवित हो गए।

स्तुतः स राजा सुप्रीतस्तस्थौ गौपायनानभि।
सूक्तेन तेऽस्तुवन्नग्निं द्वैपदेन यथात्रिषु॥
अथाग्निरब्रवीदेतानयमन्तःपरिध्यसुः।
सुबन्धोरस्य चेक्ष्वाकोर्भया गुप्तो हितार्थिना॥
सुबन्धवे प्रदायासुं जीवेत्युक्त्वा च पावकः।
स्तुतो गौपायनैः प्रीतो जगाम त्रिदिवं प्रति॥
अयं मातेति हृष्टास्ते सुबन्धोरसुमाह्वयन्।
शरीरमभिनिर्दिश्य सुबन्धोः पतितं भुवि॥ बृहद्देवता ७/९७-१००

उक्त विवरण से निर्ऋति के स्वभाव के विषय में ज्ञान नहीं मिलता किन्तु सुबन्धु के प्राण को निर्ऋति ने हरण किया यह कथन एवं साथ ही उसके प्राणों का अग्नि की अन्तः परिधि में सुरक्षित रहना, निर्ऋति का किसी अंश में अग्नि के साथ सम्बद्ध होने

---

१. अत्रोक्ताख्याने शाट्यायनकम्-'असमातिं' राथप्रौष्ठं गौपायना अभ्यगमंस्ते खाण्डवे सत्रमासताथ हासमातौ राथप्रौष्ठे किलाताकुली ऊषतुरसुरमायौ तं ह स्मानग्नौ निधायौदनं पचतोग्नौ मांसमथासुरान्नं दग्ध्वेक्ष्वाकवः पराबभूवुः। तमसमातिं राथप्रौष्ठं गौपायनानामाहुतयोऽभ्यतपन् सोऽब्रवीदिमौ किलाताकुली इमा वै मा गौपायनानामाहुतयोऽभितपन्तीति तावब्रूतां तस्य वा आवामेव भिषजौ स्व आवां प्रायश्चितिरावां तथा करिष्यावो यथा न्वेता नाभितपन्तीति। तौ परेत्य सुबन्धोर्गौपायनस्य स्वपतः प्रमत्तस्यासुमाहुत्यन्तः परिधिन्यधत्ताम्॥" ऋ १०/५८/२ भाष्य

इस प्रकार के मत मतान्तरों को सार्वभौम मान्यता न मिल पाना स्वाभाविक है। भारतीय देवियों विशेषत: विन्ध्यवासिनी के स्वरूप, व्यक्तित्व एवं चरित्र में भारतीय दर्शन में विकसित चेतना के विविध स्वरूपों का स्पष्ट दर्शन होता है। अत: उचित यही होगा कि इस विद्या के मूल का अनुसन्धान वेदों एव पुराणों की परम्पराओं में ही देखा जाए।

वैदिक विवरण:

पीछे बताया गया है कि दुर्गा का मूल वेदों में खोजने वाले अध्येताओं के एकवर्ग ने वैदिक निर्ऋति को दुर्गा का मूल बताने की चेष्टा की है। इसका कारण उसका क्रूर चरित्र बताया गया है। यद्यपि यह कल्पना सभी दृष्टियों से व्यर्थ है तथापि आत्मतोष के लिए इस सम्बन्ध में भी कुछ पंक्तियाँ लिखी जा रही है।

निर्ऋति

निर्ऋति का उल्लेख ऋग्वेद में (१०/५९/१-४) में एक कृत्या के रूप में है। इस सम्बन्ध में एक कथा है। इक्ष्वाकुवंश में एक राजा था असमाति। उसके पुरोहित गोपायन के पुत्र बन्धु सुबन्धु श्रुतबन्धु एवं विप्रबन्धु नामक चार ब्राह्मण थे। राजा ने किसी कारण वश इन पुरोहितों को त्याग दिया एवं अन्य दो मायावी पुरोहितों का वरण कर लिया। पूर्व पुरोहितों को राजा का यह कार्य गर्हित लगा उन लोगों ने असमाति से क्रुद्ध होकर उसके लिए अभिचार किया। उन मायावी पुरोहितों ने सुबन्धु के प्राण कृत्या प्रयोग कर के ले लिया।[१]

ऋग्वेद १०/५८/२ के सायण भाष्य में इसी कथा का विस्तार शाट्यायन के ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। तदनुसार गोपायन के पुत्रगण असमति के लिए खाण्डवप्रस्थ (दिल्ली) में 'सत्र' कर रहे थे। उसी काल में किलात एवं आकुलि नामक मायावी पुरोहितों ने यज्ञ के लिए जिस अग्नि में चावल पकाया जा रहा था उसी में मांस एवं असुरान्न का हवन कर दिया। यज्ञ भ्रष्ट हो गया। इस कृत्य के कारण गौपायनों की आहुतियाँ असमाति की हानि कर रही थीं। असमाति ने किलाताकुली को अपनी हानि का कारण बताया। उन दोनों ने कहा कि इसका प्रतिषेध भी हम लोग ही कर सकते हैं। हम

---

१. तथा चानुक्रान्तं-'अथ हैक्ष्वाको राजाऽसमातिर्गौपायनान्बनध्वादीन् पुरोहितांस्त्यक्त्वान्यौ मायाविनौ श्रेष्ठतनौ भूत्वा पुरोदधे। तमितरे क्रुद्धा अभिचेरु:। अथ तौ मायाविनौ सुबन्धो: प्राणानाचिक्षिपतुरथ हास्य भ्रातरस्त्रय:। मा प्र गामेति षट्कं गायत्रं स्वस्त्ययनं जप्त्वा इति।" ऋ १०/५८ सायण भाष्य में उद्धृत

ऐसी व्यवस्था कर देंगे कि आहुतियाँ आपकी क्षति नहीं कर पाएँगी। पुनः उन दोनों ने जाकर सोते हुए सुबन्धु के प्राण को आहुति की अंतः परिधि में रख दिया।[1]

सुबन्धु के प्राण हरण के लिए निर्ऋति नाम्नी पाप देवता को बताया गया है। एवं उसके भाईयों ने उसे भगाने की प्रार्थना की (ऋ १०/५९/१-४)। इसके पश्चात् असुनीति, अनुमति, पथ्यास्वस्ति एवं पृथिवी, सोम, पूषन् नामक देवी देवताओं से प्रार्थना किया कि सुबन्धु का मन इन्द्रिय संघात के साथ पुनः प्राप्त हो जाए (ऋ० १०/५९/६-७)। इन्द्र से प्रार्थना की गई कि वे असमाति को बलशाली बनाएँ। अगस्त्य की बहन सुबन्धु आदि की माता ने असमाति की प्रशंसा की (१०/६०/५-६)। असमाति ने प्रसन्न होकर अग्नि की स्तुति की एवं सुबन्धु के प्राण को अपनी परिधि से मुक्त करने के लिए कहा। अग्नि ने कहा कि मैने सुबन्धु के प्राण को हित की कामना से गुप्त कर रखा था। अग्नि ने सुबन्धु के प्राण लौटा दिए एवं सुबन्धु जीवित हो गए।

स्तुतः स राजा सुप्रीतस्तस्थौ गौपायनानभि।
सूक्तेन तेऽस्तुवन्नग्निं द्वैपदेन यथात्रिषु।।

अथाग्निरब्रबीदेतानयमन्तःपरिध्यसुः।
सुबन्धोरस्य चेक्ष्वाकोर्भया गुप्तो हितार्थिना।।

सुबन्धवे प्रदायासुं जीवेत्युक्त्वा च पावकः।

स्तुतो गौपायनैः प्रीतो जगाम त्रिदिवं प्रति।।
अयं मातेति हृष्टास्ते सुबन्धोरसुमाह्वयन्।
शरीरमभिनिर्दिश्य सुबन्धोः पतितं भुवि।। बृहद्देवता ७/९७-१००

उक्त विवरण से निर्ऋति के स्वभाव के विषय में ज्ञान नहीं मिलता किन्तु सुबन्धु के प्राण को निर्ऋति ने हरण किया यह कथन एवं साथ ही उसके प्राणों का अग्नि की अन्तः परिधि में सुरक्षित रहना, निर्ऋति का किसी अंश में अग्नि के साथ सम्बद्ध होने

---

१. अत्रोक्ताख्याने शाट्यायनकम्-'असमातिं' राथप्रौष्ठं गौपायना अभ्यगमंस्ते खाण्डवे सत्रमासताथ हासमातौ राथप्रौष्ठे किलाताकुली ऊषतुरसुरमायौ तं ह स्मानग्नौ निधायौदनं पचतोग्नौ मांसमथासुरान्नं दग्ध्वेक्ष्वाकवः पराबभूवुः। तमसमातिं राथप्रौष्ठं गौपायनानामाहुतयोऽभ्यतपन् सोऽब्रवीदिमौ किलाताकुली इमा वै मा गौपायनानामाहुतयोऽभितपन्तीति तावब्रूतां तस्य वा आवामेव भिषजौ स्व आवां प्रायश्चितिरावां तथा करिष्यावो यथा न्वेता नाभितपन्तीति। तौ परेत्य सुबन्धोगौपायनस्य स्वपतः प्रमत्तस्यासुमाहुत्यन्तः परिधिन्यधत्ताम्।।" ऋ १०/५८/२ भाष्य

का संकेत देता है। निर्ऋति मात्र कृत्या या अभिचार-प्रयोग (मारण) के साधन के रूप में वर्णित हुई है। महामहिमामयी दुर्गा के साथ निर्ऋति के स्वरूप सम्बन्ध की कल्पना भी समीचीन नहीं है। अमर सिन्हा निर्ऋति का तदात्म्य अलक्ष्मी या दरिद्रा से करते हैं जिसे दूर भगाने की प्रार्थना श्री सूक्त में किया गया है[१]

शतपथ (५/२/३/३) में निर्ऋति का निवास दक्षिण दिशा में बताया गया है। तै० ब्रा० (१/६/१/४)एवं अथर्व० (५/७/९) से ज्ञात होता है कि निर्ऋति काले कपड़े पहनती है। निर्ऋति दक्षिण एवं पूर्व के कोण की स्वामिनी भी है।

उक्त विवरण से यह अवश्य स्पष्ट है कि निर्ऋति वैदिक कृत्या है एवं क्रूर स्वभाव वाली है। अग्नि की अन्त:परिधि में भावात्मक कृत्या रूप में स्थित रहती है। पुराणों में निर्ऋति पुरुष रूप में देवताओं की सेना के दैवी योद्धा के रूप में वर्णित है। स्कंद पुराण के वर्णन में देवासुर संग्राम में उसने स्कंद स्वामी के साथ देवताओं की सेना में तारकासुर के सेनापतियों से युद्ध किया था।

वाक् वृहद्देवता कार ने वैदिक एकात्मता का प्रतिपादन करते हुए विवरण दिया है कि वेदों में जितनी भी देवियों के महत्त्वूर्ण स्वरूप वर्णित है वे सभी **'वाक्'** के रूप भेद मात्र हैं। वाक् के ३ रूप है – पार्थिवी, मध्यमा, दिव्या। इन तीनों रूपों में से प्रत्येक के भी कई नाम एवं रूप हैं। उन सभी की स्तुति ऋषि गण करते हैं।

पार्थिवी मध्यमा दिव्या वागपि त्रिविधा तु या।
तस्या सूक्तानि नामानि यथास्थानं निबोधत।। बृहद्दे० २/७२

पृथिवी स्थानीया वाग्देवी नदी, आप: एवं ओषधियों के नाम से भी स्तुत होती है। एवं अरण्यानी रात्री श्रद्धा उषा सरस्वती पृथिवी एवं अग्नायी नामों से इसी वाक् की ही स्तुति होती है।

कृत्स्नं तु भजते सूक्तं एषा नद्य स्तुता भुवि।
यदा चैनं भजन्त्यापो यदा चौषधयो यदा।।
अरण्यानी च रात्री च श्रद्धा चोषा:सरस्वती।।
पृथिवीञ्चैव नामैषा भूत्वार्प्यर्चं भजन्ति च।।
अग्नायी नामतोप्येषां भूत्वाग्नेयेषु केषुचित्।
स्तुता निपातमात्रेण तत्र तत्रेह दृश्यते।। (बृह० २/७३-७५)

१. (Devata P. २०२)

इन सभी को निरुक्तकार पार्थिव देवियाँ मानते हैं। (नि० ५/३)। यद्यपि उषा एवं सरस्वती अन्तरिक्ष-स्थानीय देवियाँ मानी गई है (नि० ५/५)।

बृहद्देवताकार ने भी अन्य स्थान पर उषा एवं सरस्वती के स्थान पर इडा का संग्रह किया है। इन पार्थिव देवियों के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ये सभी देवियाँ पार्थिव अग्नि में निवास करती हैं–

नद्यश्चैवैनमापश्च सर्वा औषधयश्च ह।
रात्र्यप्याग्नाय्यरण्यानी श्रद्धेडापृथिवी तथा।। (बृ० १/११२)

अन्तरिक्ष स्थानीया वाक् को शौनक इस प्रकार बताते हैं–

मध्ये सत्यदितिर्वाक् च भूत्वा चैषा सरस्वती।
समग्रं भजते सूक्तं त्रिभिरेव तु नामभिः।।

[1]एषैव दुर्गा भूत्वार्चं कृत्वा स्यात् सूक्तभागिनी।
तन्नामानि यमीन्द्राणी सरमा रोमशोर्वशी।।
भवत्यग्न्या सिनीवाली राका चानुमतिः कुहू।।
गौर्धेनुर्देवपत्न्योऽघ्न्या पथ्यास्वस्तिश्च रोदसी।
नैपातिकानि ऋग्भाञ्जि येषां नामानि कानिचित्।। (बृ० २/ ७६-७८)

कुहू अन्तरिक्ष की देवी हैं। इनका स्थान इन्द्र के क्षेत्र में बताया जाता है एवं इनकी स्तुति भी इन्द्र के साथ की जाती है (बृहद्दे० १/१२७-१२८) इसकी स्तुति अंगिरसों के साथ भी होती है। (बृ० ८/१२५) पुराणों में कुहू का ही नाम एकानंशा कहा गया है।

द्यु लोक में वाक् किन रूपों में व्यक्त होती है इसका विवरण बृहद्देवताकार निम्नवत् देते हैं–

---

१. श्लोक ७७ की प्रथम पंक्ति के विषय में बृहद्देवता के आंग्लानुवाद के हिन्दी अनुवादक डॉ० रामकुमार राय ने स्वकल्पित टिप्पणी दी है कि दुर्गा वैदिक देवी नहीं हैं अतः यह पंक्ति अवश्य ही प्रक्षिप्त है। डॉ० राय की कल्पना निर्मूल है क्योकि रात्रि सूक्त के खिल में दुर्गा का वर्णन है, एवं शौनक अपने बृहद्देवता को खिल को समाहृत करके लिखा है। वे लाक्षा मेधा श्री आदि केवल खिल सूक्तों की ऋषिकाओं को भी ब्रह्मवादिनियों में परिगणित करते हैं।

यदा तु वाग्भवत्येषा सूर्यामुं लोकमाश्रिता।
तथा सूक्तमुषा भूत्वा सूर्या च भजतेऽखिलम्।।

वृषाकपाय्यृचं भूत्वा सरण्यूर्द्वे च ते ध्रुवम्।
निपातमात्रं भजते द्युवच्च पृथिवी सती।।

सूर्यामेव सतीमेतां गौरीं वाचं सरस्वतीम्।
पश्यामो वैश्वदेवेषु निपानैव केवला।। (बृ० २/७९-८१)

इनमें वृषाकयायी एवं सरण्यू का उल्लेख ऋग्वेद में एक-एक बार आया है।

इस प्रकार बृहद्देवताकार ने वैदिक देवियों के स्वभाव के अनुसार उनका वर्गीकरण कर दिया एवं उन सभी को 'वाक्' के मूल चेतना की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में देखा।

वैदिक देवियों के विविध स्वरूपों को यदि देखा जाए तो अनेक देवियों के स्वभाव के साथ विन्ध्यवासिनी के पौराणिक स्वरूप का साम्य दिखाई देता है। बृहद्देवता में परिगणित देवियों के अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता या तै० ब्राह्मण की अम्बिका, उपनिषद की दुर्गा या दुर्गि के चरित्रों में भी इस देवी के स्वभाव की झलक दिखाई देती है। वैदिक देवियों में नक्तोषा, एवं वाक् के जो स्वरूप ऋग्वेद में वर्णित हैं, उनमें साथ सर्वेश्वरी विन्ध्यवासिनी के पुराणों में उल्लिखित गुणों की तुलना विशेष महत्त्व रखती है।

उषस- उषा द्युलोक की दुहिता (कन्या) है- **यां त्वा दिवो दुहितः** ऋ ७/७९/३; **दुहिता दिवः** ७/८१/१,३ आदि)। उषा संपूर्ण संसार को अभिभूत करने वाले तम का नाश करती है– **ज्योतिर्बाधमाना तमांसि** ७/७७/१ **'तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी'** ७/८१/१ एवं ६/६४; ७/७८; १०/१७२ आदि स्थलों पर भी इस प्रकार की स्तुतियाँ हैं। उषा अपने इन रूपों में कुमारी रूप में ही वर्णित है। उषा को धनप्रदात्री मांना गया है। (**चोदयित्री मघोनः** ७/८१/६; **वसूनि चोदय** ७/७७/४ आदि) उषा शक्ति प्रदान करने वाली देवी है (ऋ० १/४४)। निद्रामग्न व्यक्तियों को जागरित कर के कर्म के लिए प्रेरित करती है। (ऋ० १/११३)। वह जगत् का शोषण करने वाले शत्रुओं एवं दुष्टों का नाश करती है (ऋ० ७/८१/६) उषा से यह भी प्रार्थना की गई है किवह हमसे दूर रहने वाले शत्रुओं का भी नाश करे

अन्ति वामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वी गव्यूतिमभयं कृधी नः।
यावय द्वेष आभर वसूनि राधो गृणते मधोनि।। (ऋ० ७/८१।)

उषा का तेज शत्रुओं का नाश करता है एवं मनुष्यों को कल्याण प्रदान करता है। यह देवी ऋत, दैवी, सामाजिक एवं नैतिक नियमों को स्थिरता प्रदान करतीं हैं। (ऋ० ३/६१; ७/७५)। ऋषि कहते हैं 'हे महती देवी तुम अपनी महिमा से सम्पूर्ण जगत् को प्रख्याति एवं दर्शनीयता प्रदान करती हो। जिस प्रकार माता से उसके पुत्र सर्वस्व की याचना करते हैं एवं प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार हम रत्नों की आगार तुमसे याचना करते हैं

उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महिप्रख्यै देवि स्वर्दृशे।
तस्यास्ते रत्नभाजा इम मे वयं स्याम मातुर्व सूनवः।। (ऋ० ७८१/४)

उषा संपूर्ण जगत् की जननी है **'उषा अजीग भुवनानि विश्वा'** (ऋ० १/११३/६)। उषस् का स्वरूप विन्ध्यवासिनी के मुदु स्वरूप से साभ्य रखता है।

नक्तोषा

उषा के इन व्यक्तिगत गुणों पर नक्तोषा के वर्णनों में अधिक ध्यान देना चाहिये। रात्री एवं उषा दोनों बहने है १०/१२७/३ तथा **'समानबन्धू'** (१/११३/२) है। उषा **'श्वेत्या'** है एवं रात्री **'कृष्णा'**। दोनों **अमृता** हैं एवं एक दूसरे से आबद्ध हैं। दोनों के अपने वर्ण एक दूसरे में संचारित होते हैं। दोनों एक दूसरे का विरोध नहीं करतीं एवं दोनों का पथ एक ही है एवं आत्मा एक है।[१] उषा देवताओं की माता है (ऋ० १/११३/१९)। सूर्य को उषा का वत्स कहा गया है। निरुक्तकार लिखते हैं कि सूर्य उषा का सहचर है एवं रसों का शोषण करता है इसलिए उषा का वत्स कहा गया है–

रुषद्वत्सा सूर्यवत्सा रुषदितिवर्णनाम रोचतेर्ज्वलति कर्मणः सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा।। (निरुक्त २/२०)

सूर्य का रात्रि एवं उषा दोनों के साथ घनिष्ठ संबन्ध है (ऋ०१/११३)। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि ने रात्री एवं सूर्य के सम्बन्ध के विषय में अतीव सुन्दर रीति से कहा है–

---

१. "रुशती श्वेत्यागात् श्वेत्या श्वेततेररिचत्कृष्णासदनान्यस्याः कृष्णवर्णारात्रिः कृष्णं..। अथैने संस्तौति समानबन्धू समान बन्धने अदृते अमरणधर्माणावनूची अनूच्याविततरेतरमभिप्रेत्स द्यावा वर्णं चरतस्ते एव द्यावौ द्योतनादपि वा द्यावा चरतस्तया सह चरत इति स्यादमिमानाने अमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे।। ऋ० १/११३/२ पर निरुक्त २/२० की टीका "समानो अध्वा संचरण साधन भूतो मार्ग एक एव" "नक्तोषासा समनसाविरूपे = तमः प्रकाशलक्षणाभ्यां विरूपाभ्यां युक्ते अपि।' समान मनस्के ऐकमत्ये सत्यौ।" ऋ० १/११३/३।

यह सूर्य का देवत्त्व एवं महिमा है कि वह अपने या जगत् के कार्य-व्यापार के समाप्त होने के पूर्व ही अपने रश्मियों को संहत कर लेता है किन्तु ज्यों ही सूर्य गमन के लिए अपना रथ तैयार करते हैं वैसे ही रात्रिदेवी अपने वस्त्र को फैला देती है। संसार को अपने तमोमय वस्त्र से आवृत कर लेती है।

तत्सूर्यस्य देवत्त्व तन्महित्वं,
मध्याकर्तोर्विततं संजभार।
यदेतदयुक्त हरितः सधस्थाद्रात्री॥
वासस्तनुते सिमस्मै। ऋ०१।११५।४

ऋग्वेद के रात्रीसूक्त (१०।१२७) के ऋषि कुशिक (सोभरिपुत्र) हैं (भारद्वाज की पुत्री रात्री को भी इस सूक्त की द्रष्ट्री बताया गया है।) यह नाम विन्ध्यवासिनी विद्या से घनिष्ठतया सम्बद्ध है। कुशिक इन्द्र का गोत्र भी है तथा कौशिकी विन्ध्यवासिनी का एक नाम या रूप भेद है। ऋ० १०/१२७/३ में वर्णित है कि रात्री देवी अपनी बहन उषा को प्रकाश से संस्कृत करके निवर्तित करती है। ऋ० १०/१२७/७ में ऋषि कहते है कि –'हे उषे! तुम हिंस्र पशुओं से हमें दूर रखो उन्हें भगा दो। चोरों से हमारी रक्षा करो हमारे लिए कल्याण कारिणी बनो।' इन देवियों की ये विशेषताएँ विन्ध्यवासिनी के पौराणिक विवरण के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं।

वाक् तत्त्व को वैदिक ज्ञान परम्परा में अत्यधिक महत्त्वूर्ण माना गया है। बृहद्देवता के विवरण में वाक् को ही सर्व देवमयी बताया गया है। यद्यपि वाक् तत्त्व पूर्ण रूप से भावात्मक है उसके वास्तविक स्वरूप या 'परा' रूप का साक्षात् दर्शन या अनुभव होना कठिन है। तथापि यह तत्त्व विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है एवं संसार का प्रत्येक कार्य सम्पादित करता है। जीवन का कोई भी ऐसा क्षण सम्भव नहीं जब वाक् के किसी न किसी रूप से ओत-प्रोत न हो।

सप्तशती में कहा गया है कि समाधि ने तप करते हुए देवी सूक्त का जप किया था–

स च वैश्यस्तपस्तेपे देवी सूक्तं परं जपन्॥ (सप्त० १३/७) यह देवी सूक्त ऋग्वेद का वाक् सूक्त (ऋ० १०/१२५) है। आज भी सप्तशती के पाठ कर्ता इस सूक्त का पाठ करते हैं। वाक् सूक्त के प्रथम ३ मन्त्र एवं ७वें का उत्तराृर्ध देव्यथर्वशीर्ष में भी

पठित है। शतपथ में वाक् का ब्रह्म से तादात्म्य है (**वाग्वैब्रह्म** श० २/४/१०) यज्ञ से तादात्म्य है (**वाग्वै यज्ञः**। २७/२/२)। देव्यथर्वशीर्ष में भी देवी प्रकृतिपुरुषात्मिका कही गई हैं– **मत्तः 'प्रकृति पुरुषात्मकं जगत्'**। शैवदर्शन (कश्मीरीय) में 'वाक्' को ही परा चेतना के रूप में दार्शनिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। व्याकरण दर्शन का प्रपञ्च या जगत् वाक् के विवर्त से आरम्भ होता है।

वैदिक 'वाक्' का स्वरूप सर्वात्मिका महामाया का है–वाक् देवी का वचन है कि, 'जो भोजन करता है, देखता है, श्वासलेता है सुनता है वह सम्पूर्ण व्यापार मेरे कारण ही संभव हो पाता है। जो मेरे इस अन्तर्यामी स्वरूप को नहीं जानता वह संसार से हीन हो जाता है अथवा उसकी अज्ञान के कारण अवनति होती है। हे ज्ञानी (श्रुत) तुम श्रद्धालु हो अतः तुम्हे अपना रहस्य बताती हूँ सुनो।" (ऋ० १०/१२५/४)

आगे वाग्देवी स्वयं बताती हैं कि - मैं ही देवताओं एवं मनुष्यों के द्वारा सेवित इस जगत् को व्यक्त करती हूँ। जिस की इच्छा करती हूँ उसे अत्यधिक शीघ्रता से सम्पादित करती हूँ। मै ही ब्रह्मा एवं मेधावान् ऋषियों का निर्माण करती हूँ। मै त्रिपुर दाह के समय रुद्र के लिए धनुष खींचने की शक्ति हूँ। मैं जन कल्याण के लिए संग्राम करती हूँ। मैने द्यावापृथिवी को व्याप्त कर रखा है। सबके पिता द्यौस् को मै उत्पन्न करती हूँ मेरा मूल व्यापनशील धीवृत्तियों में एवं अनन्तज्ञान में है। इसी कारण में सम्पूर्ण विश्व में प्रविष्ट हो कर स्थित हूँ। इसी प्रकार द्यु लोक में भी विराजमान हूँ। (ऋ० १/१२५/५-७) वाक् की महत्ता से सम्बन्धित अनेक प्रकार के रहस्यपूर्ण आख्यान वैदिक साहित्य में है।

विन्ध्यवासिनी विद्या के पौराणिक साक्ष्य

वस्तुतः पूजा एवं कथा मानव जीवन की संवेदनाओं के स्वरूप को समझने के मुख्य साधन हैं। कथाओं का प्रभाव मानव जीवन के विकास के हर स्तर पर अत्यधिक निकटता से अनुभव किया जा सकता है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों की आध्यात्मिक या दार्शानिक एवं भौतिक शैलियाँ वस्तुतः प्राचीन कथाओं के प्रभावों की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होने वाली जिज्ञासाओं का क्रियात्मक रूप हैं। पी० ग्रिमल ने ठीक ही कहा है कि–'मिथकों एवं विज्ञान के तात्कालिक सत्यों में मात्र सत्य की सम्भावनाओं का ही भेद होता है। विज्ञान के सत्य हमारे प्रारम्भिक दैनिक जीवन में अत्यल्पमात्रा में उपयोगी हो

पाते हैं। पूर्ण बौद्धिक परीक्षणों के आधार पर हम क्या जानते हैं इसकी तुलना हमारे विश्वासों एवं कल्पनाओं के साथ बहुत कम मात्रा में किया जा सकता है[1]।

कथाओं का मूल स्थान विचारों की प्रथम स्फुरणा में होता है। जब विचार क्रिया की रूपरेखा मात्र होते हैं। उस समय कथा या आख्यान संभावित कर्म की चरम कल्पना के रूप में मस्तिष्क में जन्म लेते हैं। कर्म एवं कथा के इस सम्बन्ध को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कथा के अभाव में कर्म भी असम्भव है। यही कारण है कि विश्व की ऐसी किसी जनजाति का ज्ञान इतिहासकारों को नहीं है जिनमें पुराकथाएँ अत्यधिक मात्रा में प्रचलित न हों। पुराकथाओं के प्रारम्भिक साहित्य ने अलिखित रूप में ही जन्म लिया होगा। इस अलिखित साहित्य के रचयिताओं का चेतन अत्यधिक विकसित था। इन्हें निरुक्तकार **'साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयः'** कहते हैं। सभी प्रकार पूजा पद्धति ने इसी अलिखित कथा साहित्य से जन्म लिया होगा। यह **सपर्या पद्धति** आरम्भिक मानव के दैनन्दिन जीवन की अनुभूतियों से उत्पन्न होने वाले विश्वासों एवं उसके आधार की कल्पनाओं में विश्वास की दृढ़ता के रूप में परिवर्तित होने के अनन्तर उनके क्रियात्मक अभिव्यक्ति का नामकरण है।

विद्वानों की मान्यता रही है कि पूजा का विकास सामूहिक से व्यक्तिगत की ओर हुआ है। इसके प्रमाण में प्राचीन गुहाचित्रों आदि पुरातात्त्विक साक्ष्यों का उपयोग किया जाता रहा है। जिस भी शक्ति को अपने कल्याण का आधार बनाकर मनुष्य उसकी पूजा करता था। उस शक्ति की सत्ता एवं महत्ता पर विश्वास करने वाले मानव समुदाय की सामुदायिक संरचना के स्वरूप के साथ आराध्य के स्वरूपदर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सामाजिक इतिहास के अध्येताओं ने प्राचीन मनुष्य के सामुदायिक आराध्यों उससे जुड़े हुए आख्यानों को आधार बना कर उस समुदाय की सामाजिक संरचना एवं स्वभाव का इतिहास लिखने का यत्न किया है। हेरोडोटस के पूर्व के किसी व्यक्ति को इस रूप में नही माना जाता जिसने इतिहास को इतिहास के लिए लिखा हो। हेरोडोटस के यात्रा संस्मरणों को इतिहास की पहली पुस्तक माना जाता है। अतः इतिहास के आज की संकल्पना के आधार पर इतिहास लिखने वाले उस गहन अन्धकार के युगों की मानवजाति का इतिहास कथाओं, पूजा पद्धति, आराध्यों के स्वरूप एवं व्यवहारों के गुहाभित्ति चित्रणों को एकसाथ रखकर समीक्षा करते हैं एवं एक काल्पनिक ढाँचा बनाकर इतिहास की रचना करते है।

---

1. World Mythology, 'Man and Myth'-P. Grimal PP. 9-17

प्राचीन विश्व में मुख्यतः ३ प्रकार के पूज्य आराध्यों की अवधारणा थी। १. पुरुषाकारदेव २. स्त्री देवी ३. विचित्र वपुष्क दैत्यवत् देव। यद्यपि तृतीय प्रकार के देवताओं को भी स्त्री एवं पुरुष की आकृति में लैंगिक विभाजन के आधार पर समाहित कर सकते हैं। इन दोनों प्रकार के देवताओं या देवियों की पूजा की प्राचीन निर्धारित करना कठिन है। यह भी कहना कठिन है कि पुरुषाकार या स्त्रीरूप में से किस रूप की उपासना अधिक प्राचीन है किन्तु विश्व नियन्ता को स्त्रीरूप में पूजा करने की परम्परा ईसा के कई सहस्त्राब्दी पूर्व से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है इसे सभी स्वीकार करते हैं। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। अपितु इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

केन्द्रीय शक्ति के रूप में जिस देवी को पुराणों में प्रधानता दी गई है वह शक्ति विन्ध्यवासिनी अथवा दुर्गा है। मुख्यतः वामन मत्स्य, वायु, देवी, वराह, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में इस देवी की उत्पत्ति की अलौकिक कथाएँ हैं

वायु पुराण के अनुसार जो स्त्री ब्रह्मा या प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुई थी वही शिव के अर्धनारीश्वर रूप में उनके आधे अंग से अभिव्यक्त होती है। स्वयंभू ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न वाग् रूपिणी स्त्री दो वर्णों वाली थी इसका आधा (दाहिना) भाग शुक्ल वर्ण का एवं आधा (वाम) भाग कृष्णवर्ण का था। ब्रह्मा ने इनसे अपने मिश्रित रूप को पृथक्-पृथक् रूपों में व्यक्त करने के लिए कहा। देवी ने अपने कृष्ण एवं शुक्ल दोनों अंशों को पृथक् करके दोनों अंशों को पूर्णता प्रदान की। इन पृथक् रूपों के अनेक नाम विश्व में ख्यात हुए क्योंकि देवी का मिश्रित रूप के पार्थक्य ने उन्हें विश्वरूप में परिवर्तित कर दिया–

तत्र या सा महाभागा शंकरस्यार्धकायिनी।
प्रागुक्ता तु मया तुभ्यं स्त्री स्वायंभुवोर्मुखोद्‌गता।।

कायार्धं दक्षिणन्तस्याः शुक्लं वामं तथाऽसितम्।
आत्मानं विभजस्वेति सोक्ता देवी स्वयंभुवा।।

सा तु प्रोक्ता द्विधाभूता शुक्लाकृष्णा च वै द्विजाः।
विश्वरूपथार्यायाः पृथग्देहविभावनात्।।

वायु० ९/७५-७७५ एवं ८० पूवार्ध

ब्रह्माण्ड पुराण का वचन है कि यह शक्ति प्रथम बार ब्रह्मा के ध्यानावास्था में उत्पन्न हुई थी एवं इसका प्राथमिक नाम प्रकृति था। इस शक्ति में सभी देवताओं की इष्टसिद्ध करने की क्षमता थी।

आदौ प्रादुरभूच्छक्तिर्ब्रह्मणो ध्यानयोगत:।।
प्रकृतिर्नाम सा ख्याता देवानामिष्टसिद्धिदा।।
(ब्रह्माण्ड ३/४/५/६)

वामन पुराण १८/१९ में इस शक्ति को **योगविशुद्धदेहा** कहा गया है। वायु पुराण में ब्रह्मा के ध्यानावस्था में विश्वरूपिणी कन्या की उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार है-

सृष्टि के आदि का क्षण था। विष्णु योगनिद्रा में समाश्रित थे। ब्रह्मा को विष्णु कर्णमलोद्भूत मधुकैटभ सता रहे थे। ब्रह्मा ध्यानावस्थित होकर जप करने लगे। उनके जप के **वर्णो** या मन्त्राक्षरों ने कन्यारूप धारण कर लिया।। इस कन्या के रूप को देखकर दैत्य भयभीत हो गए एवं विवर्ण हो गए। कन्या से ब्रह्मा ने परिचय पूछा। देवी ने बताया कि वह विष्णु की माया मोहिनी है एवं उनके प्रार्थना पर प्रकट हुई है। ब्रह्मा ने प्रसन्न भाव से उसे एक विशेष नाम दिया। उन्होने कहा कि हे देवि! मैने मायामन्त्र का व्याहार (उच्चारण) किया था एवं तुम प्रकट हो गईं। अत: तुम्हारा नाम **महाव्याहृति** है। क्योंकि तुम शिरों (४ ब्राह्मशिरों) से योगावस्था में उत्थित हुई हो अत: तुम्हे सावित्री कहा जाता है तुम एकानंशा होने के कारण अनेकांशा होवोगी। अनेकों कर्मों के अधार पर तुम्हारे अनेकों नामकरण भविष्य में होगें।

जपतस्त्वभवत् कन्या विश्वरूपसमुत्थिता।
पद्मेन्दुवदनप्रख्या पद्महस्ता शुभा सती।।

तां दृष्ट्वा व्यथितौ दैत्यौ भयाद्वर्णविवर्जितौ।
तत: प्रोवाच तां कन्यां ब्रह्मा मधुरया गिरा।
कात्र त्वमवगन्तव्या ब्रूहि सत्यमनिन्दिते।।

साम्ना संपूज्य सा कन्या ब्रह्माणं प्राञ्जलिस्तदा।
मोहिनीं विद्धि मां मायां विष्णो: संदेशकारिणीम्।।

त्वया संकीर्त्यमानाऽहं ब्रह्मन् प्राप्ता त्वरायुता।
अस्या: प्रीतमना ब्रह्मा गौणं नाम चकार ह।

माया च व्याहृता यस्मात्त्वं चैव समुपस्थिता।।

महाव्याहृतिरित्येव नाम ते विचरिष्यति।
उत्थिता च शिरोभित्वा सावित्री तेन चोच्यते।।

एकानंशा तु यस्मात्त्वमनेकांशा भविष्यति।
गौणानि तावदेतानि कर्मजान्यपराणि च।
नामानि ते भविष्यन्ति मत्प्रसादात्शुभानने।। (वायु पुराण,अ०२५)

इसप्रकार पुराण ब्रह्मा के मुख से निःसृत प्रथम ध्वनि को आद्याशक्ति के रूप में देखते हैं।

वराहपुराण में मूलशक्ति का रूप त्रिवर्णा बताया गया है। इस कन्या की उत्पत्ति असुर संहार के लिए हुआ था। यह पुराण इस मूल शक्ति को त्रिदेवों के घनीभूत तेजस् का परिणाम कहता है। इस महाशक्ति का स्वरूप शुक्ल कृष्ण एवं पीत था--

त्रिवर्णा च कुमारी सा कृष्णा शुक्ला च पीतिका। (वराह ९०/२३)

ब्रह्मा के तेज से शुक्ल वर्ण, शिव के तेज से कृष्ण वर्ण, एवं विष्णु के तेज से पीतवर्ण का तादात्म्य है। इन तीनों वर्णों में सांख्य के सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों का अभिव्यञ्जन है। इस त्रिवर्णा कुमारी को साम्यावस्था की अव्यक्त प्रकृति कहना चाहिए। सांख्य की प्रकृति से इसका अन्तर केवल चेतन रूपता के कारण है।

असुर संहार के लिए देवी के प्राकट्य की अनेक कथाएँ देवी भागवत महाभागवत देवीपुराण आदिग्रन्थों में हैं। अधिकांश कथाएँ देवों के तेजस् से उत्पन्न शक्ति का वर्णन करती हैं। जिनमें से प्रमुख का विवेचन आगे किया गया है (देखे-पौराणिक विग्रह) किन्तु प्रस्तुत कथाएँ आद्याविद्या के दार्शनिक स्वरूप से सम्बद्ध हैं।

वायुपुराण का कथन है कि इस आद्याविद्या को द्वापर में जो नाम दिए गए उन्हीं में एक नाम विन्ध्यनिलया है।

द्वापरान्तविकारेषु देव्या नामानि मे श्रृणु।
गौतमी कौशिकी आर्या चण्डी कात्यायनी सती।।

कुमारी यादवीदेवी वरदा कृष्णपिंगला।
बर्हिर्ध्वजा शूलधरा परमाब्रह्मचारिणी।।

माहेन्द्री चेन्द्रभगिनी वृषकन्यैकवाससी।
अपराजिता बहुभुजा प्रगल्भा सिंहवाहिनी॥
एकानसा दैत्यहननी माया महिषमर्दिनी।
अमोघा विन्ध्यनिलया विक्रान्ता गणनायिका॥
देवी नामविकाराणि इत्येतानि यथाक्रमम्॥

वायु १/९/८२-८६ पूर्वार्ध

असुरों के बध के लिए देवी की उत्पत्ति की कथाएँ देवी के कार्य विशेष का वर्णन करतीं हैं एवं उनके माध्यम से जिस रूप की धारणा बनती है उसे इस मूल केन्द्रीय देवी का एक स्वरूप-विशेष माना जाता है एवं उस रूप विशेष की पूजा का पृथक् सम्प्रदाय प्रचलित है।

विन्ध्यवासिनी की उत्पत्ति की असुरबध से सम्बन्धित कथाओं का संकेत उनकी स्तुतियों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ देवी पुराण की निम्न पंक्तियों में विन्ध्यवासिनी का केन्द्रीय रूप एवं विभिन्न रूपों का स्पष्ट उल्लेख है–

त्रैलोक्यधारिणी देवी त्वं हि विन्ध्यनिवासिनी॥
निशुम्भ अन्धकादीनामसुराणां भयङ्करी॥
कंसादीनां बधार्थाय उत्पन्ना लोकपावनी॥
पुरा सुरगणाः सर्वे असुरेन्द्रभयार्दिताः।
त्वां जग्मुः शरणं देवा मत्पुरोगा वरानने॥
ततस्त्वां क्रोधसंतप्तां युगान्ताग्निसमप्रभाम्।
देवानां तेजसावृत्यासृजद् विश्वेश्वरी तनुम्॥
महिषस्य बधार्थाय ज्वालामालेति विश्रुता।
हत्वा सुररिपून् सर्वान् शक्रो राजा नियोजितः॥
विष्णुना च पुरादेवी त्वामाराध्येति सुव्रते।
दानवा निहता सर्वे त्वया मायाविमोहिता॥
अबध्यः सर्वभूतानां पुत्रो वै कालनेमिनः॥

कंसश्च निहतो दैत्यः उग्रसेनसुतो बली।
त्वं देवि सर्वभूतानां शरण्या भक्तिवत्सला।।

देवी १२७/१०४,११३-१४, १४७-५१

इन पंक्तियों में कौशिकी (शुम्भ-निशुम्भ वध) दुर्गा (अन्धक बध की सहायिका, वामन पुराण) एकानंशा या योगमाया (कंसबध की सहायिका, हरिवंश ३/४) महिषमर्दिनी (वामन पुराण, मार्कण्डेय पुराण) की मूर्तियों का संकेत है। हरिवंश (विष्णु पर्व १०७/७ पूर्वार्ध) की पंक्ति में दुर्गनाश की पौराणिक कथा का संकेत है– **विन्ध्यवासिनीं दुर्गघ्नां रणदुर्गां रणप्रियाम्।।** हरिवंश की इस स्तुति का पाठ शंबर से युद्ध करते समय प्रद्युम्न ने रणक्षेत्र में किया था। वस्तुतः यह केन्द्रीय सत्ता अनादि-निधना सर्वरूपा वाक् की अभिव्यक्ति है, जो वैदिक वाङ्मय में विभिन्न नामों से व्यक्त एवं वर्णित है। पुराणों में वह विभिन्न रूपों एवं अवतारों में वर्णित है–

प्रसिद्धानादिनिधना वर्षे वर्षे युधिष्ठिर।
भूयो भूयोवतारैश्च भवानी पूज्यते शिवा।।

(भविष्य, उत्तर पर्व १३७/२२)

किन्तु इस केन्द्रीय सत्ता के वैष्णवी रूप होने के कारण यशोदागर्भसम्भवा योगमाया के रूप में प्रसिद्धि अधिक हुई है। ऋग्वेद के सूर्य को यदि विष्णु का वैदिक रूप कहा जाता है। तब भी इस शुक्लकृष्णा देवी का तादात्म्य नक्तोषा से होता है। पुराणों ने जिस योगनिद्रा को वैष्णवी माया कहा है उसका स्वरूप वैदिक रात्री देवी से पृथक् नहीं है। इसके पोषक प्रमाण पौराणिक कौशिकी, एकानंशा या योगनिद्रा के आख्यानों से प्राप्त हैं।

विन्ध्यवासिनी को पुराणों में एवं स्तुतियों में इन्द्र की भगिनी बताया गया है। रात्री एवं उषा दोनों ही इन्द्र के क्षेत्र की देवियाँ है एवं वाक् की ही नामान्तर है। अतः इन्द्र का सख्य इन दोनों के साथ सहज है। वैयाकरण परम्परा में इन्द्र को वाक्तत्त्व का मर्मज्ञ माना गया है। पतञ्जलि के महाभाष्य के पस्पशाह्निक में व्याकरण की उत्पत्ति के विषय में आख्यान है कि इन्द्र ने सोमपान करके वाणी को दो भागों में विभाजित किया। वाणी के दो विभागों को व्याकरण शास्त्र अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करता है। किन्तु वैदिक

विवरण एवं पुराणों के आख्यानों को मिलाकर देखने से वाक्‌तत्त्व एवं इन्द्र के सम्बन्ध का संकेत मिल्‌ता है।

विन्ध्यवासिनी के स्वरूप को प्रकट करने वाली सामग्रियों में पौराणिक स्तुतियों का ही प्राधान्य है। क्योंकि यह नाम पुराणों एवं महाभारत से प्राप्त होता है। यद्यपि जैसा कि पीछे के विवरण से स्पष्ट हो चुका है कि इस देवी का मूल रूप वैदिक वाक् का है एवं वह शक्ति त्रिधा विभक्त होकर ३ स्वरूपों में पूजी जाती हैं। विशेषतः विन्ध्याचल पीठ में इन के तीनों स्वरूपों का एक साथ विन्ध्यवासिनी नाम से पूजा होती है। किन्तु स्वरूप विकास की दृष्टिसे इस पराशक्ति की स्तुतियों में दी गई आर्ष अभिव्यक्तियों का पर्यवेक्षण भी आवश्यक है।

भारतीय परम्परा में देवता को भावात्मक एवं पुरुषाकार तथा मिश्रित रूप माना गया है किन्तु मुख्यतः देवता के रूप को चैतन्य मात्र स्वीकार करते हुए उनके कर्म के आधार पर एक ही चेतना के पुरुषाकार एवं भावात्मक रूपों में प्रार्थना की जाती थी–

आकार चिन्तनं देवानां। पुरुष विधास्युरित्येकम्।... अपुरुषविधास्युरित्यपरम्। ...अपिवा उभयविधास्युः। अपि वा अपुरुषविधानेव सतां एते कर्मात्मानः स्युः। निरुक्त ७/६-७ विन्ध्यवासिनी का स्वरूप भी इसी प्रकार का है। प्रमुख रूप से महाभारत (विराट ६) हरिवंश, देवी, मत्स्य, वामन, वायु आदि प्राचीन साक्ष्यों में देवी का जो रूप प्राप्त होता है। उसमें दिव्य एवं मानवीकृत दोनों स्वरूप यथावसर वर्णित है।

महाभारत में दुर्गा की दो स्तुतियाँ है। प्रथम विराट पर्व अध्याय ६ में युधिष्ठिर द्वारा कही गई है। द्वितीय, भीष्म पर्व अध्याय २३ में गीतोपदेश के पूर्व अर्जुन ने कही है। इन दोनों स्तुतियों में विराट पर्व की स्तुति में देवी का विन्ध्य पर्वत पर शाश्वत वास बताया गया है[१] एवं इतिहासकारों की दृष्टि में दुर्गा विन्ध्यवासिनी के प्राथमिक स्वरूप का वर्णन इसी स्तुति में माना गया है। यह बहुत सम्भव है कि विराट पर्व की दुर्गा स्तुति भीष्म पर्व की आर्या स्तुति एवं हरिवंश की स्तुतियों से कालक्रम की दृष्टि से अधिक प्राचीन भी हो।

इस स्तुति में आरम्भ के ७ श्लोक 'उपक्रम' है इस में देवी को यशोदा की कन्या कृष्ण की बहन आदि कहा गया है। किन्तु प्रथम श्लोक में देवी को तीनों लोकों की स्वामिनी दुर्गा कहा गया है–

---

१. विन्ध्ये चैव नग श्रेष्ठे तब स्थानं हि शाश्वतम्। महा वि ६/१७ पूर्वा०

अस्तुवन् मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम्॥

श्लोक २ से ४ तक इस देवी का कृष्ण की बहन योगमाया के रूप में वर्णन हुआ है। इन ३ श्लोकों के वर्णन की भावना हरिवंश विष्णु पुराण एवं सर्वाधिक विस्तार से भागवत में प्राप्त होता है। देवी को मांगल्या एवं कुलवर्धिनी कहा गया है। कंस की मृत्यु की सूचना देने के अवसर पर हरिवंश में देवी के इस वाक्य कि 'हेकंस जब तुम्हारे अन्तकाल में तुम्हारा शत्रु तुम्हे खीचेगा तब मै तुम्हारी छाती को विदीर्ण कर के उष्ण शोणित का पान करुँगी' के साथ 'कंसद्रावणकरीं' विशेषण का साम्य है। देवी समस्त असुरों का नाश करने वाली शिलातट पर पटकी जाने पर आकाशगामिनी होनेवाली दिव्य माल्य एवं वस्त्र धारण करने वाली एवं खड्ग तथा खेटक धारण करने वाली वर्णित है।

इस श्लोकार्ध में 'एव' शब्द का प्रयोग अयोगव्यवच्छेदक है एवं विन्ध्य देवी के नित्य सम्बन्ध का व्यञ्जक है।

यशोदा गर्भ संभूतां नारायणवरप्रियाम्।
नन्दगोपकुले जातां मांगल्यां कुलवर्धिनीम्॥

कंसद्रावणकरीं असुराणां क्षयंकरीम्।
शिलातटविनिक्षिप्तां आकाशं प्रतिगमिनीम्॥

वासुदेवस्य[१] भगिनीं दिव्य माल्यविभूषिताम्।
दिव्याम्बरधरीं देवीं खड्गखेटकधारिणीम्॥

महा० वि० ६/२-४

---

१. विन्ध्यवासिनी को अनेकों पौराणिक स्थलों में कृष्ण एवं बलराम की भगिनी कहा गया है उदाहरणार्थ– 'गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोप कुलोद्भवे।' (महा० भीष्म२३ आर्यास्तव), 'भगिनी वासुदेवाय' 'नन्दगोप सुता चैव', 'भगिनी बलकृष्णयो:' 'विष्णु भगिनी' भगिनी बलदेवस्य' (हरिवंश विष्णुपर्व प्र०४), 'गोपेन्द्रस्य भगिनी' (कूर्म० १/११/१२३ पूर्वा०), 'श्रीकृष्णभगिनी सती' (ब्रह्मवैवर्त प्रकृति खं० १/१४१ उन्त०), 'कृष्णानुजा' (वृहद्धर्म ५/१३२ उत्त०) , 'गोपकन्या यशोदानन्द नन्दिनी' (वृहदर्म ५०/१३५ पू०), 'सा विन्ध्यवासिनी विष्णोरनुजा वरदेश्वरी' (देवी भा०१०/२/६३ उत्त०)

इस प्रकार उपक्रम के श्लोकों में योगमाया का वर्णन द्विभुजा देवी के रूप में किया गया है एवं देवी के अलंकारों की कोई चर्चा नहीं है। अलंकारों के स्थान पर मालाओं के आभूषणों एवं सुदर परिधान का उल्लेख हुआ है। मूल स्तुति श्लोक ७ से २६ तक है। इन २० श्लोकों में एक भी स्थान पर कृष्ण के साथ सम्बन्ध का उल्लेख न करते हुए शुद्ध रूप से देवी का ही वर्णन है। देवी के कौमार्य को विशेष महत्त्व देते हुए कौमार्य को उनका स्वरूप बताया गया है। कौमार व्रत को धारणा करने के कारण देवी तीनों लोकों को पवित्र किए हुऐ हैं एक ही स्तुति में देवी के कुमारी रूप का ३ बार वर्णन होना विशेष महत्त्व रखता है–

'कुमारि ब्रह्मचारिणी' (श्लो० ७ पूर्वार्ध)

'स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं तव' (श्लो० ८ पूर्वार्ध)

कौमार्य विन्ध्यवासिनी का अन्यतम गुण है। इस गुण का बाध नहीं होता। जब भी उमा के साथ इस देवी का तादात्म्य होता है या उमा को राक्षसों से युद्ध करते हुए वर्णित किया जाता है तब उन्हें भी कुमारी अवस्था में वर्णित किया जाता है। उदाहरणार्थ स्कन्द पुराण या मार्कण्डेय पुराण की महिषासुर बध आदि की वध की कथाएँ।

अथवा विन्ध्यवासिनी को उमा का पुनर्जन्म कहकर उनके कौमार्य रूप को अक्षुण्ण रखा जाता है जैसाकि देवी पुराण में घोर के वध के लिए उत्पन्न देवी की कथा नें वर्णन है। अनेक पुराणों में विन्ध्यवासिनी के कन्यात्व का विशिष्ट वर्णन है जैसे–

कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं त्वं गमिष्यति। (हरि० ग/३/३/)

तत्रास्ति देवी सुमहानुभावा कन्या सुरूपा सुरसुन्दरीणाम्।
(वामन१९/३)

कन्या सा बवृधे तत्र वृष्णिसद्मनि पूजिता।
(वायु ९/१/२१ हरि० ५/३/४/)

कन्यारूपेण देवानामग्रतो दर्शनं ददौ।। (बृहद्धर्म० २०/६२)

कन्या दिव्या स्वयं प्रोक्ता कन्यारूपा तु शूलिनी।
यावदक्षतयोनिः स्यात् तावद् देवी सुरारिहा।। (देवी पुराण)

महाभारत के विराट पर्व की स्तुति में (श्लो० ७-२६) देवी के तीनों स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हैं,

१. श्लोक ७ से ८ तक देवी को चतुर्भुजा रूप में वर्णित किया गया है। चार भुजाओं के साथ देवी के ४ मुख भी वर्णित हैं। उनका आकार उदीयमान सूर्य की भाँति अरुण है। श्रोणि एवं स्तन विकसित एवं सुन्दर हैं। मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति कान्तिमान है। देवी मयूर के पंख का वलय, केयूर एवं आंगद आभूषणों को धारण किए हुए हैं। सुन्दरता की अतिशयता के कारण देवी उसी प्रकार शोभित हो रही हैं जिस प्रकार विष्णु से विवाह के समय पद्मा शोभित हो रही थीं।

बालार्कसदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने।
चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे पीनश्रोणिपयोधरे॥

मयूरपिच्छिवलये केयूराङ्गदधारिणि।
भासि देवी यथा पद्मा नारायण परिग्रहे॥ विराट ६/७-८

नीलकण्ठ 'चतुर्भुजा' एवं 'चतुर्वक्त्रा' में प्रयुक्त चतुः संख्या को बहुत्त्व का उपलक्षक मान कर पुरुष सूक्त के सहस्रशीर्षा: आदि पदों की भाँति आनन्त्य का बाचक मानते हुए देवी को परब्रह्म रूपा व्याख्यायित करते हैं।

२. देवी का द्वितीय स्वरूप श्लो० ९ से १४ तक वर्णित है। तदनुसार देवी आकाशगामिनी हैं। इनका वर्ण कालेमेघ के समान है (कृष्णच्छवि समा कृष्णा ९ उत्त०) इस में 'कृष्णच्छवि' पद का अर्थ नीलकण्ठ ने कालामेघ किया है। देवी का मुख चन्द्रमा के सौन्दर्य एवं कान्ति के साथ स्पर्धा करता है एवं अत्यन्त आकर्षक है (संकर्षण समानना)। देवी 'विचित्र' मुकुट धारण करतीं हैं इस मुकुट को अपने केशों से बाँध रखा है। कानों में सुन्दर कुण्डल विभूषित हैं। श्रोणि सूत्र के रूप में नाग को उसी प्रकार लपेट रखा है जैसे समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल में वासुकि को लपेटा गया था। देवी का ध्वज उच्छ्रित मयूर पखों से निर्मित है। देवी नें नित्य कौमार व्रत से तीनों लोकों को पवित्र कर रखा है। एवं इन के कौमार व्रत के कारण ही देवतागण इनकी स्तुति करते हैं। देवी की अनेकों भुजाएँ है। इनमें उन्होंने पानपात्र, कमल, घंटा, पाश धनु, महाचक्र एवं अनेक प्रकार के आयुध धारण किया है। देवी की दो भुजाएँ इन्द्र की ध्वजा के समान उठी हुई हैं ये सम्भवतः वराभय मुद्राओं की द्योतक हैं। इस मूर्ति में यद्यपि भुजाओं की संख्या नहीं है

किन्तु भुजाओं में धारण किए जाने वाले शस्त्रों एवं दो रिक्त हाथों के आधार पर अष्टभुजा का रूप बनता है।

स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं तव खेचरि।
कृष्णच्छविसमाकृष्णा संकर्षणसमानना।।

विभ्रती विपुलौ बाहू शक्रध्वजसमुच्छ्रयौ।
पात्री च पङ्कजी घंटी स्त्री विशुद्धा च या भुवि।।

पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च।
कुण्डलाभ्यां सुपूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां च विभूषिता।।

चन्द्रविस्पर्धिना देवि मुखेन त्वं विराजसे।
मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना।।

भुजगाभोगवासेन श्रोणिसूत्रेण राजता।
विभ्राजसे चाबद्धेन भोगेनेवेह मन्दरः।।

ध्वजेन शिखिपिच्छानामुच्छ्रितेन विराजसे।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया।
तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च।।

देवी के इस रूप का वर्णन करके इन्हें महिषासुरविनाशिनी, जया, विजया एवं संग्राम में विजय देने वाली कहा गया है।

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनी।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव।।

जया त्वं विजया चैव संग्रामे विजयप्रदा।
ममापि विजयं देहि वरदा भव साम्प्रतम्।। (श्लो० १५-१६)

३. तृतीय स्वरूप में देवी के वर्ण अलंकार आदि का वर्णन नहीं है अपितु इन्हें कालि एवं महाकालि का संबोधन दिया है तथा मद्य, मांस एवं पशु प्रिया बताया गया है।

इस स्वरूप का वर्णन करते हुए स्तुतिकार ने देवी के चरित्र की विशेषताएँ बताईं हैं। तदनुसार देवी वर देने वाली हैं। स्वतन्त्रा हैं। स्वेच्छया आचरण करती हैं। इनका अनुयायी भूतसमूह है।

कालि कालि महाकालि सीधुमांसपशुप्रिये।
कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदाकामचारिणी।। श्लो० १०-१८

नीलकण्ठ ने अपनी व्याख्या में आरम्भ से ही देवी को ब्रह्मरूप में देखा हैं। इस प्रसंग में अपनी पूर्व व्याख्या के साथ संगति करते हुए भूत शब्द का अर्थ **प्राचीन** किया है। व्याकरण की दृष्टि से यह अर्थ भू+क्त प्रत्यय के कारण उचित भी है। तात्पर्य के रूप में उन्होंने प्राचीन का अर्थ ब्रह्मा आदि देवता अर्थ किया है। इसप्रकार **'कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं'** इस पंक्ति का अर्थ नीलकण्ठ के अनुसार "ब्रह्मा आदि प्राचीनों ने जिस तत्त्व का नित्य अनुसरण किया हो।" **'नित्यमनुसृता भूतैब्रह्माद्यैः प्राचीनैः।** यह देवी तत्त्व के परम्परागत ज्ञान के सर्वथा अनुकूल है यद्यपि कुछ पाश्चात्य लोगों ने नीलकण्ठ के इस अर्थ को 'कठिनता से स्वीकरणीय' बताया है। इसी स्तुति में आगे देवी को कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, ह्री, विद्या, सन्तति (परम्परा), गति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा एवं दया के रूप में स्मरण किया गया है। ये नाम देवी के शुद्ध भावात्मक स्वरूप के अभिव्यञ्जक हैं।

त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या सन्ततिर्गतिः।
संध्या रात्रिः प्रभानिद्रा ज्योत्स्ना कान्तिः क्षमादया।। श्लो० २२-२३

विराट पर्व की इन स्तुतियों में देवी के वस्त्रों की चर्चा नही है। किन्तु भीष्म पर्व की स्तुति (भीष्म २३/८ पूर्वा०) में देवी को पीले वस्त्र धारण करने वाली (पीतवासिनी) बताया गया है।

महाभारत के पाठालोचनात्मक संस्करण के प्रस्तोता वी० एस० सुक्थंकर ने महाभारत की दुर्गा स्तुति को मूल में नहीं रखा है। इन स्तुतियों के समय के विषय में कोई भी पुराण का अध्येता निश्चित मत नहीं बना पाया है। पी० वी० काणे यहाँ तक कह देते हैं कि इन स्तुतियों का काल निर्धारण सम्भव ही नहीं है (धर्म० शा० इति० भा० ४ अध्याय-१ नवरात्रोत्सव)। आर्थर एवोलन इनकी तिथि चौथी शती बताते हैं (Hymns of Goddess पृ० ४५५)। इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये स्तुतियाँ कालिदास के पूर्व प्रचलित रही होंगी। जिस प्रकार महाभारत की दुर्गा स्तुतियों में

विन्ध्यवासिनी को मयूरपंख धारण करने वाली कहा गया है उसी प्रकार मेघदूत की 'भवानी' भी मयूरपंख धारण करती हैं एवं मयूर से प्रेम करतीं है क्योंकि वह उनके पुत्र का वाहन भी है।[१]

विराटपर्व की स्तुति के पाठ भेदों में देवी के स्वरूप के विषय में अन्य सूचनाएँ प्राप्त होती है एवं उसी प्रकार की सूचनाएँ भीष्मपर्व, हरिवंश एवं विष्णु पुराण की स्तुतियों में भी प्राप्त होती है।

विराटपर्व की विन्ध्यवासिनी स्तुति के नीलकण्ठ सम्मत पाठ में वाहन की चर्चा नहीं है किन्तु अन्य पाठ में देवी को सिंहवाहिनी एवं सिंह के रथपर सवारी करनेवाली कहा गया है—**महासिंहरथारूढे महाशार्दूलवाहिनी॥** (महाभारत c परि० ४ G/२५)

कुछ पाठों में देवी का कुण्डल स्वर्ण निर्मित एवं कुछ में चन्द्रमा एवं सूर्य को उस विराट देवी की कुण्डल कहा गया है—

"तप्तकाञ्चनवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विराजता॥"

"शशिसूर्य महाभागे विद्युज्वलितकुण्डले॥" परिशिष्ट ४ c, F

शाक्तप्रमोद में संग्रहीत धूमावती विद्या के विराट रूप में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—

वामे कर्णे मृगांकं प्रलयपरिगतं दक्षिणे सूर्यबिम्बम्॥

अधिकांश पाठों में देवी को चतुर्भुजा कहा गया है किन्तु कुछ पाठों में ४ मुख एवं दंष्ट्र की भी चर्चा है—

चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे चतुर्दंष्ट्रे महासुरि॥ (४ c तत्रैव)

यद्यपि किसी पाठ में चतुर्भुज रूप के साथ चतुर्मुख के वर्णन का अभाव भी है—

---

१. तुलना करें 'मयूरपिच्छि वलये' 'ध्वजेन शिखिपिच्छानां'
'शिखिपिच्छध्वजधरे' विरा० ६/८,१४; भीष्म २३/६ एवं
'ज्योतिर्लेखावलयिगलितं यस्य बर्हं भवानी।
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलक्षेपि कर्णे करोति॥ मेघदूतम् ४४ पूर्वा०

चतुर्भुजे तनुमध्ये पीनश्रोणिपयोधरे॥ (तत्रैव ४ f)

कुछ पाठों में हरिवंश की स्तुतियों की भाँति अष्टमी नवमी पूर्णमासी चतुर्दशी आदि तिथियों में देवी के पूजन की चर्चा है– **'. . . . .चाष्टमी नवमी प्रिये।' 'देवि देवाश्च पूजन्ति पूर्णमासीं चतुर्दशीम्।'** (तत्रैव ४ c, e) देवी को शिव का अर्धांग एवं विष्णुपूजिता भी कहा गया है **'शंकरस्यार्ध. शरीरस्थे नमस्ते विष्णुपूजिते।' (तत्रैव ५ G)**

एक पाठ में देवी को महिषासुर का घमण्ड चूर्ण करने वाली एवं कंस को भयभीत करने वाली कहा गया है– **महिषासुरदर्पध्नि कंसासुरभंयकारि॥ (तत्रैव ४ G)** इसी प्रकार पर्वतराज की कन्या एवं विन्ध्यवासिनी एक साथ कहा गया है। **'शैलराजसुते देवि नमस्ते विन्ध्यवासिनी॥' (तत्रैव)**

अधिसंख्य पाठों में देवी के वस्त्र की चर्चा नही है तथापि एक पाठ में हरिवंश की भाँति पीतवस्त्र बताए गए हैं तथा वस्त्र की पीतिमा का कारण वसा एवं मेद लगा होना बताया गया है–

वसामेदान्वितं वस्त्रं पीतेनोरसि वाससा। (तत्रैव ४ f)

ये पाठ नीलकण्ठ स्वीकृत पाठ से भिन्न है। अतः ये साम्प्रदायिक पाठ हैं। सम्भव है कि इसी देवी के अन्य पुराणों की स्तुतियों से प्रभावित होकर इन पाठों की रचना हुई हो। किन्तु ये पाठ एकानंशा, कौशिकी, कात्यायनी, भद्रकाली आदि रूपों के स्तुतियों के अनुरूप होने से इतना अवश्य द्योतित करते हैं कि सभी एक ही विद्या का वर्णन करनेवाली स्तुतियाँ हैं।

महाभारत की इस स्तुति के विषय में यह भी एक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि इसमें देवी को महिषासुर नाशिनी कहा गया है। शुम्भादि दानवों का नामोल्लेख इस स्तुति में नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि वस्तुतः महिषासुर के वध की कथा देवी के केन्द्रीय रूप को द्योतित करता है। महिषमर्दिनी शक्ति सर्वदेवतेजोमयी है। विराट पर्व की इस स्तुति में भी केन्द्रीय महाशक्ति की स्तुति की गई है। अतः महिषासुर मात्र का नामोल्लेख ही संगत था। हरिवंश की आर्या स्तुतियों में महाभारत की दोनों स्तुतियों से पूर्ण साम्य है। इन स्तुतियों में देवी के चरित्र की कुछ अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता है। इन वैशिष्ट्यों को आगे वैशिष्ट्यों एकानंशा एवं योगनिद्रा विग्रहों के वर्णनों में देखना चाहिए।

देवी का अनुरणनात्मक वाद्य से अत्यधिक संबन्ध है। पौराणिक वर्णनों में 'घंटा' इस देवी के विग्रह के एवं पूजा के अनिवार्य अंग के रूप में दिखाई देता है। हरिवंश के आर्या स्तव में **'घण्टा निनाद बहुला'** कहा गया है। इसी प्रकार प्रद्युम्नकृत स्तुति (हरि० वि० प० १०७/१०) में देवी को **'घण्टाहस्तां'** एवं **'घण्टामालाकुलां'** विशेषण दिया गया है। महाभारत (विरा० ६/१०) मार्कण्डेय पु० (८२/२१, ८४/३३) देवी पुराण (१७/२३) में देवी को घंटा हस्ता एवं घंटा की ध्वनि को पसन्द करने वाली कहा गया है। इसी प्रकार शस्त्रों में शूल या त्रिशूल एवं विचित्र मुकुट अथवा अनेक रत्न जटित मुकुट एवं कुण्डल का वर्णन विन्ध्यवासिनी के सभी रूपों में समान है। जो कि सांकेतिक वर्णन मात्र है। क्योंकि विन्ध्यवासिनी के विविध रूपों का रात्रि एवं समय के विशेष क्षणों के साथ भी सम्बन्ध वर्णित है। अतः उनके विचित्र मुकुट को नक्षत्र माला के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है कूर्मपुराण रात्रि रूपिणी कौशिकी को विचित्ररत्नों के मुकुट से सुशोभित बताता है जो नक्षत्रों का संकेतक है।

विचित्ररत्नमुकुटा प्रणतार्ति प्रभञ्जिनी।
कौषिकी कर्षिणी रात्रिस्त्रिदशार्तिविनाशिनी।। (कूर्म १/११/११६)

देवी के आवरक वस्त्रों की चर्चा तन्त्रों में भी कम है किन्तु आभूषणों का वर्णन बहुशः प्राप्त है। **शारदा तिलक** के दुर्गाध्यान (११/५) वनदुर्गाध्यान (११/७७) शूलिनीध्यान (११/४६) जयाध्यान (११/३७) महिषमर्दिनीध्यान (११/२५-२६) आदि स्थल प्रमाण रूप में देखे जा सकते हैं।

देवियों की मूर्तियों में बहुधा वस्त्रों का अभाव प्राचीन स्थापत्य में भी देखा जाता है। बौद्ध देवियाँ पर्ण शाबरी एवं नग्न शाबरी विन्ध्यवासिनी के ही स्वरूप का नामकरण है। डॉ० सरकार ने (The Śākta Peethas P.3) नग्न शाबरी एवं पर्ण शाबरी को बृहत्संहिता के नग्न शबरों की देवी बताया है। साथ ही उमा के अपर्णा नाम का अर्थ 'पत्रवस्त्रहीना नग्ना' किया है एवं उक्त देवियों को उमा का रूप भेद बताया है। यद्यपि अपर्णा उमा के कौमार्य रूप का नाम है एवं अनेकों कथाओं में विन्ध्यवासिनी दुर्गा एवं उमा का पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर तादात्म्य किया गया है तथापि दुर्गा के केन्द्रीय रूप की विशेषताओं एवं शबरों के साथ विन्ध्यवासिनी के घनिष्ठ संबन्ध के कारण उक्त दोनों देवियों को विन्ध्यवासिनी का ही रूप मानना अधिक संगत है। शबरों को गउडवहो में 'हरिद्रा पत्रधारी' बताया गया है। इसी ग्रन्थ (गाथा ३०५) में देवी को शबरि संबोधन भी दिया गया है।

पीछे हमने लिखा है कि जो जातियाँ वैदिक मार्ग से वहिष्कृत थीं वे सभी विन्ध्यवासिनी की पूजक थीं। उनके लिए यह परासत्ता उन्हीं द्रव्यों से प्रसन्न होती थी जिनका वे सेवन करते थे। फलतः जिनमें देवी को 'वेदगर्भा' 'सावित्री' 'आर्या' आदि सम्बोधन दिए गए हैं उन सभी स्तुतियों में इनके लोक में मान्य चरित्र को भी व्यक्त किया गया है। इनकी पूजा मद्य मांस एवं पशुबलि द्वारा किए जाने की बात कही गई है। उदाहरणार्थ महाभारत (वि० ६/१७) में **'सीधु मांस पशुप्रिया'** हरिवंश में **सुरापिशित पूर्णाभ्यां कुम्भाभ्यामुपशोभिता॥** (हरि० २/२५/५३) **'सुरामांसबलिप्रिया'** (हरि०२/२/५२; ३/१२); देवी पुराण में 'रुधिरमांसमद्य प्रिये' (देवी० ९/५६); भविष्य पुराण में **'सुरासवभृतैः कुम्भैस्तर्पयेत् परमेश्वरीम्'** (भविष्य उत्त० प० १३८/९७) आदि उल्लिखित है। देवी के महिषासुरघातिनी रूप को महिष बलि से तुष्ट किया जाता है। भविष्य पुराण में यह भी उल्लिखित है कि देवी धूप दीप लेपन एवं अन्य बलिदानों से उतनी नहीं प्रसन्न होती जितनी महिषों की बलि से होती है–

न तथा बलिदानेन पुष्पधूपविलेपनैः।
तथा संतुष्यते लोके महिषैर्विन्ध्यवासिनी॥ भविष्य, उत्त० प० १३८/१८

यह पूजाविधि देवी के चरित्र के मौलिक विशेषता को प्रभावित नहीं करता अपितु जिसने जिस भी विधि को अपनी सुविधानुसार अपनाया था, स्वीकार्य था। भविष्य पुराण स्पष्ट रूप से विवरण देता हैं कि दस्यु, मलेच्छ, अंग, बंग, कलिंग, शक, किन्नर, बर्बर जन देवी विन्ध्यवासिनी की पूजा अपने मांस एवं रुधिर से भी करते थे।

ये जातियाँ बलि के लिए महिषी, छाग एवं मेषों के रुधिर का भी प्रयोग करतीं थीं–

स्व मांस रुधिरैर्दत्तैर्देवी तुष्यति वै भृशम्।
महिषी छागमेषाणां रुधिरेण तथा नृप॥

एवं नाना म्लेच्छगणैः पूज्यते सर्वदस्युभिः।
अंग बंग कलिङ्गैश्च किन्नरैः बर्बरैः शकैः॥

कृत्यरत्नाकर पृ० ३५७ में उद्धृत भविष्य पुराण

पशुबलि, मांस अथवा सुरा का उपयोग वैदिक यज्ञों की भी विशेषता थी। अतः इन वस्तुओं के आधार पर देवी का स्वरूप अवैदिक नहीं कहा जा सकता।

विन्ध्यवासिनी के केन्द्रीय स्वरूप की विशेषताओं से रहस्यमयी परावाक् की पौराणिक शैली में अभिव्यक्ति का संकेत मिलता है। सर्वरूपिणी पराशक्ति की विशेषता रही है कि किसी भी जाति या संस्कार वाला व्यक्ति इस विद्या की उपासना के लिए अधिकारी हैं। देवी पुराण प्रधान रूप से विन्ध्यवासिनी विद्या की उपासना पद्धति को प्रस्तुत करता है। इस पुराण ने देवी पूजा के लिए सभी के अधिकार की स्पष्ट घोषणा की है–

सर्वेषु सर्ववर्णेषु तवभक्त्या प्रकीर्तिता।। (२२/२४)

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वा स्त्रियः।
पूजयेन्मातरो भक्त्या स सर्वाल्लभतेप्सितान्।। (९०।१)

अन्त्यजानां महाभाग भक्तानां समदर्शनाः।
पूजिताः संस्तुता देव्यः कर्मभावफलप्रदाः।। (७/९५)

विशेष रूप से जिनमें वैदिक संस्कार के सम्भावना का भी अभाव हो सकता है उनके लिए विन्ध्यवासिनी 'सूक्ष्मसिद्धि' प्रदान करने वाली कही गईं हैं। जबकि अन्य वैदिक संस्कार युक्त व्यक्ति मन्त्रों उपचार द्रव्यों कर्मकाण्डीय क्रियाओं एवं ध्यान योग के अभ्यास से महासिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। स्त्री बाल विकल या रोगी एवं अन्धों के लिए अधिक औपचारिकता की आवश्यकता नहीं मानी गई है–

या सा घोरबधार्थाय सर्वदेव नमस्कृता।
विन्ध्याद्रौ संस्थिता देवी सा च पूज्या यथा विधिः।।

मन्त्रद्रव्यक्रियाध्यानान्महासिद्धिकरा नृणाम्।
स्त्रीबालविकलान्धानां सा भवेत् सूक्ष्मसिद्धिदा।।

(देवी० ९२/९-१०)

पौराणिक साहित्य में देवी के पूजन के लिए वे सारी परिस्थितियाँ कारण के रूप में बताई गई है जो व्यक्ति को भौतिक रूप से असहाय कर देती है। इनमें सर्वाधिक प्रधान संग्राम का अवसर समझा जाता था। महाभारत की दोनो स्तुति इसी हेतु कों लेकर की गई है। भीष्म पर्व की स्तुति में अर्जुन देवी के प्रसाद से नित्य विजय पाने की इच्छा करते हैं– **जयो भवति में नित्यं त्वत्प्रसादाद्रणाजिरे। (भीष्म० २३/१३)** युधिष्ठिर ने भी यही प्रार्थना की है . . .**संग्रामे विजय प्रदा।**

ममापि विजयं देहि वरदा भव साम्प्रतम्॥ (विरा० ६/१३)

ऋग्वेदीय रात्री सूक्त (१०/१२७) के खिल में रात्री देवी को दुर्गा रूप में वर्णित किया गया है। इस स्तुति (खिल ४/२/९) में देवी को रिपुसंकट से बचाने वाली एवं संग्राम में विजय देने वाली कहा गया है। भविष्य पुराण (उत्तर पर्व अध्याय १३८) में विन्ध्यवासिनी की पूजा युद्धारम्भ में किए जाने का विधान वर्णित है। बृहद्धर्म में राम एवं स्कंद पुराण में युधिष्ठिर द्वारा युद्धारम्भ में दुर्गा की स्तुति एवं पूजा का वर्णन है। पाश्चात्य एवं पाश्चात्य शैली के सभी लेखकों ने इस देवी को War-Goddess नाम से वर्गीकृत किया है। पुराणों में देवी के युद्धों का वर्णन भी है। किन्तु देवी के मूल स्तुतियों के अध्ययन से देवी के रक्षिका एवं स्थितिकर्त्री रूप का अधिक वर्णन हुआ है। युद्धकत्व उसी प्रक्रिया का एक अंग मात्र है। देवी पुराण विन्ध्यवासिनी के पूजन के जिन हेतुओं की सूची दी है उसमें रक्षा एवं भयनिवारण प्रधान है। महाभारत विराट पर्व में दुर्गा स्तुति के फलश्रुति में रक्षा एवं भयनाश के साथ साथ अभावपूर्ति भी वर्णित है।

देवी पुराण के वचनानुसार देवी अपने आराधक की पर्वतों समुद्रों दुर्गम एवं विषम स्थलों में चोरों से राक्षसों, सिंह, व्याघ्र, तरक्षु आदि दुष्ट पशुओं से, साँपों एवं दुष्टचित्त वाले व्यक्तियों से रक्षा करतीं हैं। वज्रपात या विद्युन्निपात युद्ध, मदमस्त हाथियों के हमलों या सर्पदंश, लोहे के जंजीरों में कसे जाने या कालपाश से बँधने पर अथवा मृत्युकारक किसी भी संकट के उपस्थित होने पर देवी का स्मरण करने पर व्यक्ति भयमुक्त हो जाता है–

पर्वतेषु समुद्रेषु दुर्गेषु विषमेषु च।
चोरेषु चैव रक्षःसु तरक्षूणां भयेषु च॥

व्यालेभ्यो दुष्टचित्तेभ्यः सर्वतः परिरक्षसि।
सिंह व्याघ्रभये चैव समे निम्नोन्नते तथा॥

त्वं हि नः सर्वकार्येषु ददास्यभयदक्षिणाम्।
वज्राशनिनिपातेषु तथा समरसंकटे॥

गजेन्द्रदशनप्रोतो दष्टोह्याशीविषेण वा।
श्रृंखलावेष्टितग्रीवः पादयोरुभयोरपि॥

बद्धो वा कालपाशेन मृत्योर्वा वशमागतः।
कीर्तनात् तव देवेशि मुच्यते नात्र संशयः।। देवी पु०१२७/१३०-१३४

विराट पर्व की स्तुति में उपर्युक्त अवसरों के अतिरिक्त अन्य अनेक अभाव भी बताए गए हैं जिनकी पूर्ति इस विद्या की आराधना से होती है। पृथिवी पर बढ़े हुए भार को देवी की कृपा से ही दूर किया जा सकता है। घने वनों में फँसने पर अथवा महासागर में आपत्तिग्रस्त होने पर, दस्युओं से घिरने पर, नदी पहाड़, जंगल आदि पार करने के अवसरों पर इस विद्या का ध्यान एवं स्मरण संकट दूर करता है। स्तुतिकार कहते हैं कि मनुष्यों का बन्धन, मोह, पुत्रनाश, धनहीनता किसी प्रकार के रोग, मृत्यु, सभी प्रकार के भय देवी की पूजा से नष्ट हो जाते हैं। किसी भी दुष्ट शक्ति का प्रभाव नष्ट होता है एवं साधक के लिए राज्य, आयु, सुन्दर शरीर एवं पुत्रादि सुख अत्यन्त सुलभ होते हैं–

भारावतारे ये च त्वां स्मरिष्यन्ति च मानवाः।
प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नराभुवि।।
न तेषां दुर्लभं किञ्चित् पुत्रतो धनतोऽपि वा।।

. . . . .

कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे।
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम्।।
जलप्रतरणे चैव कान्तारेष्वटवीषु च।
ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः।।

. . . . .

नृणां च बन्धनं मोहं पुत्र नाशं धनक्षयम्।
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यति।।
ये च संकीर्तयिष्यन्ति लोके विगत कल्मषाः।
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुः सुतम्।।

प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे।
अटव्यां दुर्गकान्तारे सागरे गहने गिरौ॥

ये स्मरिष्यन्ति मां राजन्यथाऽहं भवता स्मृता।
न तेषां दुर्लभं किञ्चिदस्मिंल्लोके भविष्यति॥

विराट ६/१९; २०-२१; २३; ३०-३३

इसी प्रकार के हेतु भीष्म पर्व (२/३) की स्तुति में भी वर्णित हैं–

य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः।
यक्षरक्षः पिशाचेभ्यो न भयं विद्यते सदा॥

न चापि रिपवस्तेभ्यः सर्पाद्या ये च दंष्ट्रिणः।
न भयं विद्यते तस्य सदाराजकुलादपि॥
विवादे जयमाप्नोति बद्धो मुच्यति बन्धनात्।
दुर्गं तरति चावश्यं तथा चौरैर्विमुच्यते॥

संग्रामे विजयेन्निस्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम्।
आरोग्य बलसम्पन्नो जीवेद् वर्षशतं तथा॥

वायुपुराण एवं मार्कण्डेय पुराण (सप्तशती) में इस प्रकार के उद्देश्यों के अतिरिक्त बालकों के रोगों से उनकी रक्षा का भी वर्णन हैं वायुपुराण के विन्ध्यवासिनी या भद्रकाली स्तुति में उल्लिखित है कि यदि बालक या शिशु ग्रह, भूत या पूतनाओं से ग्रस्त हो जाए उसकी रक्षा के लिए देवी के नामोंका उच्चारण करना चाहिए। साथ ही वायुपुराण के के अनुसार मानसिक रोगों (आधियों) को भी देवी के नामोच्चारण से शान्त किया जा सकता है–

ये पठन्ति नरास्तेषां विद्यते न पराभवः।
अरण्ये प्रान्तरे वापि पुरे वापि गृहेऽपि वा॥

व्याघ्रकुम्भीर चौरेभ्यो भूतस्थाने विशेषतः।
आधिष्वपि च सर्वासु देव्या नामानि कीर्तयेत्॥

अर्भकग्रहभूतैश्च पूतनामातृभिः सदा।
अभ्यर्दितानां बालानां रक्षामेतां प्रयोजयेत्॥ (वायु १/९/८७-८९)

दुर्गा सप्तशती अ० १२ में इसी प्रकार के उद्देश्यों को विस्तार से बताया गया है।

वामनपुराण एवं सप्तशती में देवी उपासना का फल दुःस्वप्ननाश भी बताया गया है– **दुःखस्वप्न नाशो भविता न संशयो वरस्तथाऽन्यो व्रियतामभीप्सितम्॥**
(वाम० ५६/६५)

दुःखस्वप्नं च नृभिर्दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते॥ (सप्त० अ० १२/)

आपाततः इन सभी फलश्रुतियों से प्रतीत होता है कि देवी उपासना भौतिक हेतुओं की सिद्धि के लिए होती थी। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है वाक् तत्त्व की व्यापकता एवं सृष्टि स्थिति संहार के प्रति इस तत्त्व के सूक्ष्म दायित्व के कारण लोक में इसकी उपासना बहुधा भौतिक उपलब्धियों के लिए की जाती है। तथापि वैष्णवी माया के सूक्ष्म आधार से पारमार्थिक मुक्ति भी प्राप्य है एवं मुक्ति के लिए भी इसकी उपासना की कथाएँ है। सप्तशती का समाधि वैश्य मोक्ष लाभ कर सका था। सप्तशती के ही ११वें अध्याय में वैष्णवी विद्या को मुक्ति का हेतु कहा गया है।

परावाक् स्वयं में पूर्ण अधृष्य स्वतन्त्र एवं चेतनरूपा है। परावाक् का यह स्वातन्त्र्य कुमारी पूजा का बीज है। विन्ध्यवासिनी की अवधारणा कुमारी देवी की होने से उनका स्वरूप सर्वशक्ति ब्रह्म के समकक्ष स्थापित है। इस मान्यता को देव्यथर्वशीर्ष स्पष्टतः पुष्ट करता है। कुमारी पूजा की इस व्यापकता का दर्शन पृथक्तया करने से इसके अन्यपक्ष भी स्पष्ट होते है।

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्त वीर्या, विश्वस्य बीजं परमासि माया
संमोहितं देवि समस्तमेतत्त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

कुमारी पूजा : मूल अवधारणा

कन्याओं की पूजा यद्यपि सम्पूर्ण विश्व की अनेकों प्रजातियों में प्राचीनकाल में होती थी किन्तु भारत में इस विद्या की जड़ें सर्वाधिक गहरी हैं। इसके अनेक पक्ष हैं

१. विश्व के अनेकों महापुरुषों की उत्पत्ति कन्याओं से बताई जाती है। २. कोई भी कुमारी देवी जो शाश्वत रूप से अविवाहित वर्णित होती रही हो वह कभी भी गौण नहीं होती सदा प्रधान ही रहती है। देवी के भयानक एवं सौम्य पृथक्-पृथक् रूपों में तथा दोनों विरुद्ध धर्मों के संशिलष्ट रूप में उपासना की दीर्घकालीन एवं अविच्छिन्न परम्परा भारत में रही है। यह उपासना परम्परा कब एवं क्यों आरम्भ हुई इसका विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि के कर पाना सरल नहीं है। किन्तु आज हमें यह परम्परा शाक्तसम्प्रदाय के रूप में प्राप्त है। जिसमें सर्वेश्वरी-शक्ति के रूप में इस विद्या (Cult) का सम्प्रत्यय प्राप्त होता है।

पूर्ण या 'सर्वसमर्थ' की अवधारणा का भाव वेदान्त द्वारा ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में ब्रह्म एवं माया के समवेत स्वरूप में व्याख्यायित किया गया है। इस सिद्धान्त में ब्रह्म शुद्ध चेतना है। माया उसके कर्तृत्व, ज्ञातृत्व एवं इच्छा की हेतु भूता शक्ति है। इसे वेदान्त की व्याख्या परम्परा में भली भाँति व्याख्यायित किया गया है, एवं पाश्चात्य विद्वान् भी ऐतिहाासिक दृष्टि से स्वीकार करते हैं[१]। शक्ति की अन्य भारतीय व्याख्याएँ इसे किसी भी क्रिया अथवा भाव के सुव्यवस्थित उद्भाव से परिणमन तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का स्रोत मानती हैं। वेदान्त में इसी तत्त्व का नामकरण मूल विद्या या माया, सांख्य में प्रकृति या प्रधान न्याय में ईश्वर की सिसृक्षा, शैव दर्शन में स्वातन्त्र्य या चिति किया गया है। विश्व के संसरण की मूलस्फूर्ति जिस तत्त्व के कारण है वह शक्ति है। भारत में विकसित किसी भी दर्शन में यदि कर्ता पुंवाच्य है तो उसके साथ शक्ति की कल्पना अवश्य की गई है। सौन्दर्य लहरी (प्रथम श्लोक) के व्याख्याकारों ने शक्ति शब्द से व्यक्त होने वाली अवधारणा को स्पष्ट किया है आनन्द लहरीकार ने शक्ति की व्याख्या 'कर्तृत्व के सामर्थ्य' के रूप में किया है **"शक्यते कर्तुं अनया इति शक्तिः।'** सौभाग्यवर्धिनीकार अधिक स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार–'जिस सामर्थ्य विशेष अथवा स्फूर्ति से चित् तत्त्व किसी भी व्यापार को करने, न करने अथवा विपरीत करने के योग्य बनता है वह शक्ति है।'

"कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभवन्त्या सामर्थ्यविशेषस्फूर्त्या॥" अरुणा मोदिनी कार ने शक्तितत्त्व को समझाने के लिए प्राचीन साहित्य से दो श्लोक उद्धृत किए हैं। उन श्लोकों का स्वारस्य यह है कि शक्ति तत्त्व सर्वात्मा होती है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समान

---

१. E.R.E.I, 47 Thiebaut Introduction to Vedant Sutra I. P. XXV का उद्धरण देखें

रूप से अनुस्यूत एवं कणकण में सामर्थ्य या योग्यता के रूप में व्याप्त होती है। इस तत्त्व को अलग करके जगत् की किसी प्रकार से कल्पना नहीं की जा सकती–

"आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तं शक्तिरावृत्य तिष्ठति।
शक्त्याविरहितं चैतत् स्थितिं न लभते जगत्॥

तथा सर्वात्म्यमस्याश्च मार्कण्डेयेन भाषितम्।
शक्ति सम्पूरितं यस्मात्तस्माच्छक्तिमयं जगत्॥"

वस्तुतः मार्कण्डेय पुराण की दुर्गा सप्तशती में महाशक्ति के संघीभूत स्वरूप में विश्व संचालन के प्रत्येक उपकरणों अथवा देवताओं का स्वत्व एकत्र रूप में अभिव्यक्त बताया गया है। शक्ति का सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म होता है एवं उसका प्रकटन आयास या चेष्टा में होता है। प्रत्येक मनुष्य या प्राणी चलना, रुकना, सोना, जागना, पलकें उठाना गिराना, दौड़ना, कूदना आदि क्रियाओं के माध्यम से इसका ज्ञान करता है–

गच्छंस्तिष्ठंस्स्वपन् जाग्रदुन्मिषन् निमिषंस्तथा।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम्॥

त०आ०वि० १/९० में त्रिशिरोमतम्: का उद्धरण।

प्रत्यक्तत्त्व प्रकाशिका में आचार्य चित्सुख ने कहा है कि सामर्थ्य का अनुमान कार्य करने पर ही हो सकता है (सामर्थ्यस्य कार्यगम्यत्वात् - तम की भावरूपता का प्रकरण)। दार्शनिकों ने इस सूक्ष्म शक्ति तत्त्व को परमचेतना के साथ आश्रित रूप में प्रतिपादित किया है। क्योंकि तर्कतः सामर्थ्य का अभिव्यञ्जन किसी आश्रय पर ही होगा। निरवच्छिन्न प्रकाश बिना कहीं प्रतिबिम्बित हुये प्रकट नहीं हो सकता। अरुणामोदिनीकार ने परमात्माश्रिता शक्ति के स्वरूप को समझाने के लिए बृहन्नारदीय के श्लोक उद्धृत किया है कि 'जिसप्रकार देह की शक्ति सम्पूर्ण अंगो में व्याप्त चेतना का आश्रय लेकर उसमे व्याप्त रहती है उसी प्रकार सर्वव्यापी चेतन तत्त्व का आश्रय लेकर उसकी स्वभूता शक्ति भी जगद्व्यापिनी होती है।'

यथा हरो जगद्व्यापी तस्य शक्तिस्तथा मुने।
देह शक्तिर्यथाऽङ्गानि स्वाश्रयं व्याप्य तिष्ठति॥

सौन्दर्यलहरी १ अरुणामोदिनी

दार्शनिक अरस्तु ने शक्ति की परिभाषा परिवर्तन या गति उत्पन्न करने, उसे स्थित करने अथवा कराने की क्षमता के रूप में किया है। पाश्चात्य जगत् के सामाजिक दार्शनिकों ने इस व्याख्या को सर्वाधिक सम्मान दिया है।

'Potency means 1. A source of movement or change, which is in another thing than the thing moved or in the same thing quaother, e.g. the art of building is a potencey which is not in the thing built, while the art of healing, which is a potency, might be in the man healed but not in him qua-healed. Potency then means the source in general, of change or movement in another thing's being moved by another thing, and also source of a thing's being moved by another thing or by itself quaother. For virtue of that principle in virtue of which the patient suffers any thing we call it capable of suffering, and this we do sometimes if it suffers any thing at all, sometimes not in a respect of everything it suffers, but only if it suffers or change for the better.

2. The capacity of performing this well or according to intention; for sometimes we say of those who merely can walk or speak, but not well or not as they intend, that they cannot speak or walk. The case of passivity is similer.

3. The states in virtue of which things are absolutely impassive or unchangeable, or not easily changed for the worse, are called potencies; for things are broken and crushed and bent and in general destroyed not by having a potedney but by not having one and by lacking something, and things are inpassive with respect to such processes if they are scarcely and slightly affected by them, because of a 'potency' and because of the 'can' to something and are in some positive states.'

E.R.E. X, 143, Metaphysica - tr. W. D. Ross, in 'Works of Aristotle tr. J.A. Smith and W.D. Ross. Vol VIII, Oxford, 1908 का उद्धरण

भौतिक शक्ति का विश्लेषण जेम्स मिल ने इस प्रकार किया है–

'In the sequence of events called cause and effect, men were not contented with the cause and effect they emegined a third thing, called Force or Power, which was not the cause, but something emenating from

the cause, and true and immediate cause of effect.'[1] मिल ने भारतीय न्याय दर्शन की पद्धति पर शक्ति को सहकारिणी एवं कल्पित तत्त्व के रूप में देखा है। ह्यूम का विवेचन अधिक स्पष्टतर है–

The motion of our body follows upon the cammand of our will. Of this we are every moment conscious. But the means by which this is effected; the energy, by which the will performes so extraordinary an operation of this we are so far from being immediately conscious, that it must for ever escape our most deligent enquiry....'[2]

इस प्रकार आरंभिक ऊर्जा या शक्ति को तर्क की दृष्टि से अव्यक्त, सूक्ष्म, आश्रित एवं किसी भी प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति को ऊर्जा के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है जोकि स्वयं अन्तः संकल्प रूपा होती है एवं परिवर्तन अथवा गति या भाव को किसी आधार में स्थिति प्रदान करती है।

निराश्रित शक्ति

तार्किक दृष्टि से शक्ति को आश्रय विहीन नहीं माना जा सकता। यह भौतिक शक्ति की अभिव्यक्तियों के सन्दर्भों में अनुभव भी किया जाता है। इस कारण शाक्तसम्प्रदाय के अध्येता पायने आदि विद्वानों ने शाक्तमत को अतार्किक एवं नश्वर भी कहा है। किन्तु शाक्त सम्प्रदाय में जिस शक्ति के निराश्रित अस्तित्व का विकास है। उसे तार्किक दृष्टि से भी निराश्रित मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। स्वतन्त्र शाक्त संप्रदाय की शक्ति चेतना का आश्रय लेकर अभिव्यक्त नहीं होती अपितु वह स्वयं ही चेतन रूपा होती है। उसमें स्वातन्त्र्य होता है। वह सर्वातिशायिनी एवं सर्वरूपा होती है। शाक्त दार्शनिक आत्मा को शक्ति का ही स्वरूप मानते हैं। भौतिक दृष्टि से उसे सर्वव्यापिनी एवं सभी देवताओं के तेज पुञ्ज से उत्पन्न बताया गया है। भारतीय शाक्त सम्प्रदाय ऐसे तत्त्व को व्याख्यायित करता है जो सबके आदि में था एवं जिसने स्त्री पुरुष दोनों को उत्पन्न किया। इसी तत्त्व को देवशास्त्र में विभिन्न नाम दिए गए हैं। जैसाकि अरुणामोदिनीकार उद्धृत करते हैं–

---

1. Analysis of the phenomen a of the Human Mind, New ed. London 1863, Vol II, P. 328
2. A Treatise of Human Nature-Ed. T. H. Green and T. H. Grose, New ed. London, 1909, Vol I P. 452

उमेति केचिदाहुस्तां शक्तिं लक्ष्मीति चापरे।
भारतीत्यपरे चैनां गिरिजेत्यब्धिजेति च॥

दुर्गेति भद्रकालीति चण्डी माहेश्वरीति च॥

कौमारी वैष्णवी देवी केचिदैन्द्रीति चापरे॥

ब्राह्मीति विद्याऽविद्येति भावेति च तथापरे।
प्रकृतिश्च पराचेति वदन्ति परमर्षयः॥

सर्वत्र शक्तिरूपेण देव्येकैव प्रवर्तते॥ (सौ० ल० १ पर अरुणामोदिनी में उद्धृत बृहन्नारदीय पुराण)

भारत में शक्ति की पराकाष्ठा को स्त्रीरूप में वर्णित किया गया है। परमतत्त्व को स्त्रीरूप में प्रकट करने का सिद्धान्त ऐकान्तिक रूप से शाक्त सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध हो ऐसा नहीं है। ऋग्वेद (१/१६४/१६) के मन्त्र में परमतत्त्व को स्त्रीरूप में उपकल्पित करने का स्पष्ट वर्णन है–

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानत् सपितुष्पितासत्॥

(सायण भाष्य - याः इदानीं स्त्रियः सतीः स्त्रीत्वं प्राप्ता आहुर्लौकिकाः तान् उ तानेव मे मह्यं पुंसः पुरुषान् आहुः प्रतिपादयन्ति तत्त्वज्ञाः। कथमन्यस्य अन्यभावः उच्यते एकस्यैव निरस्तसमस्तोपाधिकस्य आत्मनः तद्देहावस्थान मात्रेण तत्तद्व्यपदेशोपपत्तेः। श्रूयते हि–'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी (श्वेत० उ० ५/३) इत्यादि। स्त्रीत्वं पुंस्त्वं च उभयमपि नास्तीत्युक्तं भवति। श्रुतिरपि तदभावं बोधयति–

'नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपूंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स चोद्यते॥

(श्वे० उ० ५/१०) इति। अमुमर्थं अत्यंतं निगूढं अक्षण्वान् ज्ञानदृष्ट्युपेतः कश्चिन्महान् पश्यत् जानाति। अन्धः अतथारूपः स्थूलदृष्टिः न वि चेतत् न विचेतयति न जानाति। किं च पुत्रो वयसाल्पोऽपि यः कविः क्रान्तप्रज्ञो ज्ञानी स्यात् ईम् इममर्थं स विचिकेत जानाति। एवमुक्तलक्षणस्य परमात्मनः ता तानि स्त्रीत्वपुंस्त्वादीनि यो

विजानात् औपाधिकानि जानीयात्। स पितुः स्वोत्पादकस्यापि ज्ञानरहितस्य पिता असत् पितृवत् पूज्यो भवति।)

"जिस परमात्मतत्त्व को लोक में लोग स्त्री रूप में पूजा करते हैं उसी को वैदिक तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं। पुरुष में स्त्रीत्व का भाव इसलिए आरोपित किया गया है क्योंकि आत्मा सभी प्रकार की उपाधि से मुक्त तत्त्व है वह जिस स्त्री या पुरुष रूप मे स्वयं को व्यक्त करता है वही उसका नाम रख दिया जाता है। इसी भाव को श्वेताश्वतर उपनिषद् (४/३) में इसप्रकार कहा गया है– 'तुम स्त्री, पुरुष कुमार अथवा कुमारी सभी कुछ हो'।

यद्यपि उस तत्त्व में स्त्रीत्व या पुरुषत्व दोनों भाव परमार्थतः नहीं है। इस प्रकार का भाव श्वेताश्वतर (५/१०) में भी व्यक्त किया गया है–'यह न स्त्री है न पुरुष है न नपुंसक है। जिस जिस शरीर को वह धारण करता है उसी के अनुसार उसका नाम हो जाता है।" इस गुह्य विषय को कोई तत्त्वज्ञ महान् व्यक्ति ही जानता है। ज्ञान चक्षु विहीन व्यक्ति इस रहस्य को नही समझता। कोई अल्पवयस्क यदि कवि या क्रान्त प्रज्ञ है तो वह इस स्वरूप को जानता है एवं वह पुत्र या बालक पिता के समान या ज्ञानवृद्ध के समान पूज्य होता है।''

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि वैदिकजन स्त्रीतत्त्व की महत्ता भलीभाँति अनुभव करते थे। स्त्रीतत्त्व पर पौराणिक दृष्टि को स्कन्दपुराण (माहेश्वर खण्ड अध्याय ६५) में सुन्दर रीति से व्यक्त किया गया है-युधिष्ठिर ने देवी विन्ध्यवासिनी की स्तुति की। भीम पुरुष प्रधान समाज के गर्व के प्रतिनिधि के रूप में युधिष्ठिर को स्त्री की पूजा करने के लिए धिक्कारने लगे। उनके शब्द अत्यन्त कटु थे। यथा-हे राजा युधिष्ठिर जो लोग तुम्हें सर्वज्ञ मानते हैं वे सभी झूठे हैं। तुम्हे तो एक अणु का भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार की सज्जनता तुम ही कर सकते हो कि सर्वशास्त्र वित् होकर भी एक स्त्री के शरणागत हो। तुम सर्वशास्त्रज्ञ हो स्वयं जानते कि प्रकृति जड़ रूपा है एवं विश्व को सम्मोहित करती है। पुरुष चेतन है एवं प्रकृति अचेतन। पुरुष के लिए प्रकृति प्रिया मात्र है ऐसा पूर्वज्ञानियों ने बताया भी है। तुम स्वयं पुरुष होकर प्रकृति को प्रणाम कर रहे हो इस पर मुझे हँसी आती है। जैसे कोई मूढ व्यक्ति अपने ही जूतों को अपने सिर पर रखता हो वही स्थिति देवी भक्तों के विषय में कही जा सकती है। यदि तुम्हारी वाणी स्तुति के लिए व्याकुल ही थी तो त्रिपुरान्तक महादेव की स्तुति क्यों नहीं करते अथवा यदि उन्हें अलक्ष्य मानते हो तो जिसके प्रसाद से द्रौपदी मिली, तुमने राजसूय यज्ञ किया, मैंने जरासंध को मारा एवं जिसकी कृपा से हम कौरवों को जीतना चाहते हैं, उस पुरुषोत्तम कृष्ण की स्तुति करो।

यदि यादव मान कर अल्पबुद्धि के कारण उनकी स्तुति नहीं करते तो महापराक्रमी अर्जुन की स्तुति करो जिसने लक्ष्य भेदन किया, खाण्डववन जलाया। अथवा मेरी स्तुति करो जिसने लाक्षागृह में तुम्हें बचाया, हिडिम्ब एवं जरासंध को मारा।' इस प्रकार के अनेकों गर्व पूर्ण वाक्य भीम बोले। इस प्रलाप को सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि 'भीम तुमने जिस अल्पज्ञान का परिचय दिया है। इससे लगता है कि तुम्हारा वेदाध्ययन करना व्यर्थ हो गया। तुम समस्त प्राणिमात्र की माता अम्बिका पर संदेह कर रहे केवल स्त्री होने के कारण तुम उनकी अवमानना कर रहे हो तो क्या स्त्री होने पर कुन्ती तुम्हारे लिए प्रणम्य नहीं है। यदि ब्रह्मा विष्णु एवं शिव द्वारा पूजित महामाया का अस्तित्व न होता तो तुम्हारे देह का उद्भव कैसे सम्भव होता। परमात्मा भी इस शक्ति की आराधना करते हैं। वासुदेव कृष्ण इस परात्परा शक्ति की प्रतिदिन पूजा करते हैं। यदि मुझ पर संदेह करते हो तो कृष्ण पर भी सन्देह करो। इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण बातें पुनः मत करना। यदि सुख चाहते हो तो प्रणाम करके उन्हीं की शरण में जाओ।' भीम नहीं माने। उनके नेत्रों की दर्शनशक्ति समाप्त हो गई। युधिष्ठिर ने भीम को माता से प्रणाम करके प्रार्थना करने के लिए कहा। भीम बोले कि 'मैं परमेश्वरी की सत्ता को जानता हूँ किन्तु उनके प्रभाव की अनुभूति के लिए ऐसा कह रहा था।' भीम ने प्रार्थना की एवं भगवती ने उन्हें बाह्य चक्षु के साथ आन्तरचक्षु भी प्रदान किया। तथा भीम को प्रत्यक्ष होकर समझाया–'हे भीम मेरा कोप जिस किसी के प्रति नहीं होता किन्तु तुम प्रमाण पुरुष हो। आने वाली सन्ततियाँ तुम्हारा अनुकरण करेंगी। अतः तुम्हारे विपरीत वचनों के लिए मैने तुम पर कोप किया। (श्लो० १-९०)।

कथा का स्वारस्य यह है कि मूल शक्ति को जडात्मिका नहीं कहा जा सकता। वह चेतनरूपा है एवं स्त्री रूप में यह तत्त्व सर्वातिशयिनी सर्वजननी एवं सर्वव्याप्ता है।

अभेदानन्द का कथन है कि जनयित्री प्रकृति ही परमेश्वर के मातृस्वरूप का व्यक्तीकरण है। 'दिव्य ऊर्जा को शक्तिहीन प्रकृति नही मान लेना चाहिए जिसकी यहूदी एवं क्रिश्चियनों ने उपेक्षा की है। वाक् सूक्त (ऋ० १०/१२५) में दिव्य ऊर्जा के सर्वेश्वरत्व की सम्यक् व्याख्या की गई है।' 'जो लोग परमेश्वर के पुरुष रूप की पूजा करते हैं। वस्तुतः वे दिव्य माता के गर्भ से उत्पन्न एक शिशु की पूजा करते हैं। क्योंकि क्रिया, शक्ति एवं बल ही एक पुरुष का निर्माण करती है एवं वह उसे दिव्य माता से प्राप्त होती है। किन्तु जो दिव्यमाता की उपासना करते हैं वे सभी देवताओं सभी देवदूतों, सभी आत्माओं एवं जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में सत्तावान् हैं सभी की एक साथ पूजा करते हैं। 'वह दिव्य-माता कभी पुरुष रूप में कभी स्त्री रूप में उत्पन्न होती है। वही विश्व में नियमबद्धता एवं धर्म को प्रतिष्ठित करती हैं। सभी पुरुष एवं स्त्री उसी की सन्ततियाँ

हैं। किन्तु स्त्री रूप में कुछ अधिक विशेषता है। क्योंकि स्त्री इस पृथिवी पर मातृत्व को व्यक्त करती हैं। अतः सभी स्त्रियाँ वे चाहे विवाहित हो अथवा अविवाहिता हो, उसी सर्वशक्तिमयी दिव्यमाता की अभिव्यक्तियाँ हैं।"[१]

उत्पादकता एवं निर्मिति को अपरिहार्य स्त्रोत के रूप में पौराणिक कथाओं ने स्त्री तत्त्व को दिव्य शक्ति रूप में व्याख्यायित किया है। **वराह पुराण** (८९/३७-४५) में इस प्रकार की कथा है कि ब्रह्मा ने बहुत काल तक प्रजोत्पत्ति एवं सृष्टि विस्तार का प्रयत्न किया किन्तु सफल नहीं हुए। जब ब्रह्मा मानस संकल्प के आधार पर प्रजा का विस्तार नहीं कर सके तब उन्होंने योग की अवस्था में इसके कारण पर विचार किया। समाधि की अवस्था में उन्होंने स्त्री की महत्ता के रहस्य को जाना। साथ ही यह भी ज्ञान किया कि एक दिव्य कन्या श्वेतपर्वत पर तपश्चर्या कर रही है। ब्रह्मा ने वहाँ जा कर उस कन्या से तप का कारण पूछा। उसने कहा मैं सर्वगा होना चाहती हूँ। ब्रह्मा ने उसे सर्वगात्व का वर दिया एवं उस कन्या का वरण भी किया जिससे उनकी प्रजोत्पत्ति आरम्भ हुई।' उत्पादकता में अपरिहार्य प्रतिभागिता के लिए स्त्री देवियों की उत्पत्ति एवं पूजा की अन्य कथाएँ भी पुराणों में प्राप्त होती हैं। **देवी भागवत** में विन्ध्यवासिनी देवी के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कथा दी गई है कि मनु ने देवी की मृण्मूर्ति बना कर उपासना की एवं देवी ने उन्हें प्रसन्न हो कर प्रजा विस्तार के लिए शक्त होने का वरदान दिया एवं विन्ध्यपर्वत पर जाकर वास् करने लगीं। स्त्रीतत्त्व की इस सौम्य मूर्ति का वर्णन विश्व की अनेक देवियों में भी देखा जाता है। ब्रिन्टन (Brinton) के शब्दों में[२]–

There is however a law of differentiation of function as between male and female deities that states the gods apart to exercise the stenner qualities as ruler, law-giver, judge, protector or conqueror, whilst goddesses symlolize the gentler and more hartful qualities of Nature and mind....The name Minarva, goddess of wisdom and contemplation is from the Latin, Greek and Sanskrit word of mind. Among the Tzentals of Mexico was and still is worshipped as the highest of goddesses, Alaghom Naom, lit. 'She who brings forth mind.' To her was due the mental and immaterial part of Nature, hence another of her names was Iztal Ix, the mother of wisdom.

---

1. Philosophical Ideas of Swami Abhedanand, Calcutta, Vol I, P. 416-420
२. Mythes of New World, Brinton, Philodelphia, 1896, P. 179 (quoted in E R E, V, P. 828 A

स्त्री देवियों में इस प्रकार की सूक्ष्मशक्तियाँ भारत की समय की अधिष्ठातृ काली, वाणी की अधिष्ठातृ सरस्वती में भी अभिकल्पित हैं। किन्तु भारतीय देवियों के किसी भी रूप का मौलिक सम्बन्ध उत्पादकता के भौतिक सिद्धान्त मात्र के सहारे नहीं देखा जा सकता। लगभग सभी पौराणिक देवियों में एक साथ मार्दव एवं उग्रता दोनों का समावेश देखा जाता है। ए०बार्थ ने इस तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है–

Whilst many goddess are resplendent with light, other are since they dwell in the deeps of things, of sinister character. Other combine both qualities as is true of Durga, Kali, Chandika, Chamunda of India. These are so tender as to receive the innocent prayers of little children, and at the same time are gloomy and foreboding. (Religions of India, London, 1891, P.198)। देवियों की अवधारणा की तात्त्विक सूक्ष्मता की व्याख्या कुछ विद्वानों ने उन्हें 'शुद्ध तत्त्व' कह कर एवं कुछ ने 'देवताओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म' कहते हुए की है।[1]

वैदिक उषा प्रकाश को रात्रि अंधकार को अदिति निःसीमता को अरण्यानी वन एवं वन्य जीव जन्तुओं को सिनीवाली, कुहू, राका आदि एक विशेष कालखण्ड को उसकी पूर्ण चेतना के साथ व्यक्त करती हैं। पौराणिक देवियों में प्रधान विन्ध्यवासिनी देवी एवं उनके कात्यायनी, कौशिकी, एकानंशा आदि स्वरूप रक्षा नियमबद्धता स्थापित करने के लिए प्रसिद्ध हैं। आद्याशक्ति विन्ध्यवासिनी सृष्टि के नियमों को सुस्थिर करने के लिए व्यक्त होती हैं। दुर्गा की पूजा युद्धारम्भ के पूर्व किया जाता था। केवल भारत में ही नहीं इसप्रकार की परम शक्तिशालिनी देवियाँ विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी पूजी जातीं थीं। उदारहण के लिंए बेबिलोनियाँ की देवी इश्तर को लिया जा सकता है। इस देवी को महादेवी माना जाता था। इसमें अनेक प्रकार के गुणों की कल्पना की गई है किन्तु मूलतः इस महाशक्ति को युद्धों की स्वामिनी के रूप में जाना जाता था। एस०लैङगडन् के शब्दों में–

"The word Iśtar is semetic, and perhaps indicates that she was a vegetation-goddess, if 'Is' be from 'gis' 'tree' 'wood'. She was considered a solar deity at a very early period, and refered to the 'Light of heaven and

---

1. Whilst it is not true, as Max Müller has pointed out Contribution to the Science of Mythology, London 1897, ii, P. 818) that female deties are purely abstract principle, it is safe to say that they are generally more spiritual than gods. E.R.E., V, P. 828).

earth'. She was the mother goddess par-exellence and the goddess of love; she was identified with venus as the queen of heaven; she was the patroness of law and order; she was the raging storm that devostates heaven and earth; and she and Tammuz were associated in a way suggesting the female and male principles of life :

But more than all else she was 'mistress of battles' and 'mistress of war and battle'. Her war like character is excellently brought out in Asurabanipāl's dream.

As a war goddess she is frequently (and as early a 3000 B.C.) depected on seals where she is usually represented with clubs, scimitars, laws, and other weapons, leading captives to the king....As Assyrian war goddess she became the consort of Asur and was the special war-protector of Assyrian kings. Asurbanipal's description of the warlike Iśtar is famous."[1]

इसी प्रकार मिस्त्र की देवमाता नीथ (Neith) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की स्वामिनी सुमेरिया की 'निन्नी' या 'इन्निना' (Ninni or Innina) अथवा 'निनहुर सागे' (Ninhursage) मिस्त्र की 'आइसिस' (Isis), क्रीट की 'रिया' (Rhea) सर्वोच्च शाक्तिशालिनी देवियाँ थीं।

कुमारी पूजा का सामाजिक पक्ष

इतिहास वेत्ता यह खोज कर पाए हैं कि स्त्री देवियों की पूजा लगभग ३०,००० वर्ष पुरानी है। तभी से यह अनवरत रूप से सम्पूर्ण-विश्व में होती आ रही है[२] यद्यपि पाश्चायों द्वारा खोजी गई देवी की प्राचीनतम प्राप्त मूर्तियों को 'प्रस्तरयुगीन वीनस (Paleolithie Venuses) की मूर्तियाँ कहा जाता है। इन मूर्तियों की तिथि ईसा से १०००० वर्ष पूर्व बताया जाता है।[३] कृषि युग का आरम्भ ईसा के कम से कम ४०००० वर्ष पूर्व माना जाता है। उस समय देवियों की उपासना कृषि से सम्बद्ध कार्यों, जन्म एवं जीवन के सातत्य के लिए होता था। सम्भव है आरम्भिक शाक्त सम्प्रदाय आदिम कृषक समाज में उत्पादकता की अधिष्ठातृ एवं जननी के उपासना के साथ हुआ होगा। शक्ति की स्त्री रूप में इस प्राचीन उपासना के कारण अनेक नृतत्त्व विज्ञानियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट

---

1. Tammuz and Iśtar, S.Langdon Oxford, 1914, P. 106
2. Cult of Goddess James g. of Proston, Delhi, 1980, P. 8
3. E.R. Vol 15, 276A

हुआ एवं उन्होंने प्राचीन समाज की संरचना में स्रीतत्त्व की स्थिति पर अपनी अवधारणा बनाई कि प्रथम सभ्य समाज मातृसत्तात्मक रहा होगा।[1]

सामाजशस्त्रियों की यह मान्यता है कि स्त्री देवियों की पूजा की उत्पत्ति इसी प्रकार की मातृसत्तात्मक समाज में विकसित हुई, होगी। इश्तर या अस्तार्ते (Astarte) देवी की पूजा के उद्‌भव के विषय में प्रो० पैटन लिखते हैं कि 'सेमेटिक जातियों के पृथक् होने के पूर्व ऐसे अनेक प्रमाण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उनमें मातृसत्तात्मक समाज था। ये जातियाँ अरब के मरु में एक विशेष प्रकार के नखलिस्तान में रहती थीं। सम्पूर्ण समाज उनकी माताओं एवं भाइयों एवं बच्चो द्वारा निर्मित थी। पिता दूसरी जाति के हुआ करते थे। उस नखलिस्तान में उनका प्रवेश केवल प्रजनन के लिए अस्थाई तौर पर होता था। 'कुल' माताओं के नाम से जाना जाता थ। वही कुल परम्परा की प्रधान होती थी। युद्ध में भी शान्ति में भी। इस प्रकार के समाज में अवश्य ही देवी स्त्री रूप में ग्रहण की गई होगी। पुरुषों की सत्ता मामा के रूप में रही होगी। पिता के लिए कोई स्थान नहीं रहा होगा। एवं उनका महत्त्व अत्यल्प रहा होगा। यह दृष्टि यह सुनिश्चित करती है कि उन सभी अन्य प्राचीनतम जातियों में जहाँ इश्तर के समान चरित्र पाए जाते हैं उनमें भी सेमेटिकों की भांति ही सामाजिक व्यवस्था रही होगी।'[2] इसी प्रकार 'साइबेली' अथवा 'आइसिस' की उपासना स्थली एसिया माइनर एवं मिस्र में भी मातृसत्तात्मक समाज होने की अभिकल्पना की जाती है।'

किन्तु किसी देश या प्रान्त में किसी देवी की पूजा प्राचीन काल में होती थी, केवल इस कारण वहाँ मातृसत्तात्मक समाज ही था ऐसी कल्पा करना इतिहास की दृष्टि से उचित नही है। ग्रीस आदि देशों के प्राचीन इतिहास में स्त्रियों के युद्धक होने की बात भी कही जाती है।[3]

---

1. "Under the impact of ever-increasing anthropological discoveries of ancient civilization in which woman's status was much more advanced than in European societies of their own times, and in the shadow, more over, of Darwin's theory of evolution, several authors toward, the end of the last century put forward theories purporting to show that at the dawn of mankind there was a state of matriarchy from which woman were gradually dislodged by the superiour physical strength of men coupled with their desire to ensure that their properity was passed on to their rightful heirs" E. Br. 19,909.
2. E. R. E. II, 15
3. "In militarist Sparta enjoyed near equality with man, mixing freely with them in public and in sports even to, including join wrestling between men and women, they had a voice in political and public affairs and were remarkably free from modesty." E. Br. 19, P.910

ऐसा भी कहा जाता रहा है कि युद्धक प्रजातियों में भी क्योंकि पुत्रों का अत्यधिक महत्त्व रहा है इस कारण भी स्त्रियों विशेषत: कुमारियों का सम्मान वीर पुत्रों की सम्भावित जननी के रूप में था।[१] कुछ भारतीय विद्वान् जैसे रामप्रसाद चन्द्र इसप्रकार की अभिकल्पनाओं पर विश्वास भी करते हैं एवं भारत में शाक्त सम्प्रदाय के उद्भव का मूल इसी प्रकार के सामाजिक परिवेश में हुआ होगा ऐसा मत भी व्यक्त करते हैं।[२]

मातृ सत्तात्मक प्रणाली स्वाभाविक रूप से अस्थाई होती है। वह सार्वभौम नहीं हो सकती जननी के रूप में समाज में स्त्री को विशेष स्थान मिलना यह एक प्राकृतिक तथ्य है। किन्तु स्त्री प्राधान्य अथवा उसके सर्वोच्च सामाजिक सत्ता से पनपी धार्मिक वृत्तियाँ स्थाई नहीं हो सकतीं। भारतीय परिवेश में पुरुष प्रधान समाज में स्त्री देवियों की पूजा की अविच्छिन्न परम्परा, मातृ सत्तात्मक समाज में पनपी उपासना विद्या को स्थायित्व एवं सातत्य प्रदान करने के परिणाम के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। धर्म को केवल सामाजिक परिवेश के साथ जोड़ कर देखने वाले विद्वानों की आमधारणा निम्न शब्दों में व्यक्त होती है–

"India is unique in having the opposite history of higher appreciation of goddess, along with its later development. It illustrates, however, the same principle in a negative way. The Vedas were written before and during the period when the Aryans were conquesing the aborgines of India and were engaged in feuds among their own tribes. Under such conditions, there are no goddess, although the literature is richly polytheistic. Since the notion has setteled down in to a relatively peaceful life of agricultural pursuits, the worship of female deities has risen to a place of supreme impor-

---

1. Primitive warring tribes have shown much concern over the birth of the greatest possible number of male children. It is natural that this need should be taken up and made part of the business of religion. No warriar could enter Valhalla in early Germanic timies who had not be gotten a son.
   Among the Marmons one's conditions and position in heaven depends upon the number of offspring brought forth under the regulation of the family." E.R.E. V, P. 832
2. "As a strong resemblance between the Indian Śākta conception of Śakti and the Śākta ritual of followers of Vāmācāra and kulācāra, who practised ceremonial promiseuity, on the one hand, and the Sametic conception of Ashtart (Astarte), the Egyptian conception of Isis, and the Phrygian conception of eybele on the other, it may be assumed that Śaktism arose in under which Astarte was conceived in Syria Cybele in Asia Miner and Isis in Egypt." Induction to-Aryan Races - R. P. Chandra P. 150

tance : Durga spirit of Nature and spring, Kali soul of infinity and eternity, Saraswati supreme wisdom and Sākti, mother of all phenomena. This is not so strange in a land in which from earliest times, 'One's daughter is the highest object of tenderness [Manu. IV. 185]". E.R.E.Vol. V, P.828 ।

भगिनी निवेदिता ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।-The mother is a thousand times more than the father (मनु ii,145) and in which there is the present phenomenon as in the province of Malabar, of women holding a higher social and political position than men. (The Web of Indian life-Sister Nivedita, New York,1904, P. 76).

विन्ध्यवासिनीविद्या के स्वरूप की व्यापकता

किन्तु यदि इस प्रकार के सामाजिक अभिकल्पनाओं को आधार माना भी जाए तब भी उत्पादकता या स्थैर्य से जुड़ी देवियों को दुराधर्षा एवं सर्वशक्ति मयी नहीं माना जा सकता। क्योंकि जिन देवियों को महाशक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। एवं जिनकी अविच्छिन्न उपासना आज भी होती है। उनका मूलमात्र पत्नीत्व के सिद्धान्तों में नहीं प्राप्त हो सकता। मातृ सत्तात्मक समाजों में पुरुषों की चाहे जो स्थिति रही हो। उसी काल में अन्य जन जातियों में पुरुष सत्तात्मक समाजों की भी सत्ता मानी जाती है। अथवा यदि यह भी माना जाए कि सभी जन समूहों में आरम्भ में स्वभावतः माताओं की ही प्रधानता रही होगी। तब भी उत्पादकता के लिए पुरुषों की आवश्यकता अपरिहार्य रूप से स्वीकार करना ही होगा। होगार्थ (Hogarth) ने इसका विश्लेषण इस रूप में किया है:

"In regard to the Aegean Divin Spirit it self, personified in the iconic age as a goddess and a young god, the student of comparative religion finds himself on very familiar ground. A goddess with a young subordinate god is known in early times, in every coast of Mediterranean which looked towards Crete. In Pucnic Africa she is Tanit with her son, in Egypt, Isis with Horus, in Phonicia, Ashtaroth with Tammuz (Adonis); in Asia Minor Cybele with Attis; in Greek (and especially in Greek Crete it self), Rhea with the the young Zeus. Every where she is IIa p Ø ĒVOS (i.e., unwed, but made the mother first of her companian by immaculate conception, and then of the gods and all life by the embrace of her own son. In memory of these original facts her cult (especially the most esoteric mysteries of it) is marked by various practices and observances symbolic of the negation of true marriage and abliteration of sex. Apart of her male votaries

are castrated; and her female votaries must ignor their married state when in her personal service, and often practise cerimonial promiscuity." E.R.E.Vol. I, P. 147 A.

इस प्रकार की काम-परक व्याख्याएँ यूरोप के समाज के पारम्परिक सोच की देन मानी जा सकती हैं। भारत में स्थिति विपरीत है। वैदिक आर्यजनों अथवा कथित हड़प्पा सभ्यता के जनों अथवा पूर्वी या दक्षिणी भारत के अन्य प्राचीन अवशेषों से प्राप्त सामग्रियाँ उक्त कल्पना का किसी भी अंश में समर्थन नहीं करतीं। ऐसा नहीं है कि भारत के किसी भाग में स्त्री राज्य का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः गुप्तों के पूर्व के भारत में पश्चिमोत्तर भारत के एक छोटे से भाग में स्त्रीराष्ट्र था। इस स्त्री राष्ट्र को यवनों ने नष्ट किया था। यवन आक्रमणों का क्षेत्र पश्चिमोत्तर प्रान्त ही है वहीं कहीं स्त्रीराष्ट्र की स्थिति रही होगी।

स्त्रीराष्ट्रं भक्ष्यकांश्चैव भोक्ष्यते कनकाह्वयः।
अल्पप्रसादा ह्यनृता महाक्रोधाः ह्यधार्मिकाः।
भविष्यन्तीह यवनाः धर्मतः कामतोऽर्थतः॥
वायु०२/३७/३८१-८२

देवी पुराण में भी अनेक शक्ति या देवी पूजक राज्यों की गंणना की है उनमें एक स्त्रीराज्य कहा गया है– **'स्त्रीराज्ये काशिकावने'** (देवी २/८)।

ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि इन स्त्रीराज्यों में ही देवी पूजा का उद्‌भव हुआ हो। साथ ही स्त्री-राष्ट्र कभी भी इतना शक्तिशाली नहीं रहा था कि वह सम्पूर्ण समाज को अभिभूत कर ले एवं अपने धार्मिक विचारों के प्रति इतना आस्थावान् बना दे कि शताब्दियाँ बीतने पर भी वे मान्यताएँ जीवित रह सकें।

देवी पुराण में अत्यन्त प्राचीन भारत के शक्ति स्थलों की सूची अव्यस्थित रूप में दी गई है। अध्याय ३८ के अनुसार हिमालय एवं विन्ध्यपर्वत पर जिन के शिवा एवं नन्दा नाम की देवियों की पूजा होती है उन महाशक्तियों ने सम्पूर्ण धरती को व्याप्त कर रखा है। अन्य भारतीय भागों में देवी स्थलों का विवरण इसप्रकार दिया गया है– विन्ध्य से मलय पर्वत तक–मङ्गला दुर्गा; विन्ध्य से पश्चिमी समुद्र तक – जयन्ती; कुरुक्षेत्र से हिमालय के निचले भाग तक–नन्दा, कालिका, तारा, सभी पर्वतों पर –उमा; किष्किन्धा पर्वत पर–भैरवी; कुशल पर्वत पर –रुद्राणी; जालन्धर पीठ में–भद्रकाली; कोल पर्वत पर– महालक्ष्मी; सह्य पर्वत पर–कालरात्रि; गंधमादन पर–अम्बा, लोहिता, उज्जयिनी में–उज्जेनी।

यह उज्जयिनी पश्चिम बंगाल की 'उजानी' है जो बर्दनाम जिले में स्थित है।[1]

इसी प्रकार अध्याय ३९ में पुष्कर, हिमालय, कामाख्या किष्किन्धा, काशिकाश्रम, सरस्वती तट, लंका, कैलास, धर्माख्य, कोटितीर्थ, भद्राख्य तीर्थ, कावेरी संगम, गोकर्ण, दण्डकवन, मण्डकी संगम, महाशोणनद, महोदय, मुण्डिपीठ, मलय, शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चपर्वत, शाल्मल, मन्दर, रामभद्र पर्वत आदि स्थान शक्ति पूजा के प्राचीन केन्द्र बताए गए हैं। इन सभी स्थानों पर पूजी जाने वाली देवियों को पुराणकार पौराणिक देवियाँ कहते हैं जिनकी पूजा विश्वामित्र ने की थी–

एता पौराणिका देव्यो जामदग्न्येन पूजिता।।
महाधर्म विनाशार्थं ब्रह्मणामित तेजसा।। देवी ३९/२२

वस्तुतः भारतीय कुमारी देवियों की अवधारणा भिन्न है इन देवियों को आरम्भ से ही प्रेरणा या ऊर्जा का मूल स्रोत माना गया है। इनकी उपासना सुरक्षा के लिए एवं युद्ध जीतने के लिए किया जाता है–

रक्षा च परमा देवि विष्णिवन्द्रद्रुहिणादिषु।
रक्षणाय नृपाणां च मर्त्ये त्वं देवि पूजिता।। (देवी ४२/३-४)

कुमारी देवियों के विषय में यहा अवधारणा समान रूप से पौराणिक साहित्य, जैसे स्कंन्द माहेश्वर खण्ड (६५ अ०) एवं भविष्योत्तर (अ० १३७/१३८ आदि में दुहराया गया है। इस प्रकार रक्षा के लिए पूजी जाने वाली कुमारी देवी के पूजा के मूल की कल्पना कन्याओं के मुक्त यौन स्वातन्त्र्य के काल्पनिक सामाजिक अवस्था में नहीं खोजा जा सकता है।

भारतीय देवियों के मुख्यतः दो स्वरूप हैं। १. क्रियात्मिका – सौम्य प्रकृति जैसे-सरस्वती, २. उग्र शक्ति – इसके भी दो पक्ष हैं क. संरक्षिका स्वरूप- जैसे विन्ध्यवासिनी, दुर्गा, उमा। ख. संहार शक्ति, काली, धूमावती, छिन्नमस्ता आदि देवियाँ। इन दोनों प्रकार के रूपों में देवियों का विवाहित एवं कुमारी दोनों ही स्वरूप बताए गए हैं। तन्त्रों में भारत की प्रधान कुमारी देवियों के नामों को कई संग्रहकारों ने एकत्र किए हैं। यद्यपि इन देवियों के सभी नाम बताना अत्यन्त कठिन है, तथापि कुमारी विद्या के अन्तर्गत जिन प्रधान नामों परिगणन है उनके नामों से इस विद्या का स्वभाव परिलक्षित होता है। पुरश्चर्याणव में पृथक्-पृथक् तन्त्रों से दो भिन्न-भिन्न नामावली प्राप्त होती है–

1. दे० हज्रा S. U. P. Page 85

१. नामान्यादौ व्याहरामि दुर्गा नारायणी शिवा।
महामाया योगनिद्रा कालरात्री कपर्दिनी।।
उग्रचण्डा भद्रकाली अजिता चापराजिता।
कात्यायनी महाकाली कामाख्या कुलनायिका।।
भैरवी भुवनशी च कौमार्यष्टादश स्मृता:।।

२. नामान्यादौ खलु महाचण्ड योगेश्वरी मता।
तत: सिद्धिकराली च पुन: सिद्धि विकराल्यपि।।
महान्तामर्यथ ज्ञेया वज्रकापालिनी तत:।
मुण्डमालिन्यदृहासिन्येते द्वे परिकीर्तिते।।
चण्डकापालिनी कालचक्रेश्वर्यप्यनन्तरम्।
गुह्यकाली तत: कात्यायनी कामाख्यया सह।।
चामुण्डा सिद्धिलक्ष्मीश्च कुब्जिका तदनन्तरम्।
मातङ्गी तदनुज्ञेया चण्डेश्वर्यथ कीर्त्यते।।
सर्वशेषेऽथ कौमारी अष्टादशेरिता।। (पुरश्च०पृ० १०८६-१०८७)

कुमारी देवियों की तृतीय प्रकार की सूची भी प्राप्त होती हैं इनमें ९ नामों का संग्रह है–

आद्या शुद्धाकालिकान्या तृतीया ललिता स्मृता।
चतुर्थी मालिनी ख्याता पञ्चमी स्याद्वसुन्धरा।
सरस्वती रमा गौरी दुर्गा तु नवमी भवेत्।। (पुर० पृ० १०८८-९)

पौराणिक कथाओं में दुर्गा कात्यायनी आदि कुछ को छोड़कर रमा, सरस्वती गौरी, महाकाली, शिवा आदि देवी रूपों के पतियों ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। किन्तु इन देविंयों के स्वत: पराक्रम अथवा असुर संहार के काल में ये आवश्यक रूप से कुमारी रूप में ही होती है। असुर संहारिका शक्ति के लिए कुमारी होना अनिवार्य है। देवी पुराण में लिखा है कि "शूलिनी विन्ध्यवासिनी दिव्यकन्या हैं। वस्तुत: देवी तभी देवताओं के शत्रु का नाश करतीं है जब तक वह अक्षत योनि होती है।'

कन्या दिव्या स्वयं प्रोक्ता कन्यारूपातु शूलिनी।
यावद् अक्षत योनि: स्यात् तावद् देवी सुरारिहा।। देवी० ३५/१७

कुमारी को चेतनात्मिका मूलप्रकृति की प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता हैं। तन्त्रों का वचन है कि कुमारी पूजा मूलप्रकृति से संबन्ध स्थापित करता है अतः पूर्व सञ्चित सम्पूर्ण कालुष्य हो नष्ट कर देता है--

कुमारी पूजिता हन्तिः कलुषं पूर्व सञ्चितम्।

कुमारिकां विजानीयात् साक्षात् प्रकृतिरूपिणीम्।।

पुरश्च० पृ० ११००

धार्मिक कृत्य के रूप में कुमारी पूजा के लिए वही काल बताया गया है जो काल देवी पुराण आदि ग्रन्थों में दुर्गा पूजा का उल्लिखित है–

कुमारी पूजनं भक्त्या शरत् पूजन कर्मणि।

बलिहोमादयश्चायं कलां नार्हन्ति षोडशीम्।। (वही० पृ० ११०२)

तन्त्रों ने पूजा योग्य कुमारी की आयु १२ वर्ष से कम ही माना है। ७ से ९ वर्ष की कन्या को श्रेष्ठ ५,६ एवं १० वर्ष की कन्याओं को मध्यम एवं १ से ४ एवं १२ वर्ष या अधिक की कन्याओं को अवर माना गया है–

उत्तमा सा परिज्ञेया सप्ताष्टनवहायना।

मध्यमा सा पञ्चवर्षा च षडब्दा दशहायना।।

एकद्वित्रिचतुर्वर्षी रुद्राब्दाद्याऽवरा स्मृता।। पुरश्च० पृ० १०८४ में वडवानलीय का उद्धरण

तान्त्रिक समाज में ऐसी उम्र की कन्याओं की जो, पूजा एवं उसके भावों से अनभिज्ञ हों अथवा जिनमें किसी भी रूप मे मैथुनी कामुकता का भाव विकसित होने की सम्भावना हो सकती है उन कन्याओं की पूजा निषिद्ध है–

एकवर्षा तु या कन्यापूजार्थे तां विवर्जयेत्।

गन्धपुष्पफलादीनां प्रीतिस्तस्य न विद्यते।। (वही० पृ० १०८२)

अजातपुम्मनःसङ्गां सप्ताष्टनववार्षिकीम्।। (वही० १०८३)

लोक में ऐसी मान्यता रही है कि कुमारी पूजा के समय एक ओर सभी देवता उसके दर्शन के लिए आते हैं दूसरी ओर दुष्टशक्तियाँ प्रेत भूत पिशाच गन्धर्व गुह्यक आदि उस पूजा को नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इसी कारण कुमारी पूजा काल में अन्य पूजा की भाँति केवल एकबार ही विघ्नोत्सारण नहीं किया जाता अपितु विशेष रक्षा के लिए यह धार्मिककृत्य दो बार किया जाता है–

कुमार्या सहिताः सर्वे तया देवीस्वरूपया।।

दर्शनार्थं समायान्ति यावन्तो देवयोनयः।

राक्षसा दानवा यक्षा ये चान्ये क्रूरकर्मिणः।

सह प्रविश्य कौमार्या मण्डपं शारदार्चनम्।।

लुम्पन्ति च कुमार्यर्चा पूजां विध्वंसयन्ति च।।

अतो वारद्वयं कार्यं विघ्नोत्सारणं प्रिये।। वही० पृ० १०८५

इसप्रकार जिस कुमारी पूजा परम्परा को भारत में परम्परागत रूप से सुरक्षित रखा गया है उसमें शुद्धमातृसत्तात्मक समाज में जन्म के कोई प्रमाण नहीं है। जो कन्या-देवी पूजी जातीं हैं उनकी आयु सभी कथाओं में १६ वर्ष बताया गया है। स्पष्टतया कुमारी पूजा के धार्मिककृत्य को दिव्यकन्या की अवधारणा से पृथक् रखा गया है।

यद्यपि विन्ध्यवासिनी के महिषवध के वामन पुराण की कथा में प्राप्त एक वर्णन स्त्री देवियों के उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक कारणों का भ्रम उत्पन्न करता है। देवी ने कहा कि 'मेरे कुल में व्याह करने की एक शर्त है तदनुसार वर को कन्या से युद्ध करके उसे पराजित करना होता हैं।

इसीप्रकार का वचन सप्तशती में भी इसी प्रकरण में आया है–

यो यां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।

यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति।। सप्त० अ०२

किन्तु इस कथा के सम्पूर्ण परिवेष को देखते हुए इस कथन को रूपकात्मक कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह देवी कोई सामान्य स्त्री के रूप में उत्पन्न नहीं हुई थीं। अपितु सभी देवताओं के तेज के संघात के रूप में प्रकट हुई थी। भारतीय कुमारी विद्या का सम्बन्ध सांख्य सिद्धान्त में देखा जा सकता है। कुमारी महिषमर्दिनी विन्ध्यवासिनी को महदादिनमस्कृता महामाया कहा गया है–

कन्यारूपा महाभागा महदादिनमस्कृता।। देवी० पु० ७/३९

वराह पुराण जिस शक्ति का वर्णन करता है उसका उद्भव ब्रह्मा विष्णु एवं शिव के सम्मिलित तेज से हुआ था। इस कन्या का वर्ग श्वेत, पीला एवं काला था। ये वर्ग त्रिगुण सत्त्व, रजस् एवं तमस् के प्रतिपादक हैं।[१]

---

१. त्रिवर्णा च कुमारी सा कृष्णा शुक्ल च पीतिका। वराह० ९०/२३

इसी प्रकार की उत्पत्ति वायु पुराण में मे भी बताई गई है। ब्रह्मा ने मानसी सृष्टि निर्मित की किन्तु इस प्रकार की सृष्टि में उत्पन्न ऋषिगण निरपेक्ष स्वभाव के थे। उनकी निरपेक्षता सृष्टि में बाधिका थी। अतः ब्रह्मा हिरण्यगर्भ को अत्यन्त क्रोध हुआ उस क्रोध से एक अर्धनारीनर शरीरी का जन्म हुआ वह शरीर अत्यन्त तेजोयुक्त था। ब्रह्मा उन्हें पृथक् होने की आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गए। तब उस संश्लिष्ट शरीर से स्त्री एवं पुरुष पृथक्-पृथक् उद्भूत हुए। स्त्री ने स्वयं को दो भागों कृष्ण एव श्वेत शरीरों में विभक्त कर लिया। इसी द्विधा भूता एकात्मिका का नाम परमब्रह्मचारिणी, विन्ध्यवासिनी, कात्यायनी दुर्गा महामाया आदि है (वायु पूर्वाध ९/६८-८६)।

इस कथा से स्पष्ट है कि प्रकृति के आद्यरूप को जिसे सांख्य कारिका में प्रधान या अव्यक्त एवं जड़ माना गया है। उसे पौराणिक स्मृति में चेतन मानते हुए उसके मूल अघृष्ट स्वरूप की पूजा का विधान किया गया है।

चरक कहते हैं विश्व में जो कुछ भी वस्तुएँ परमप्रिय हैं या हो सकती हैं। उन सभी का संघात या एकत्री करण स्त्री के शरीर में देखा जा सकता है-

इष्टाह्येकैकमप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः।
किं पुनः स्त्री शरीरे ये संघातेन व्यवास्थिताः॥

चरक सं०, चिकित्सित स्थान, सम्प्रयोग शरमूलीय बाजीकरण पाद, अध्याय२

वायु पुराण का उल्लेख है कि आद्या महादेवी दुर्गा के दो कुल हैं- १. प्रज्ञा २. श्री। इन्हीं दो कुलों से सहस्त्रों देवियों का उद्भव हुआ है। उन्हीं से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है-

महादेवी कुले द्वे तु प्रज्ञा श्रीश्च प्रकीर्त्यते।
आभ्यां देवीसहस्त्राणि यैर्व्याप्तमखिलं जगत्॥

वायु० पूर्वार्ध ९/९०

देवियाँ बुद्धि के प्रत्येक रूप एवं ऐश्वर्य के प्रत्येक पक्ष की या मूलशक्ति होती है। इसमें सभी प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल मानसिक वृत्तियों एवं उपलब्धियों का समाहार हो जाता है। इस पक्ष को सप्तशती के इस श्लोक में भी व्यक्त किया गया है-

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्बलक्ष्मीः,
पापात्मनां कृतधियां हृदेयषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥ सप्त० ३०४

सुकर्मियों की श्री पापियों की अलक्ष्मी, सज्जनों की श्रद्धा, कुलीनो की लज्जा यदि एक ही तत्त्व है तो उसे प्रेरणा या ऊर्जा के अतिरिक्त अन्य नाम देना कठिन है। एच० ड्रमण्ड[1] लिखता है कि "Love is not a late arrival, an after thought with creation, It is not a novelty of romantic civilization. It is not a pious word of religion. It's roots began to grow with the first cell of life that budded on this earth. It is the supreme factor of the evolution of the world.... The struggle for the life of these is the physiological name for the greatest word of ethies-other-ism, Altruism, Love.'

प्राथमिक मानव परिवार किसी वर्ग या धर्म विशेष की कल्पना भी नहीं कर सकता था। उसके लिए उसके आसपास का वातावरण एवं शुद्ध प्राकृतिक प्रेम ही उसका मार्गदर्शन था। इस अवस्था में स्त्री, सहज प्रेम की प्रत्यक्ष साधन के रूप में एक मात्र विकल्प थी। मनुष्य जन्म का आश्चर्य जनक चमत्कार करने वाली, कृषि, शिकार परिवार के विकास के लिए प्रेरणास्रोत बनने के साथ-साथ सक्रिय सहयोग करने वाली स्त्री के कन्या रूप में सभी स्त्रियों में सामान्य रूप से प्रतीत होने वाली सम्पूर्ण शक्तियों का बीज स्वीकार किया जाना स्वाभाविक था। निर्माण या उत्पत्ति के नकारात्मक स्वरूप को ही ध्वंस या विनाश कहा जाता है। अतः जो निर्मातृतत्त्व है उसे निर्मातृत्व के समस्त बाधाओं के ध्वंस की शक्ति अवश्य होनी चाहिए। अन्यथा उसकी निर्मातृत्व शक्तिका भी सत्यापन नहीं हो सकता था।

कुछ इसी प्रकार के सामाजिक वातावरण में कुमारी कन्या को अधिक स्वातन्त्र्य, अधिक महत्त्व मिला। विवाह संस्था के विकसित होने के पूर्व की अवस्था में कन्याओं का अधिक ही महत्त्व था, जो कि परिवार के आन्तरिक संरक्षण एवं अविकृत प्रेम की केन्द्रीय शक्ति थी।

अक्षत-योनि अवस्था वह अवस्था कही जा सकती है, जब उनमें परिवाररक्षा एवं उनकी स्थिति के आधारभूत प्रेम, बाधा डालनेवाली या ऋत को अनृत में परिवर्तित करने वाली शक्तियों की विजेत्री का रूप देखा जा सकता था। अतः किसी भी समाज ने जब शक्ति के दिव्य रूप की अभिकल्पना की तब उसे स्वाभाविक रूप से कन्या-रूप में कल्पित किया।

धर्म एवं पूजा के विकास के साथ-साथ इस तत्त्व को सर्वाधिक शक्तिशाली पशु सिंह को इसके वाहन के रूप में तथा इसकी अनन्तशक्ति को इसकी अनेक भुजाओं के

---

1. H. Drummond - The Ascent of Man London, 1894, P. 276-281

रूप में व्यक्त किया गया। कोई भी भारतीय देवी यदि सृष्टिध्वसंक या अवरोधक राक्षसों का संहार करने के लिए युद्ध करतीं हैं तो उनका स्वरूप कन्या का ही होता है। पति युक्ता देवियों का वर्णन युद्ध करते हुए नहीं किया जाता।

भारत में कन्यापूजा की जड़ें अत्यन्त गहरी होने एवं आजतक समाज के एक वर्गद्वारा एकाकी रूप से इसे महत्त्व देने का कारण आर्य विचारकता कही जानी चाहिए। विभिन्न रूपों एवं विधाओं में पूजी जाने वाली इस प्राचीन विद्या की व्याख्या आर्य ग्रन्थों में बड़ी सावधानी से नियमबद्ध रीति से दार्शनिक स्तर पर हुआ है। पुराण कर्ता आर्यजन इस वास्तविकता से परिचित थे कि ईश्वर के कन्या रूप में रचना, मेधा, ऐश्वर्य के सभी पक्षों का एक साथ संघी भूत अभिव्यञ्जना होती है। अतः ऋग्वेद की सभी स्त्री देवियों विशेषतः उनके कौमार्यावस्था को एक शक्ति 'परमाप्रकृति' के रूप में माना एवं भारत के अन्य जनों में प्रचलित सम्पूर्ण देवी पूजा के स्वरूपों को उसी में समाहृत कर लिया।

कुमारी विद्या की तात्त्विक व्याख्या के रूप मे सांख्य का उद्भव कहा जा सकता है। वैदिक परमाप्रकृति जडात्मिका नहीं थी दर्शन सांख्य पुरुष को भिन्नतत्त्व के रूप में उससे जोड़ता है। उसी में अविनाभावेन स्वीकार नहीं करता। सांख्य सिद्धान्त के उद्भव के विषय में कुछ कहा जाना कठिन है। ईश्वर कृष्ण ने ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में प्राचीन सांख्य को नया रूप दिया था। दो विपरीत स्वभाव वाले तत्त्वों प्रकृति एवं पुरुष के आधार पर विकसित इस दार्शनिक प्रक्रिया के मौलिक रूप में भी प्रकृति को मूलतः जड रूप ही माना जाता था ऐसा कह पाना कठिन है। क्योंकि प्राचीन भारत के सभी भागों में शक्ति पूजा समान रूप से अनेक रूपों में होती रही है, एवं उन सभी को सर्व समर्थ शक्ति के रूप में माना जाता था। पुराणों में उन सभी देवियों के केन्द्रीय रूप की व्याख्या प्रकृति या सांख्य के प्रधान के रूप में किया गया है। उनके विभिन्न अवतारों की चर्चाएँ हैं। उनमें भी जो कुमारी देवियाँ है, उन्हें विशेष रूप से प्रकृति का आद्य स्वरूप माना गया है। ये देवियाँ नित्य कुमारी, सर्वशक्ति सम्पन्ना, प्रधान एवं अधृष्टा है इनके अवतारान्तर के सम्बन्ध में शिव विष्णु ब्रह्मा आदि देवों से वैवाहिक सम्बन्ध का विवरण है किन्तु कौमार्य को व्यक्त करने वाला रूप सर्वथा स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च महत्त्व रखता है। इस रूप की तुलना सर्वोच्च नीरूप ब्रह्म के साथ भी जा सकती है। इसप्रकार के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में प्रकृति एवं पुरुष दो तत्त्वों की कल्पना ने जब जन्म लिया होगा उसमे पूर्व ही स्वतन्त्र प्रकृति को चेतनात्मिका माना गया होगा। शैवदर्शन एवं पुराणों में इसी प्रकार की प्रकृति के स्वरूप का विस्तार है। कभी परावाक् रूप में कभी चिति रूप में कभी दुर्गा एवं उनके कुमारी-रूप-भेदों में वर्णन इसी मान्यता को द्योतित करता है।

चतुर्थ अध्याय

विन्ध्यवासिनी के पौराणिक विग्रह

योगनिद्रा

विन्ध्यवासिनी की दार्शनिक व्याख्या का प्राचीनतम रूप 'योगनिद्रा' के स्वरूप एवं उसके विकास में दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि एकानंशा एवं योगनिद्रा में अभेद है। किन्तु हमने इन दोनों पौराणिक विग्रहों को पृथक्-पृथक् व्याख्यायित करना उचित माना। क्योंकि योगनिद्रा का स्वरूप पूर्ण भावात्मक रीति से विकसित हुआ है जबकि एकानंशा का विग्रह विकास अवतार के रूप में हुआ है।

योगनिद्रा का प्रथम नाम काल-निद्रा कहा जा सकता है। हरिवंश का कृष्ण जन्म प्रसंग सम्भवत: प्रथम पौराणिक साक्ष्य है जहाँ इस वैष्णवी शक्ति का स्मरण इसी रूप में किया गया है-**निद्रया काल रूपिण्या** (२/२/२५) इस शब्दाभिधान के साथ इस शक्ति की क्रिया बताई गई है। 'हिरण्य कशिपु के शाप से अभिशप्त षड्गर्भ पाताल में जल मे पड़े थे। विष्णु वहाँ गए एवं उन्हें देखा तथा कालरूपिणी निद्रा में अन्तर्हित हो गए एवं स्वप्न रूप में विष्णु उनके शरीर में प्रवेश कर गए तथा उनके प्राणों को खींच कर निद्रा को समर्पित कर दिया। तथा निद्रा से कहा, हे निद्रे तुम मुझसे उत्पन्न होकर देवकी के घर जाओ एवं इन प्राणों को देवकी के गर्भ में स्थिर करो।'[१]

इस प्राथमिक विवरण में निद्रा की प्राणधारकता विष्णु को स्वयं में लीन कर लेना एवं प्राणों के पुनर्योजन की शक्ति को व्याख्यायित किया गया है। यही निद्रा प्रकट होकर सर्वप्रथम विन्ध्याचल में स्थित हुई एवं तत्पश्चात् अनेक स्थानों पर पूजित हुई। यह भी इस सातत्य में पुराण कार स्पष्ट कर देते हैं। हरिवंश ने इस निद्रा के दो शाश्वत स्थान बताए है। प्रथम स्थान आकाश (**निरस्य माना गगने स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्** हरि० २/२/३९)

---

१. हरि० २/२/२५-२९

एवं द्वितीय स्थान विन्ध्याचल (**स ते विन्ध्ये नगश्रेष्ठे स्थानं दास्यति शाश्वतम् हरि०** २/२/४९)

इसी पुराण ने विष्णु से उत्पन्न इस निद्रा (**गच्छ निद्रे मयोत्सृष्टाम हरि०** २/२/२७ **विष्णोः शरीरजां निद्रां विष्णोः निर्देश कारिणीम्**।।) की मूर्त रूप में प्रकट होने पर योग कन्या नाम दिया है ('एकानंशां योगकन्यां। वही २/४/४७) इस 'योगकन्या' के स्वरूप में भारत की उन सभी देवियों का समायोजन हो गया जिनकी पूजा कन्या अथवा माता के रूप में होती थी। कृष्ण जन्म की कथा में इस निद्रा की अत्यधिक विशिष्ट भूमिका थी–

'देवकी के सप्तम गर्भ को निद्रा ने रोहिणी के गर्भ में स्थित कर दिया। उसने–अर्धरात्रि में देवकी का गर्भ पात कर दिया, एवं देवकी निद्रा से आविष्ट होकर धरती पर गिर गई। पुनः उसने उस गर्भ को स्वप्न के समान देखती हुई अपने गर्भ में धारण कर लिया। अत्यन्त क्रियाशील (संविग्ना) निद्रा ने उस रात्रि के अन्धकार में रोहिणी से कहा हे रोहिणी इस गर्भ के खीचे जाने एवं अपने गर्भ में धारण करने के कारण इस पुत्र का नाम संकर्षण होगा। रोहिणी का गर्भ गिरने एवं पुनः प्राप्त होने पर वह किञ्चित् नम्र मुखी हो गई। इसके बाद रोहिणी आवास में प्रवेश कर गई। देवकी ने रोहिणी के ही गर्भ मार्ग से स्वयं गर्भ धारण कर लिया।"[१]

इस अटपटे प्रतीत होने वाले पौराणिक आख्यान में अघटितघटनापरीयसी निद्रा की दिव्यता प्रतिपादित है।

भास को निश्चित रूप से हरिवंश की उस कथा का ज्ञान था। बालचरित में – नन्दपुत्री के विषय में वह कहता है

दारिकेयं मृता पूर्वं पुनरेव समुत्थिता।
अस्य बालस्य माहात्म्यान्नैषा बधमवाप्स्यति।। २/१६

भास को सम्भवतः एकानंशा अभिधान का भी का ज्ञान रहा होगा। वह लिखता है–

एकांशः पतितो भूमावेकांशो दिवमुन्नतः।
यां निहन्तुमिहोद्भूतः करैः शस्त्रसमुज्जवलैः।। २/१८

१. हरि० २/४/२-८

शूलिनी अये इयमिदानीं–

तीक्ष्णाग्रं शूलमालम्ब्य रौद्रवेषा जृम्भते विनाशकाले संप्राप्ते कालरात्रिरिवोत्थिता॥
२/१९

अब वह कन्या कात्यायनी बन गई–

सुम्भं निसुम्भं महिषं च हत्वा कृत्वा सुरांस्तान् हतशत्रुवक्षान्॥
अहं प्रसूता वसुदेववंशे कात्यायनी कंसकुलक्षयाय॥ २/२०

इस कात्यायनी के साथ भूतगण भी थे–कुण्डोदर, शूल, नील, मनोजव ने भी वाक्य बोले हैं। इसके पश्चात् कात्यायनी कहती है–

कुण्डोदर शङ्कुकर्ण महानील मनोजव तदागम्यताम्। भगवतो विष्णोः बालचरितमनुभवितुं गोपालकवेषप्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः॥

परम्परा में बलराम एवं कृष्ण में अभेद माना जाता है। यह अवधारणा पांचरात्र की चतुर्व्यूह परम्परा में विकसित है। उक्त आख्यान इसी ऐक्य के सूत्र को प्रस्तुत करता है। रोहिणी के मानवीय गर्भ को निद्रा ने समाप्त कर दिया एवं देवकी के गर्भ को रोहिणी में स्थापित करके उसे दो भागों में विभक्त करके देवकी के अष्टम गर्भ का सृजन कर दिया। इस प्रकार निद्रा विष्णु या परमचेतन के विभाग की हेतु है एवं मध्यस्था है।

विष्णु पुराण कृष्णजन्म के प्रसंग में इस निद्रा का स्वरूप और अधिक स्पष्ट करता है। इस पुराण ने इस निद्रा को प्रथम बार योगनिद्रा महामाया वैष्णवी एवं अविद्या नाम दिया है–

योगनिद्रा महामाया वैष्णवी मोहितं यया।
अविद्यया जगत्सर्वं तामाह भगवान् हरिः॥ (वि० ५/१/७१)

प्रकाश एवं श्रीधरी व्याख्याओं में इन नामों की पृथक् पृथक् व्याख्या की गई है' विष्णु की समाधि या स्वयं में लीन होना योग है एवं योग एवं निद्रा का सामानाधिकारण्येन अन्वय होने से योग ही निद्रा का वाचक है। क्योंकि समाहित को देखकर बहुधा यही प्रयोग होता है 'कि यह सो रहा है' यह समाधि जिस शक्ति या ऊर्जा से होती हैं वही योगनिद्रा है **(योग एव निद्रा भगवतः समाधि विशेषो योगः। अयं निद्रायत इत्यन्येषां व्यामोहकत्वादस्य निद्रात्वम्।** –प्रकाशटीका।)

दूसरी व्याख्या इसी को स्पष्ट करती है –'आत्मानुभूति में वाह्य अनुभवों से मानसिक सम्बन्ध का टूट जाना योग है एवं दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होकर

'योगनिद्रा' पद गतार्थ है-**योग एव आत्मानुभूति लक्षणो बाह्यानुभवाद्व्यावृत्तो निद्रेव निद्रा। श्रीधरी।** भास संकर्षण नाम से भी परिचित थे

भर्त्रा संकर्षणेन सह गोपालगणैश्च.... अं० २ अन्त। भास ने कृष्ण के लिए कहा है–

विन्ध्यमन्दरसारोऽयं बालः पद्मदलेक्षणः।

गर्भे यया धृतः श्रीमानहो धैर्यं हि योषितः॥१॥ बालचरित १/१२

ध्यातव्य है कि भास के वसुदेव (यादव, वृष्णि) संस्कृत बोलते हैं। नन्दगोप प्राकृत।

विचित्र अलौकिक कार्य करने के कारण योगकन्या को महामाया कहा गया है। यही महामाया ब्रह्मा प्रभृति कर्तृत्वाभिमानी देवताओं का सम्मोहन करती है एवं अविद्या रूप में समस्त जीव जगत् के तत्त्विक ज्ञान का अवरोध करती है। साथ अपनी आवरक शक्ति से अभिभूत करके जगत् के विनश्वर कार्यों के प्रति भी प्राणियों का आत्मिक अभिनिवेश करती है **"विचित्र कार्य कारित्वान्महामाया" प्रकाश। "सैव ब्रह्मादीनपि मोहयन्ती महामाया सैव जीवानां ज्ञानमाच्छादयन्ती अविद्यारूपेण जगत् सर्वमावृत्य यया स्वशक्त्या मोहितं मिथ्याभिनिवेशकृतम्" –श्रीधर**

वस्तुतः जिस प्रकार वेदान्त की माया भावाभावाभ्यां अनिर्वचीनया है; अथवा सांख्य की प्रधान जडरूपा है उस प्रकार की अवधारणा वैष्णवी माया का नहीं है। वह चेतन रूपा है विष्णु की अधिष्ठान है। उसके अनेकस्वरूप एवं अनेक कार्य है। वह रात्रि है (मत्स्य अ० १५४, १५७ वायु ९,९६ कूर्म १/११/१६ आदि) वह निद्रा है, कुहू है, विन्ध्यवासिनी, आर्या, कात्यायनी आदि अनेक विग्रहों में पूजी जाने वाली व्यक्त शक्ति भी है। वह अनन्त अनादि समय की अभिव्यक्ति है। वह विष्णु के शरीर से उत्पन्न होकर उनके निर्देश का पालन भी करती है किन्तु महाप्रलयावस्था में विष्णु को अपने में निलीन भी रखती है। इस अवधारणा को ब्रह्म पुराण इन शब्दों में प्रकट करता है–

सहस्रयुगपर्यन्तं नागपर्यङ्कगो विभुः।
योगनिद्रां समास्थाय स्वमहिम्ने व्यवस्थितः॥ ब्र०पु० १८०/३४

हरिवंश की योगकन्या विष्णुपुराण की योगनिद्रा वायु पुराण की मोहिनी के स्वरूप की दार्शनिक स्मृति ने दुर्गा को अत्यधिक सूक्ष्मज्ञान का विषय बना दिया। कूर्मपुराण स्पष्ट रूप से इसी प्रकार स्मरण करता है–

महाभगवती दुर्गा वासुदेव समुद्भवा।
महागोपेन्द्रभगिनी भक्तिगम्या परावरा।।
ज्ञानज्ञेया जरातीता वेदान्तविषया गतिः।।
योगमाया विभावज्ञा महामाया महीयसी।। कूर्म० १/११/१२२-१२४

भास के नाटक बालचरित दूसरे अंक में अलक्षि! खलति! कालरात्रि! महानिद्रे! पिंगलाक्षि! पदों का प्रयोग योगमाया के लिए हुआ है।

विन्ध्यपर्वतवासिनी (कूर्म १/१२/१७८) कर्षिणी, रात्रि, चण्डी, कर्षिणी, सरोजनिलया (कूर्म० १/१२/९३,१०३) आदि नामों से सम्बोधित करते हुए कूर्म पुराण के प्रथम खण्ड के अध्याय १२ में सम्पूर्ण रूप से योगमाया को सांख्य की प्रकृति के साथ स्वरूप सम्बन्ध से चेतन बनाकर कश्मीरीय शैव दर्शन की चिच्छक्ति की सम्पूर्ण दार्शनिकता को पौराणिक शैली में वर्णन किया गया है। देवी पुराण ने विष्णु के अतिरिक्त रुद्र, ब्रह्मा एवं इन्द्र की अचिन्त्य शक्ति के रूप में योगनिद्रा का स्मरण किया है–

ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राणां योगनिद्रा च सा स्मृता।
सा रक्षा परमाभूता कालबन्धनकारिका।। देवी० २०/१९

वस्तुतः योगनिद्रा का संप्रत्यय मूलतः दुर्गा विन्ध्यवासिनी के 'आर्या' अभिधान के साथ ही उद्भूत हुआ था। इस संप्रत्यय की दार्शनिक व्याख्याओं के साथ-साथ लोक में प्रतिष्ठित एवं पूजित योगनिद्रा के मूल रूप विन्ध्यवासिनी या दुर्गा के साथ इनके अभेद का विवरण भी अनवरत मिलता है। वैष्णव पुराणों में योगनिद्रा का जो दार्शनिक सम्प्रत्यय प्रकट हुआ है। उसकी स्वीकृति शाक्त उपपुराणों में भी यथावत् प्राप्त होती है जबकि शाक्त उपपुराणों में क्रियात्मक उपासना पद्धतियों का संग्रह है।

हरिवंश पुराण (२/१२/४७) निद्रा अथवा विन्ध्यवासिनी का एक नाम कौशिकी भी बताता है। शाक्त उपपुराण कालिका कौशिकी को योगनिद्रा की प्राणभूता शक्ति के रूप स्मरण करता है–

योगनिद्रा महामाया या मूल प्रकृतिर्मता।
तस्याः प्राणस्वरूपेयं देवी या कौशिकी स्मृता।।

कालि०पु० ६१/७३-७४

कालिका पुराण ने योगनिद्रा को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इस पुराण में लिखा है कि वस्तुतः शक्ति का मूलरूप योगनिद्रा हैं! योगनिद्रा सम्पूर्ण जगद्रूपा है। इस जगत् के जितने कार्य हैं उन सभी कार्यों की कारिका शक्तियाँ वस्तुतः इसी योगनिद्रा की अंश या रूप है। जिसप्रकार सूर्य से किरणें अविभक्त रूप में प्रसृत होती है उसी प्रकार महोग्रचण्डा आदि शक्तियाँ योगनिद्रा के मूलभित्ति से निःसृत हैं। इस प्रकार एक ही महामाया कार्य भेद से नाम भेद धारण करती है–

मूलमूर्तिर्महामाया योगनिद्रा जगन्मयी।।
निस्सरन्ति यथा नित्यं सूर्यबिम्बान्मरीचयः।

देव्यास्तथोग्रचण्डाद्या महामाया शरीरतः।।
एकैव तु महामाया कार्यार्थं भिन्नतां गता।। का०पु० ५८/४८,५०,५१

इस पुराण के अध्याय ५८ से आगे के कई अध्यायों में दुर्गापूजा बलि सुरा आदि की अनेकों विधियाँ विस्तृत रूप से बताई गईं हैं। किन्तु आरम्भिक अध्याय में देवी के शुद्ध दार्शनिक रूप का वर्णन किया गया हैं–

'वही शक्ति है, सृष्टिस्वरूपा है, सभी की ज्ञाति=चेतना एवं स्वामिनी है, प्रपञ्च के मूल में अन्तर्हित नित्यतत्त्व के रूप में प्रकाशमान है, सभी व्यक्त एवं अव्यक्त विषयों का प्रकाशन करने वाली ज्योति है। क्षमावानों की क्षमा एवं दयावानों की करुणा है। वैष्णवी विद्या के रूप में यही योगियों के मुक्ति की हेतु है साथ ही इसका विपरीत रूप भी है यही शक्ति सांसारिक प्राणियों के संसार के प्रति मोह की भी कारणभूता है। कृष्ण की लक्ष्मी है। वेदत्रयी के रूप में ब्रह्मा के कण्ठ में स्थित रहती है। यह मूल शक्ति सर्वत्र वर्तमान, सर्वत्र गतिशील रहती है एवं त्रिकालाबाध्या, सर्वरूपा, परावाग् रूप में प्रसिद्ध है। कृष्ण आदि देवों की मोहनी शक्ति है एवं स्त्री रूप में सभी जन्तुओं को भी मोहित करती है।'

सा शक्तिः सृष्टि च सर्वेषां ज्ञातिरीश्वरी।
क्षमा क्षमावतां नित्यं करुणा सा दयावताम्।।

नित्या सा नित्यरूपेण जगद्गर्भे प्रकाशते।
ज्योतिः स्वरूपेण परा व्यक्ताव्यक्तप्रकाशिनी।।

सा योगिनां मुक्तिहेतुर्विद्यारूपेण वैष्णवी।
सांसारिकाणां संसारबन्धहेतुविपर्यया।।

लक्ष्मीरूपेण कृष्णस्य द्वितीया सुमनोहरा।
त्रयी रूपेण कण्ठस्था सदा मम मनोभवा।।

सर्वत्रस्था सर्वगा दिव्यमूर्तिर्नित्या देवी

सर्वरूपा पराख्या कृष्णादीनां सर्वदा मोहयित्री।
सा स्त्री रूपैः सर्वजन्तोः समन्तात्।। का०पु० ६/६८-७२

मार्कण्डेय पुराण की सप्तशती के प्रथम अध्याय में योगनिद्रा की अवधारणा उसी प्रकार मूलशक्ति के रूप में है जिस प्रकार कालिका पुराण में प्राप्त होती है। ऋषि कहते है कि 'वस्तुतः वह जगन्मूर्ति विष्णु की महामाया योगनिद्रा समस्त विश्व में व्याप्त है किन्तु फिर भी उसकी अनेक प्रकार की उत्पत्तियों की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। वह देवी देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिए जब आविर्भूत या प्रकट होती है तब तत्सम्बन्धी कार्य विशेष के लिए इस योगनिद्रा की एक कथा प्रथित होती है।' (सप्त० १/५५-६५)

पुराणों में योगनिद्रा के दो आख्यान ऐसे है जिनमें इस शक्ति के भावात्मक-रूप के कार्य का वर्णन किया गया है। हरिवंश (२/२,४) विष्णु पुराण (५/१,२) भागवत (१०/३) देवी भागवत (४/२३) आदि पुराणों में इस शक्ति का कृष्ण एवं बलराम की अलौकिक उत्पत्ति में सहकारिणी के रूप में वर्णन है। हरिवंश (विष्णुपर्व अ०१) में विष्णु की यह शक्ति उनके अभिजन अधिष्ठान एवं सार्थकता के रूप में वर्णित है। मार्कण्डेय पुराण (अ०१) सप्तशती में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में विष्णु के कानों से उत्पन्न दो दैत्यों के बध के लिए इसी शक्ति ने विष्णु को जागरित किया एवं उन दैत्यों मधु-कैटभ को सम्मोहित करके उनका बध कराया।

इन दोनों पौराणिक आख्यानों के अनुसार योगमाया अथवा योगनिद्रा ने बिना कोई स्वरूप प्रकट किए कृष्ण-बलराम का जन्म भी कराया था एवं दैत्यबध भी कराया था। शुद्ध चेतनात्मिका इस शक्ति का ऊर्जा मात्र स्वरूप इन आख्यानों में वर्णित है। स्वतन्त्रशक्ति विद्या की शाक्त अवधारणा को विष्णु को परतत्त्व के रूप में वर्णन करने वाले पुराण ने भी स्वीकारा हैं भागवत का वचन है कि 'विश्वात्मा भगवान ने भी कंस के भय का अनुभव करते हुए यदुओं की योगमाया को आदेश दिया।'

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्।। (भाग० १०/३/६)

सप्तशती (अ०५) में देवी सूक्त नाम से प्रसिद्ध स्तुति में परमाशक्ति का स्तवन

सभी प्राणियों में स्थित विविध भावों, स्थितियों एवं व्यापारों के तत्त्व के रूप में किया गया हैं। उसमें सर्व प्रथम विष्णुमाया को नमस्कार किया गया है–

या देवी सर्व भूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

इसके अव्यवहितोत्तर श्लोक में बुद्धि के रूप में देवी की स्थिति को नमस्कार किया गया है। वस्तुतः विष्णुमाया अथवा योग निद्रा को परमेश्वर नारायण एवं जीव दोनों के बुद्धि की संचालिका चिति के रूप में प्रत्यायित किया जाता रहा है। परमेश्वर में प्रकल्पित बुद्धि की अधिष्ठातृ देवी होने के कारण यही शक्ति सभी देवताओं की अन्तः शक्ति एवं मूलस्वभाव है। विविध जागतिक व्यापारों के लिए चेतना के विविध नाम एवं गुण देवता के रूप में स्वीकृत है उन सभी के कार्यों की संचालिका-शक्ति होने के कारण यह त्रिगुणात्मिका एवं तेज स्वरूपा है। ब्रह्मवैवर्त पुराण का कथन है कि योगेश्वर कृष्ण के महारास काल में भगवती दुर्गा या विष्णुमाया उन्हीं के शरीर से उत्पन्न होती है।

एतस्मिन्नन्तरे विप्र सहसा कृष्णदेहतः।
आविर्बभूव सा दुर्गा विष्णुमाया सनातनी।।

देवी नारायणीशाना सर्वशक्तिस्वरूपिणी।
बुद्ध्यधिष्ठातृ देवी सा कृष्णस्य परमात्मनः।।

दैवानां बीजरूपा च मूलप्रकृतिरीश्वरी।।
परिपूर्णतमा तेजः स्वरूपा त्रिगुणात्मिका।। (ब्र० वै० २/२६६-६८)

कालिका पुराण में विष्णुमाया एवं योगनिद्रा को एक पराशक्ति का कार्यभेद से दो नाम स्वीकार करते हुए उसकी अलग अलग व्याख्या की है–"विष्णुमाया सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों को सूक्ष्म एवं स्थूल या अव्यक्त एवं व्यक्त रूपों में संतुलित रूप से विभक्त करके विषयों के रूप में उत्पन्न करती है।"

अव्यक्तव्यक्त रूपेण रजःसत्त्वतमोगुणैः।
संविभज्य चार्थं कुरुते विष्णुमायेति सोच्यते।। (का०पु० ६/५९)

"योगनिद्रा सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत् अथवा ब्रह्माण्ड को पृथक्-पृथक् टुकड़ों में विभक्त कर के परमात्मा में लीन रहती हैं।"

या निम्नान्तस्थलान्तःस्था जगदण्डकपालतः।
विभज्य पुरुषं याति योगनिद्रेति सोच्यते।। (का०पु० ६/६०)

किन्तु प्रकाशरूपा चेतनात्मिका का स्वरूप वर्णन करते हुए सभी पुराणकारों ने योगनिद्रा का स्वरूप श्यामल वर्ण में किया है। हरिवंश, भागवत, देवी-भागवत, वायु, मत्स्य पद्म आदि पुराणों में योगनिद्रा अथवा योगमाया का तादात्म्य कौशिकी, एकानंशा या दुर्गा से करते हुए उसका स्वरूप वर्णन किया गया है। मार्कण्डेय पुराण (सप्तशती अ०१ योगनिद्रा स्तुति) में यद्यपि इसी देवी को बोध रूपा भी वर्णित किया गया है **(त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा।।)** तथापि उसी क्रम में खड्ग,, शूल, गदा, चक्र, शंख, चाप, बाण, भुशुण्डि, परिघ्र आयुधों को धारण करने वाली साथ ही किसी भी सौम्य पदार्थ की अपेक्षा अधिक सौम्य अत्यन्त सुंदरी भी कहा गया है-

खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा।
शंखिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिधायुधा।।
सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।।

इनकी मूर्ति को स्पष्ट रूप से कालिका पुराण बताता है- योगनिद्रा स्निग्ध काजल के समान कान्ति वाली हैं। अत्यन्त सुन्दर है। चतुर्भुजा हैं। सिंह पर विराजमान रहती हैं। हाथों में खड्ग एवं नीलकमल धारण करती हैं एवं केश खुले रहते हैं-

स्निग्धाञ्जनद्युतिश्चारुरूपोत्तुंगा चतुर्भुजा।
सिंहस्था खड्गनीलाब्जहस्ता मुक्तकचोत्करा।। का०पु० ५/५२

कालिका पुराण में योगनिद्रा का यह स्वरूपकल्पन हरिवंश (२/४) का आवर्तनमात्र हैं। जो वर्णन एकानंशा का होता रहा है अथवा विन्ध्यवासिनी दुर्गा का होता रहा है वही वर्णन योगनिद्रा का भागवत, मार्कण्डेय सप्तशती या कालिका पुराण के लेखकों ने दोहराया है।

योगनिद्रा के इस प्रत्यय को केवल वैष्णव लेखकों ने ही महत्त्व दिया हो ऐसा नहीं हैं। शैव कृतियों में पार्वती के एक स्वरूप भेद के रूप में योगनिद्रा सम्बोधन का प्रयोग होता रहा। साथ ही इस संबोधन में निहित प्रत्यय या संकल्पना, जिसका पल्लवन वैष्णव पुराणों में है, को अविकल रूप से स्वीकार किया गया है। शिवपुराण उमा संहिता अध्याय ४७ से ५० तक इसी अवधारणा के वर्णनों से ओतप्रोत है। योगनिद्रा की बोधरूपता अक्षुण्ण रूप से स्वीकृत है-

योगनिद्रे नमस्तुभ्यं नमस्तेऽस्तु महाबले।
नमो ज्ञानप्रदे तुभ्यं विश्वमात्रे नमो नमः।। शि०पु०उ०सं० ५०/४६

वैदिकसाहित्य योगनिद्रा के सम्प्रत्यय को इन्हीं शब्दों में नहीं व्यक्त करता। निद्रा शब्द भी संहिताओं में नहीं प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अवश्य इस शब्द का प्रयोग हुआ है (शत० ३/९/३/११; गोपथ० १/२/२०) सूत्र साहित्य में शंखलिखित धर्मसूत्र (९०) में सामान्य अर्थों में किन्तु विष्णुधर्मसूत्र (९९/४) में निद्राको श्री का नामान्तर कहा गया है। निद्रा की जो अवधारणा लोक में है उसे अधिक उन्नततर अर्थों में एक उपमा के रूप में मैत्रायण्युपनिषद प्रयोग करता है। उपनिषद कहता है कि योगी गण अपनी इन्द्रियों को उसी प्रकार अन्तर्हित करते है जिस प्रकार निद्रा समस्त इन्द्रियों को अन्तर्हित कर देती है–

निद्रेवान्तर्हितेन्द्रियः - मै० ३/५; ६/२५।

सप्तशती के प्रथम अध्याय में ब्रह्मा ने जिस निद्रा की स्तुति की है। वह जगत्पालक विष्णु के नेत्रों में वास करती है–

तुष्टाव योगनिद्रां तामेकाग्रहृदयस्थितः।
विबोधनार्थाय हरेर्हरिनेत्र कृतालयाम्।। (सप्त० १/६०-७०)

किन्तु यह निद्रा सामान्य निद्रा नहीं है अपितु महामोह रूपा है। इसे जगत् की सृष्टि स्थिति एवं संहार का कारण बताया गया है। महाभारत में इसी अवधारणा का उल्लेख हुआ है– विष्णु सृष्टि की आदि में सवात्मनिष्ठ योगनिद्रा (अध्यात्मयोगनिद्रा) का आश्रय लेकर शयन कर रहे थे (आदि १९/१३)। ऐसा भी कहा गया है कि कृष्ण स्वयं तत्त्वतः योगनिद्रात्मा हैं (१२/४७/३९; ३३५/१७,५७)। हरिवंश पुराण (१/४०/१५) में भी यही तथ्य पुनः स्पष्ट किया गया है। विष्णु स्वयं निद्रामय, तमसावृत योग हैं– **विष्णुं निद्रामयं योगं प्रविष्टं तमसावृत्तम्।।** इसप्रकार दार्शनिक स्तर पर विष्णु के प्रलयावस्था के स्वरूप को समझाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है। विष्णु की स्वात्म शक्ति को ही निद्रारूप में अवधीरित किया गयो है जो विष्णु के निलीनावस्था में भी चेतनात्मिका तामसी शक्ति के रूप में पूर्णतः अनिर्वचनीय किन्तु जागरित रहती है।

इस प्रकार विन्ध्यवासिनी का योगनिद्रा अभिधान पूर्णचेतना एवं सर्वकर्तृत्वादि का ख्यापक है।

वनदुर्गा

विन्ध्यवासिनी के उपास्य विग्रहों में जो विग्रह तान्त्रिक वाङ्मय में प्रतिष्ठित हैं। उनमें 'वनदुर्गा' नाम अधिक प्रसिद्ध है। इस देवी के नाम करण से ही सिद्ध है कि इनके

पूजा की मूल स्थली अरण्य में थी। वस्तुत: जिस देवी को पुराणों में विन्ध्यवासिनी नाम दिया गया है। उसी देवी को तन्त्रों में वनदुर्गा नाम से जाना जाता है। विन्ध्यवासिनी के सभी पौराणिक उद्धरणों में देवी के वन में स्थित रहने की चर्चा है।

वनदुर्गा के स्थान के विषय में ९वीं शती के तन्त्र ग्रन्थ मेरुतन्त्र में एक संकेत मात्र है उसके आधार पर वर्तमान विन्ध्याचल की विन्ध्यवासिनी का स्थान वनदुर्गा का मूल स्थान प्रतीत होता है–**वनदुर्गा स्थिता गंगापारे तस्यां मनोः शृणु॥** मेरु० पृ० ३९४ श्लो० ६ बलकिशोर प्रेस लखनऊ संस्करण)

मेरुतन्त्र का संग्रह संभवत: नेपाल की तराई एवं मिथिला के आसपास हुआ होगा। अत: उसके लिए गंगा के दक्षिणी तट पर स्थित विन्ध्यवासिनी के लिए गंगापारे शब्द का प्रयोग उचित भी प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य मे इस प्रकार की देवी अरण्यानी को कहा जा सकता है। अरण्यानी एवं वनदुर्गा के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर भी है। वैदिक अरण्यानी की सत्ता यह अवश्य सिद्ध करती है कि वैदिक जन अरव्य की अधिष्ठातृ शक्ति की पूजा करते थे। अरण्य में वास करना इन दोनों वैदिक एवं तान्त्रिक देवियों की विशेषता है। अरण्यानी के विषय में ऋग्वेद दशम मण्डल में एक सूक्त है (१०/१४६)। इस सूक्त के वर्णन के अनुसार अरण्यानी अत्यधिक घने जंगल की शक्ति हैं। वह घने वन में ही रमण करतीं हैं। उन्हें ग्राम में रहना नहीं भाता। देवी वन्य जीव जन्तुओं से घिरी रहती है। वे जीव जन्तु वृषारव या चीं चीं आदि शब्द कहते हुए देवी के समीप विचरण करते रहते हैं। ये स्वर काण्डवीणा के स्वर की भाँति प्रतीत होते हैं एवं इस प्रकार के रव युक्त वातावरण में अरण्यानी पूजित होती हैं। यह देवी वन में आने वालों की रक्षा करतीं हैं। ऋषि अन्तिम मन्त्र में देवी अरण्यानी के स्वरूप का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह देवी आञ्जनर कस्तूरी आदि के गन्ध वाली हैं, सुरभि हैं, सभी प्रकार के फल आदि भक्ष्य पदार्थों से युक्त हैं, इनका अन्न कृषिकर्म से नहीं उत्पन्न होता अपितु स्वभावत: होता है। देवी सभी मृगों की माता हैं। (ऋ० १०/१४६/१-६)

कुछ इसी प्रकार के वर्णन पुराणों में दुर्गा के लिए आए हैं। जैसे देवी का वन, उपवन पर्वतों आदि पर वास करना, शाकम्भरी रूप में फल आदि वन्य वस्तुओं की प्रदात्री होना। अनेक प्रकार के पशुओं से घिरी होना एवं घंटा आदि का निनाद पसन्द करना आदि। किन्तु इस देवी के तान्त्रिक उपासना की विधि से केन्द्रीय शक्ति के रूप का प्रकट न हीं होता है। शारदा तिलक (लगभग ११वीं शती) में दुर्गा उपासना के क्रम में वनदुर्गा की उपासना बताई गई है। इस पद्धति में देवी का अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप उपास्य बताया गया

है। देवी के मन्त्र में पुरुषि शब्द का प्रयोग देवी के परम चेतनात्मिका स्वरूप को प्रकट करता है। मूल मन्त्रार्थ के अनुसार साधक देवी से प्रार्थना करता है कि "हे पुरुषि! उठो क्यों सोती हो। मैं भय ग्रस्त हूँ। यह भय कितना ही दुर्निवार हो हे, भगवति इसका शमन करो।"

उत्तिष्ठ पुरुषि किं स्वपिषि भयं मे समुपस्थितम्।
यदि शक्यमशक्यं वा तन्मे भगवति शमय शमय...॥'

(शारदा० ११/६३-७० के आधार पर)

स्वरूप की दृष्टि से शारदा तिलक कर ने वनदुर्गा के दो स्वरूप बताए हैं। इनमें प्रथम देवी के दार्शनिक स्वरूप का परिचायक है द्वितीय स्वरूप असुरों का दलन करनेवाली महाशक्ति का है-

१. देवी सुवर्ण के कमल पर विराजमान हैं। तीन नेत्रों वाली हैं। उनकी विद्युत् के समान आभा है। शंख, चक्र; तथा वर एवं अभय मुद्राएँ धारण करती हैं। माथे पर चन्द्रमा की कला विभूषित है। ग्रैवेय, आंगद, हार एवं कुण्डल आभूषण के रूप में धारण करती हैं। इन्द्र आदि सभी देवता स्तुति करते हैं। देवी के बाएँ पार्श्व में सिंह विराजमान रहता है एवं देवी स्वयं विन्ध्याचल में वास करती हैं।

सौवर्णम्बुजमध्यां त्रिनयनां सौदामिनीसंनिभाम्।
शंखं चक्रवराभयानि दधतीमिन्दोः कलां विभ्रतीम्॥

ग्रैवेयाङ्गद हार कुण्डलधरामाखण्डलाद्यैः स्तुताम्।
ध्ययायेद्विन्ध्यनिवासिनीं शशिमुखीं पार्श्वस्थपञ्चाननाम्॥

(शा० ति० ११/७१)

२. द्वितीय स्वरूप के अनुसार देवी प्रलयाग्नि के समान तेजस्विनी, शिर पर अर्धचन्द्र धारण किए हुए, तीन नेत्रों वाली, भयानक, सिंह पर सवार, भुजाओं में शंख. चक्र, कृपाण, खेटक, चाप, बाण, करोटिका एवं शूल धारण किए हुए है। देवी ने समस्त असुर सैनिकों को जीत लिया है।

कालपावकसन्निभां कलितार्ध चन्द्र शिरोरुहाम्।
भालनेत्रविभूषणां भयदायि सिंहनिषेदुषीम्॥

शंखं चक्रकृपाणखेटचापबाणकरोटिकाम्।
शूलवाहिभुजां भजे विजिताखिलासुरसैनिकाम्॥ (शा० ति० ११/७७)

पदार्थादर्शकार राघवभट्ट ने वनदुर्गा प्रकरण में देवी के ३ अन्य ध्यान अथवा विग्रह भी उद्धृत किया हैं। इनमें दो ध्यान देवी के षोडश भुजा रूप को व्यक्त करता है। इन ध्यानों की विशेषता यह है कि देवी को महिषासुर के मस्तक पर विराजमान कल्पित किया गया है। तृतीय ध्यान अष्टभुजारूप का है।

१. चक्रदरखड्गखेटकशरकार्मुकशूलसंज्ञककपालैः।
ऋष्टिमुषलकुन्तनन्दकुवलयगदाभिन्दिपालशक्त्याख्यैः॥

उद्यद्द्विकृतिभुजाढ्या माहिषके सजलजलदसंकाशा।
अरिशंखकृपाणखेटबाणान् सधनुः शूलकतर्ज्जनीर्दधाना॥

भवतां महिषोत्तमांगसंस्था नवदूर्वासदृशी श्रियेऽस्तु दुर्गा॥

२. ज्वलदग्निनिभाम् सिंहस्कंधाधिरुढां भयावहाम्।
ध्यायेत् षोडशबाहुं तां सम्यग्वैरि विमर्दने॥

३. श्यामलांगीमष्टबाहुं महिषासुरसंस्थिताम्।
आयुः सिद्ध्यै चिन्तयेत्ताम्......॥ (शाति० ११/७७ पर टीका)

वनदुर्गा की उपासना में प्रयुक्त होने वाले दो प्रकार के मन्त्रों का विवरण तन्त्र साहित्य में प्राप्त होता है। प्रथम ऊपर उद्धृत किया गया है। यह मन्त्र साधकों में अधिक प्रसिद्ध है। द्वितीय मन्त्र केवल महाकाल संहिता में प्राप्त होता है। यह पूर्ण रूप से रहस्यमयी तान्त्रिक ध्वनियों पर आधारित है इसका स्वरूप निम्नवत् है–

अथातो वनदुर्गायाः प्रवक्ष्ये मनुमुत्तमम्।
तारं वाग्भवमुद्धृत्य लक्ष्मीं लज्जां च योगिनीम्॥

क्रोधमंकुशमुल्लिख्य शिरोऽन्तोऽयं नवाक्षरः। (महाकाल संहिता कामकलाखण्ड उत्तरार्ध ८/६२-६३)

इसके अनुसार 'ॐ ऐं श्रीं ह्रीं छ्रीं क्रों हुं स्वाहा॥' यह नवाक्षर मन्त्र का स्वरूप

बनता है। इस मन्त्र की उपासना करने वाले के लिए देवी के चतुर्भुज एवं सिंहासना स्वरूप के चिन्तन का विधान बताया गया है।

कालाभ्रसमदेहाभां सिंहस्कंधोपरिस्थिताम्।
मौलिबद्धेन्दुशकलां कटाक्षैः शत्रुभीतिदाम्।।

त्रिनेत्रां पीवरोरूणां स्मेरवक्त्रां चतुर्भुजाम्।
शंखं चक्रं गदां खड्गमुद्वहन्तीं हरप्रियाम्।।

पूजयन्तीं जगत् सर्वं स्वतेजोभिर्विचिन्तयेत्।। (तत्रैव ८/६३-६५)

इस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से वनदुर्गा एवं केन्द्रीय महाशक्ति महिषमर्दिनी में ऐक्य है।

शारदा तिलक में वनदुर्गा की पूजा के कई उद्देश्य वर्णित हैं। जैसे प्रातः स्नान के पश्चात् नित्य प्रति १०८ बार मन्त्र जप से साधक को धनधान्यादि सम्पत्तियाँ स्वतः प्राप्त होतीं हैं। इसी प्रकार जप साधना से ग्रहबाधा एवं क्षुद्रशत्रुओं पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है। वटवृक्ष की लकड़ियों से मन्त्रोच्चार पूर्वक १०००० आहुतियाँ देने से कुल की समस्त आपत्तियाँ नष्ट होती हैं। इसी हवनविधि से सभी प्रकार के अभिचार प्रयोग एवं प्रेतादि की बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार अपामार्ग, जंगली तिल अथवा सर्षप से हवन करने पर अपस्मार आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए भी देवी के मन्त्र के विशेष प्रयोग बताए गए हैं। १०००० आहुतियाँ देने के पश्चात् ३० तीक्ष्णनोकों वाले बाणों को सामने रख कर उसे स्पर्श कर के पुनः उतना ही जप करके यदि कोई वीर पुरुष उन बाणों को प्रहार शत्रुसेना पर करता है तो उसके शत्रु की सेनाएँ क्षण भर में नष्ट हो जाती हैं एवं संज्ञाशून्य होकर पलायन कर जाती हैं। यही प्रयोग यदि श्वेत घुँघची के माध्यम से किया जाए तो शत्रु सेना में अनेक प्रकार के रोग फैल जाते हैं एवं वे आपस में ही लड़कर नष्ट हो जाते हैं आदि।

इसके अतिरिक्त मारण मोहन वशीकरण उच्चाटन स्तंभन विद्वेषण आदि की सिद्धि के लिए भी वनदुर्गा की उपासना होती है। साधक के निष्काम साधना करने पर वह सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त रहता है तथा जिस स्थान, देश, नगर, पुर, ग्राम या घर में वनदुर्गा के इस रक्षक मन्त्र की साधना की जाती है वहाँ रक्षा के साथ साथ सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ भी बढतीं हैं। (शारदा ति० ११/७८-१२२ तक देखें)

शारदातिलक कार ने देवी के यन्त्र निर्माण में महिषमर्दिनी के मन्त्राक्षरों के प्रयोग का भी विधान किया है यह देवी के दोनों विग्रहों के विद्यात्वेन ऐक्य का द्योतक है। ग्रन्थकार ने इस यन्त्र के निर्माण की विधि बताते हुए इसे विन्ध्यवासिनी के यन्त्र की संज्ञा दी है–

पदमं भानुदलान्वितं प्रविलिखेत्तत्कर्णिकायां पुनः।
तारं शक्तिबीजसाध्यसहितं तत्केसरेषु क्रमात्॥

मर्दिन्या मनुसम्भवान् युगलशो वर्णान् पुनः पत्रगान्।
मन्त्रार्णान् गुणशो विधाय विलिखेदन्त्यं तदन्त्ये दले॥

मातृका वर्ण संवीतं भूपुरद्वयमध्यगम्।
यन्त्रं विन्ध्यनिवासिन्याः प्रोक्तं सर्वसमृद्धिदम्। (शा.ति. ११/१२५-२६)

इस यन्त्र के पूजन के फल का सप्तशती के पाठ के फल (सप्त०अ०१२) के साथ तुलनीय है–

रक्षाकरं विशेषेण क्षुद्रभूतादिनाशनम्।
राज्यदं भ्रष्टराज्यानां वश्यदं वश्यमिच्छताम्।
सुतार्थीना सुतदं रोगिणां रोगनाशनम्॥ (शा.ति०११/१२७)

देवी की पूजा में अनेक परिवार शक्तियों के रूप में ८ पौराणिक देवियों के नाम गिनाए गए हैं जो देवी के नामान्तर मात्र है–

आर्या दुर्गा च भद्राख्या भद्रकाली ततोऽम्बिका।
क्षेमान्या वेदगर्भाख्या क्षेमङ्कर्यष्टशक्तयः॥ (तत्रैव ११/७४०)

इन सभी शक्तियों को खड्गखेटक चाप धनु (बाण?) धारण किए हुए एवं नागों से विभूषित चतुर्भुजा रूप में पूजा जाता है।

आर्यादिशक्तयः खेटखड्गचाप धनुर्धराः।
अहिभिर्भूषिताङ्ग्यस्ताः पूजनीया भयानकाः॥

(तत्रैव ११/४४ पर पदार्थादर्श)

एकानंशा

पीछे हमने देखा है कि विन्ध्यवासिनी के साथ भारत की अनेक कुमारी देवियों का तादात्म्य आर्य संस्कृति के प्रसार के साथ होता गया। वैष्णवी एकानंशा एवं योगनिद्रा के रूप में विन्ध्यवासिनी विद्या की स्थापना के माध्यम से प्राचीन वैष्णव या भागवत सम्प्रदाय पर शाक्त प्रभाव का निदर्शन पुराणों में हुआ है।

विन्ध्यवासिनी के प्राचीनतम उल्लेख (महा०वि० ६/६-३२) में इस देवी का किसी अन्य सम्प्रदाय के साथ किसी प्रकार का संबन्ध नहीं दृष्टिगोचर होता। कृष्ण की बहन के रूप में विन्ध्यवासिनी का उल्लेख प्रथम बार हरिवंश (२/२,३,४,१२०) में प्राप्त होता है। इस सम्बद्धीकरण के माध्यम से इस प्रक्रिया का ज्ञान होता है कि किस प्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल से विन्ध्याटवी में अनार्यों एवं आर्यों द्वारा पूजी जाने वाली यह देवी वासुदेव की पूजा को पल्लवित करने वाले वृष्णियों अथवा यदुवंशियों में प्रतिष्ठित पूजित एवं एकानंशा के परवर्ती सौम्य रूप में रूपान्तरित हुईं थीं।

वैष्णवी एकानंशा बलराम एवं कृष्ण के मध्य में मूर्त की जातीं हैं। इनके एक हाथ में पद्म एवं दूसरा (वाम) हाथ कटि पर स्थित दर्शाया जाता हैं–

एकानंशा कार्या देवी बलकृष्णयोर्मध्ये॥
कटिस्थ वामकरा सरोजमितरेण चोद्वहती॥ बृहत्संहिता ५७/३७

एकानंशाऽपिकर्तव्या देवी पद्मकरा तथा।
कटिस्थवामहस्ता सा मध्यस्था बलकृष्णयोः॥

विष्णुधर्मोत्तर ३/८५/७१-७२

इस देवी की मूर्तियाँ इसी रूप में भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों प्रान्तों में उत्तरगुप्त युग से ही प्राप्त होते हैं।[१] यदि हज्रा एवं प्रियबालाशाह द्वारा विष्णु धर्मोत्तर पुराण

---

१. लक्षणप्रसाद वैद्य ने हरिवंश के सम्पादन की भूमिका (पृ०४८) में लिखा है कि एलोरा की गुफा २७ में एकानंशा की मूर्ति विष्णुधर्मोत्तर एवं वृहत्संहिता के उल्लेख के अनुरूप प्राप्त होता है। पालवंशीय राजा महीपाल प्रथम (१०२८ ई०) के समय की कांस्य मूर्ति एवं भुवनेश्वर (उड़ीसा) के अनन्त वासुदेव मन्दिर से एकानंशा वलभद्र एवं वासुदेव की कांस्य मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। वस्तुतः इन्हीं मूर्तियों की पहचान करते हुए विद्वानों में मनोरंजक वैमत्य हुआ था। दासगुप्त ने इन्हें बलराम एवं कृष्ण के मध्य होने से लक्ष्मी के रूप में पहचाना था (Proce. of Indian History congress, 1947 पृ० २४५)।

के संकलन का जो समय दिया गया है उसे स्वीकार करें तो यह मानना होगा कि ईसा की दूसरी तीसरी शती में भी इस देवी की इसी रूप में पूजा होती थीं। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के उदय के साथ इस देवी की पूजा पद्धति पूर्ण रूप से वैष्णव सम्प्रदाय के अनुरूप किया जाने लगा।

'एकानंशा' शब्द का प्रथम प्रयोग महाभारत (वन प० २१८/७-८) में हुआ है। वहाँ 'एकानंशा' अंगिरस की पुत्री 'कूहू' का नाम बताया गया है। इस आंगिरसी एकानंशा को देखकर लोग कुहकुहाने लगते हैं या आनन्दित हो जाते हैं।[२] अतः इसे 'कुहू' भी नाम दिया गया है–

महामखेषु आंगिरसी दीप्तिमत्सु महामते।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता।।

सर्वप्रथम जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने उक्त मूर्तिरहस्य के आधार पर इस देवी का अभिज्ञान एकानंशा के रूप में किया था एवं वही स्थिर एवं वस्तुपरक पहचान थी। बनर्जी का एतद्विषयक लेख Journal of Asiatic Society of Bengal, Vol. 16 Lettters, पृ० २४७-५१ में प्रकाशित हैं।
जितेन्द्र नाथ बैनर्जी (Development of Hindu Ieonography (DHI) द्वि० सं० पृ० १३३) एवं ऐलन (Catalogue of coins in Ancient India in the British Museam पृ० ex vii एवं १९७) ने ईसा पूर्व दूसरी शती के भद्रघोष के सिक्के पर बनी देवी को लक्ष्मी भद्रा या एकानंशा कहा है। श्यामचन्द्र मुखर्जी इसका विरोध करते हैं (I.H.Q. 35, पृ० १९८)। उनका कथन है कि भद्रघोष की देवी दुर्गा हैं। इस देवी को इतने प्राचीन सिक्के में एकानंशा रूप में मानना अनुचित है।
पुष्करावती की नगर देवी को भी मुखर्जी दुर्गा बिन्ध्यवासिनी ही मानते हैं। इस देवी का चित्र Indo Seythian's Gold coins पर उपलब्ध है। विवरण British Museum catalogue of coins - Gardner पृ० एवं D.H.I. पृ० १११ पर देखा जा सकता है।

२. क. प्रतिपद्युक्ता अमावास्या को 'कुहू' कहा जाता है–
'या पूर्वाऽमावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहू : इति श्रुते' महा० वन० २१८/५ एवं ८ की नीलकण्ठी में व्याख्यात।
मॉयनियर विलियम्स ने इस का अर्थ 'नवीन चन्द्रमा' (New moon) किया है। किन्तु यह अर्थ संगत नहीं होता।

ख. नीलकण्ठ ने –'कुह कुहायते' का अर्थ 'विस्मितो भवति।' किया है आनन्दविभोर होना विस्मिति का ही सकारात्मक अर्थ है।

ग. नीलकण्ठ ने एकानंशा का अर्थ एक कलात्मक चन्द्र युक्ता रात्रि किया है–
"एका कला अनंशा अल्पांशवती। अलवणा यावगूरितिवदल्पार्थे नञ् योत्तरा सा कुहूरिति श्रुतेः प्रतिपद्युक्ता अमावास्या कुहूरिति प्रसिद्धम्।।" वन० २१८/८ टीका।

यान्तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहकुहायते।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम्।।

इसके पश्चात् हरिवंश पुराण (२/४/४३-४८) में कहा गया है कि एकानंशा नाम्नी 'इस 'योगकन्या' ने केशव की रक्षा के लिए यशोदा के गर्भ से जन्म लिया था। यह देवी प्रजापति के अंश से उत्पन्न हुई थी। कृष्ण की रक्षिका होने के कारण इसकी पूजा वृष्णियों के घर-घर में होने लगी वसुदेव की आज्ञा से इस कन्या का पुत्रवत् लालन पालन हुआ था एवं यह कन्या वृष्णियों के घर में बड़ी होने लगी।' इसप्रकार इस देवी को यादवों ने कृष्ण की बहन माना है। इसके अनन्तर वायुपुराण (९/८५ ५०) में एकानंशा का स्मरण किया गया है। यहाँ उसे 'दैत्य हननी' माया एवं महिषघ्नी कहा गया है– **'एकानसा दैत्य हननी माया महिषमर्दिनी।।'**

इसके अनन्तर मत्स्यपुराण में रात्रि को सम्बोधित करते हुए विन्ध्यवासिनी के कौशिकी रूप का उमा के साथ तादात्म्य करते हुए रात्रि के लिए कहा गया है कि तुम्हीं प्राचीन काल में एकानंशा थीं अब उमा के शरीर में प्रविष्ट होकर पुनः उत्पन्न होने पर तुम कौशिकी कही जाओगी एवं बिन्ध्याचल में स्थित होकर पूजित होवोगी –

निशे भूधरजा देहसंपर्कात् त्वं ममाज्ञया।
सम्प्राप्ता कृत कृत्यत्वं एकानंशा पुराह्यसि।। मत्स्य १५७/१६,१९

इत्युक्ता कौशिकी देवी विन्ध्य शैलं जगाम ह।। इसी पुराण में ऐसी भी उक्ति है कि रात्रि ने जब उमा के वपु से जन्म लिया तब एकानंशा नाम से पूजी जाने लगी–

तनुस्तवापि सहजा सैकानंशा भविष्यति।
रूपांशेन तु संयुक्ता त्वमुमायां भविष्यति।।

एकानंशेति लोकस्त्वां वरदे पूजयिष्यति।। मत्स्य १५४/७४-७५

ययाति की दो पत्नियाँ थी। देवयानी भार्गव (शुक्र) की पुत्री थी। शर्मिष्ठा असुरराज वृषपर्वन् की पुत्री थी। उसी से यदु तुर्वसु द्रुह्यु अनु पूरु उत्पन्न हुए थे। यह कथा वायु० अ ६८ एवं मत्स्य ६,२०,२२ एवं विष्णु १/२१/६ में है। यदु के पुत्र कोष्टु से यादव सन्तति चली थी। अंधकं च महाभोजम् वृष्णिं च यदुनन्दनम् मत्स्य ४४/४ वायु ९६/२ । महा भा० सभापर्व ३१/१६ सहदेव दक्षिण की दिग्विजय यात्रा में पुलिंदों पर विजयकर के तब दक्षिण गए थे। उन्होंने कुन्तीभोज को भी पराजित किया था (३१/६)।

यह देवी मत्स्य पुराण में भी प्रजापति से ही उत्पन्न बताई है–

ततो गतेषु देवेषु ब्रह्मालोक पितामहः।
निशां सस्मार भगवान् स्वस्तनोः पूर्वसम्भवाम्।। मत्स्य १५४/५६

इस देवी की चरित्रिक विशेषता हरिवंश (२/४) में अधिक स्पष्ट हुआ है–

'कंस के द्वारा यशोदा की कन्या को देवकी का अष्टमगर्भ समझ कर मार देने पर वह कन्या आकाश में अपना योनिज शरीर त्यागकर दिव्यवपु में प्रकट हुई.....हे कंस मै तेरे मृत्यु का कारण हूँ तेरे अन्तिम समय में जब तू शत्रु (कृष्ण) के द्वारा खींचा जाएगा तब मैं अपने हाथों से तेरी छाती विदीर्ण करके तेरे शोणित का पान करुंगी"।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि एकानंशा मूलतः वैष्णवी देवी नहीं है। एकानंशा के अपौराणिक प्रमाणों में कौमुदी महोत्सव (अमलानन्द घोष द्वारा Indian Culture Vol 4 P. 212 पर उद्धृत) का प्रणाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं–

लोकाक्षिः भगवत्यैव विन्ध्याचलवासिनी।
लोकरक्षितः कुलदैवतं हि यदूनां एकानंगा।।

भगवती विन्ध्यवासिनी ही यदुओं की कुल देवता एकानंङ्गा (एकानंशा) हैं। पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्ड शेष (१/५०-५१, ५३) में एकानंशा पार्वती का नाम है एवं उन्हें यादवी भी कहा गया है। कुछ पुराणों में एकानंशा को उमा या पार्वती की अंशभूता कहा गया है जैसे मत्स्य पुराण (१५४/७४-७५; १५७/१५) एवं ब्रह्म वैवर्त पुराण (श्री कृष्णजन्म खण्ड ७/१३०)। इन विवरणों से स्पष्ट है कि कम से कम ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी भी में एकानंशा यादवों की कुल देवी के रूप में अत्यन्त प्रतिष्ठित थीं।

कुमारी विन्ध्यवासिनी की पूजा ने प्राचीन काल में ही भागवतमतावलम्बियों को प्रभावित कर लिया था। कौमुदी महोत्सव एवं हरिवंश (२/४/४३-४८) के विवरणों के आधार पर यह सिद्ध है कि विन्ध्यवासिनी को यादव एकानंशा नाम से अपनी कुल देवी के रूप में पूजते थे। कौमुदी महोत्सव के शतियों पूर्व से ही कृष्ण की बहन (एकानंशा) विन्ध्यवासिनी कही जाती थीं यह सप्तशती (११/४२) के इस प्रसिद्ध श्लोक से भी स्पष्ट है–

नन्दगोप गृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी।।

देवी पुराण सम्भवत: प्रथम ग्रन्थ है जिसने उमा के अवतार के रूप में विन्ध्यवासिनी को प्रतिपादित किया है। इस के साथ अन्य पुराणों जैसे मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त आदि के विवरणों एवं भीष्मपर्वत हरिवंश (२/१२० के अनिरुद्ध कृत श्लोक में विन्ध्यवासिनी को विष्णु की बहन के साथ साथ भवानी या पार्वती के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इन स्तोत्रों में देवी के अनेक नामगिनाए गए है जिन से यह प्रकट होता है कि ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी से शाक्तों की पूजा परम्परा में सभी देवियों का दार्शनिक स्तर पर ऐकात्म्य होना आरम्भ हो चुका था।

इस प्रसंग में एकानंशा से सम्बद्ध छपे दो लेखों के सारांश की चर्चा करना आवश्यक है। जोगेन्द्र चन्द्र घोष ने १९३६ में 'एकानंशा एण्ड सुभद्रा'[1] तथा श्यामचन्द्र मुखर्जी ने १९५६ में दिकल्ट ऑफ एकानंशा[2] में बड़े परिश्रम के साथ एकानंशा के मूल रूप को प्राचीन दुर्गा या विन्ध्यवासिनी के रूप में देखा है। इन लेखों का निर्गलितार्थ कुछ इस प्रकार है-

१. एकानंशा वस्तुत: दुर्गा का ही रूप हैं एवं कुमारी देवी हैं।

२. इस देवी का तादात्म्य वैष्णवी शक्ति योगमाया के साथ है। योगमाया यशोदा के घर पैदा हुई थीं।

३. एकानंशा एवं सुभद्रा महाभारत काल से बारी बारी से कृष्ण की बहन कही जाती रहीं अत: परवर्ती लेखकों का दोनों को एक समझना स्वाभाविक था एवं स्कंद पुराण में यह ऐक्य वर्णित है जो पाञ्चरात्र ग्रन्थों में भी विकसित है। भागवत एवं मार्कण्डेय पुराणों में चण्डिका एवं योगमाया (एकानंशा) को वैष्णवी शक्ति माना गया है। वैष्णवी शक्ति का तादात्म्य विष्णुपत्नी लक्ष्मी या श्री से नहीं है अपितु यह शक्ति विष्णु की बहन है।

४. विमला (जिनकी पूजा शाक्तरीति से पुरी में होती है) तथा सुभद्रा, दोनों ही एकानंशा के ही दो पक्ष हैं विमला के नाम से एकानंशा का शुद्ध शाक्तरूप एवं सुभद्रा वैष्णवीकृत रूप की परिचायिका हैं।

५. एकानंशा का तादात्म्य सुभद्रा के साथ हो जाने पर शाक्तों ने विमला के रूप में इसी देवी के मूल रूप की पूजा आरम्भ कर दी।

---

1. Journal of Asiatic Society of Bengal Vol 2 P.1 में प्रकाशित
2. IHQ, Vol. 35 में प्रकाशित

उक्त तथ्यों के प्रतिपादन में विशेष रूप से श्याम चन्द्र मुखर्जी ने पुराणों के तथा कथित तिथि निर्धारण को प्रमाण मानकर उनका काल क्रमानुसार उपयोग किया है एवं पाञ्चरात्र ग्रन्थ हयशीर्ष पाञ्चरात्र का प्रयोग भी किया है जिसे ८वीं शती का माना जाता है।

जिस प्रकार का सफल विवेचन श्याम चन्द मुखर्जी ने अपने लेख में किया है उससे एकानंशा के मूलतः दुर्गा या विन्ध्यवासिनी होने की धारणा पुष्ट होती है। किन्तु उक्तलेखकों एवं जे. एन. फरक्यूहर[1] ने एकानंशा एवं निद्रा, योगनिद्रा या योगमाया के सम्मिलित अवधारणावाले हरिवंश (२/२,३, १२वें एवं विष्णु पुराण (५/१)) के स्तोत्रों को आधार बनाया है। फरक्यूहर बेहिचक हरिवंश एवं विष्णुपुराण की स्तुतियों को एकानंशा का प्रथम उल्लेख मानते है। जब कि 'एकानंशा' का प्रथम उल्लेख महाभारत (वनपर्व २/३/११७-८) में अङ्गिरस की पुत्री के रूप में हुआ है। हरिवंश की आर्या (२/३) अनिरुद्ध कृत दुर्गा (२/१२०) या निद्रा (२/२) स्तुतियों में देवी दुर्गा के अनेक नाम गिनाए गए हैं किन्तु 'एकानंशा' शब्द का प्रयोग नहीं है। आङ्गिरसी एकानंशा के पश्चात् इस शब्द का प्रयोग प्रथमतः कंस द्वारा यशोदा की कन्या (निद्रा) के बध के अनंतर उनके दिव्य वपु धारण करके आकाश मार्ग में जाने के पश्चात् हुआ है। यह इस देवी के सम्बन्ध में सर्वाधिक रोचक तथ्य है। कंस के द्वारा शिला पर पटकी गई कन्या आकाश में इस रूप में प्रकट होती है—देवी ने हार एवं उज्जवल मुकुट पहना था एवं देवतागण इसकी स्तुति कर रहे थे। इसने नीलकौशेय धारण कर रखा था।. . . .उस निशा में यह देवी भूतगणों से घिरी हुई हँस रही थी एवं नृत्य कर रही थी।।' (हरि० २/४/३९-४१)

पुराण आगे कहता है कि 'इस देवी ने कंस की मृत्यु का कारण बनने एवं उसका शोणित पान करने का अभिशाप देकर देवालयों में भूतगणों के साथ विचरण करने लगी तब इस प्रजापति के अंश से उत्पन्न योगकन्या एकानंशा की वृष्णिलोग पूजा करने लगे क्योंकि इसने कृष्ण की रक्षा की थी।' (हरि० २/४/४३-४८)

यह भी ध्यातव्य है कि इस वर्णन के ठीक एक अध्याय पूर्व इसी पुराण में (हरि० २/२) में कृष्ण ने निद्रा को यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होने के लिए कहते हुए आश्वासन दिया है कि कंस के हाथ से योनिज शरीर के पटके जाने पर तुम आकाश गमन करोगी वहाँ इन्द्र तुम्हें बहन के रूप में ग्रहण करेगा एवं विन्ध्याचल में स्थापित करेगा वहाँ से तुम्हारी पूजा प्रचलित होगी। इसी तथ्य को विष्णु पुराण बिना विन्ध्याचल का नाम लिए दोहराता है कि—'हे निद्रे कंस द्वारा प्रक्षिप्त होने पर तुम अन्तरिक्ष में स्थान प्राप्त करोगी

1. (An out line of the Religious Literature of India, oxford, 1920 P.151)

एवं इन्द्र तुम्हें भगिनी के रूप में ग्रहण करेगा तथा अनेक नामों से तुम्हारी पूजा पृथिवी पर अनेक स्थानों पर होगी। अन्य पुराणों में भी इस प्रकार के तथ्य प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः एकानंशा का विन्ध्यवासिनी के साथ तादात्म्य बताने वाले दो साक्ष्य अधिक प्राचीन एवं प्रबल हैं प्रथम वायुपुराण (९/८५ पू०) एवं द्वितीय कौमुदी महोत्सव। इस देवी का 'एकानंशा' नाम भी अत्यधिक रोचक है। इस शब्द के मूल अर्थ का ज्ञान अभी तक भाषा वैज्ञानिक नहीं कर पाए। किन्तु भारतीय धार्मिक परम्परा में क्योंकि इस देवी का वैष्णवी शक्ति योगमाया के साथ तादात्म्य आरम्भ से ही रहा है। अतः इस शब्द की व्याख्या भी उसी दृष्टि से हुई है। इस का प्रथम निर्वचन देवीपुराण (३७/४७) में प्राप्त होता है–

एते च असते लोकाः न एका न च सा स्मृता।
एका च नाशतो लोका एकानंशा च सा स्मृता॥

निबन्धकारों में अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त इस पुराण की प्राचीनता का प्रमाण एवं प्रमुख विशेषता इसकी अशुद्ध अपाणिनीय संस्कृत है। उक्त श्लोक की भाषा भी विचित्र है तथापि इस श्लोक में दो शब्दों का निर्वचन प्रतीत होता है। दोनों शब्द एकानंशा के बिगड़े रूप है। प्रथमार्ध में **'एका न सा'** एवं द्वितीयार्ध में **'एकानाशा'** शब्द निरुक्त है। प्रथमार्ध का तात्पर्य सम्भवतः इसप्रकार होगा – 'विश्व विनश्वर या असत् है अतः इस असत् या परिवर्तमान विश्व की अपेक्षा से परमतत्त्वभूता देवी को 'एका' (विश्वरूप में) नहीं कहा जा सकता उस अनिर्देश्य तत्त्व को 'सा' (इत्थङ्कारतया) सम्बोधन द्वारा भी स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः एकानंशा इस अर्थ में परा आद्याशक्ति का द्योतन करती है जिसे यह पुराण विन्ध्यवासिनी कहता है। द्वितीयार्ध में यह भावना व्यक्त है कि एक होने पर भी यह देवी सम्पूर्ण लोकों का नाश कर देती है अतः इसे एकानाशा (एकानंशा) कहा गया है। इस व्याख्या में पुराण ने शाक्त सम्मत महाकाली के गुणों को व्यक्त किया है। इसी व्याख्या को कई शताब्दी बाद अल्प एवं परिमार्जित शब्दों द्वारा नीलकण्ठ ने अपनी व्याख्या में व्यक्त किया है– **'एका च अनंशा। भगवता एका सती अविभक्ता॥**

ये दोनों व्याख्याएँ इस देवी के वैष्णवी शक्ति के साथ तादात्म्य व्यक्त करती है। इस नाम के तीन अन्य ध्यानाकर्षक पाठ भी मिलते हैं– एकानसा, एकदशा, एकानंगा। इनमें प्रथम दो वायुपुराण क्रमशः ९/८५ उ०, [ऊपर उद्धृत] एवं

अथ तामपि दुष्टा ह्युत्ससर्ज मुदान्वितः।
हता वै यदा कन्या जवत्येष वृथामतिः॥

कन्या सा ववृधे तत्र विष्णु सद्मनि पूजिता।
तामेव विधिनोत्पन्नमाहुः कन्यां प्रजापतिम्।

एकादशा तु जज्ञे वै रक्षार्थं केशवस्य ह।
तां वै सर्वे स मनसः पूजयिष्यन्ति यादवाः॥

देवदेवो दिव्यवपुः कृष्णः संरक्षितोऽनया॥ ९६/२१२-२१५

में तथा द्वितीय कौमुदी महोत्सव में प्राप्त होता है। देवी पुराण के उपर्युक्त उद्धरण के परिप्रेक्ष्य में देखने पर इन पाठों का वैचित्र्य और भी अधिक द्योतित होता है। मनोरञ्जक तथ्य यह है कि एक ही पुराण में एक ही नाम के दो पाठ उपलब्ध होते हैं। इन पाठों को एकानंशा का ही पुराण पंक्ति लेखक द्वारा मिथ्यागृहीत पाठ भी माना जा सकता है एवं **'एकानंशा'** का अवधारणात्मक पाठ भी कहा जा सकता है। **'एकानसा'** शब्द दैत्य हननी महिषमर्दिनी माया के लिए प्रयुक्त है जिसके अनेक नाम दुर्गा के हमारी दृष्टि से प्राचीनतम स्तुति (महाभा० वि० ६/७-३२) में ही प्राप्त होते हैं जो कम से कम ३ या ४ पृथक्-पृथक् स्वरूपों वाली देवियों (जया-विजया, काली, दुर्गा) के लिए प्रयुक्त हैं। **'एकानसा'** का शब्दगत अर्थ 'वह एक नहीं है' इस प्रकार करते हुए यह व्याख्या दी जा सकती है कि कुमारी महिषमर्दिनी विन्ध्यवासिनी के साथ क्योंकि अनेक देवी विग्रहों का तादात्म्य अति प्राचीन काल में किया जा चुका था। अतः उसे यादवों द्वारा कृष्ण की बहन के रूप में ग्रहण करने के बाद **'एका न सा'** भी कहने पर औचित्य हो सकता है। इसी प्रकार **'एक दशा'** शब्द में भी देवी की अवधारणात्मक व्याख्या का अनुमान किया जा सकता है कि क्योंकि यह देवी सदा कन्यारूपा ही पूजित होती है ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है कि विन्ध्यवासिनी किसी भी देवता की पत्नी के रूप में पूजी जातीं हो। अतः नित्य युवती कन्या होने के कारण पुराण ने **'एक-दशा'** शब्द का प्रयोग किया होगा (कन्येव साऽभवन्नित्यं. हरि० २/४/३८)। किन्तु **'एकानंगा'** स्पष्ट रूप से 'एकानंशा' की अस्पष्टता के कारण पर्याय रूप में प्रयुक्त जान पड़ता है। एका च अनंगा विभाग रहिता यह विग्रह **'एका च अनंशा'** इस नीलकण्ठी व्याख्या से पूर्ण एवं अविकल अर्थसाम्य रखता है अथवा इसकी व्याख्या खींच तान कर इस प्रकार भी की जा सकती है –'एका एवं च अनङ्गा। अङ्गं पतिः पत्युरर्धाङ्गत्वेनोपकल्पितत्वात्, अङ्गं नास्ति यस्याः सा अधृष्टा कुमारी 'कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावयिष्यति' इति महाभारत वचन प्रमाणात्।' इस प्रकार एकानंगा कुमारी का अभिधायक माना जा सकता है।

ये व्याख्याएँ 'स्थितस्यगतिश्चिन्तनीया' की भारतीय नीति के आधार पर की गई हैं। इस प्रकार के पाठों की प्रामाणिकता जब पुराणों ने भी स्वीकार किया है तब उक्त

प्रकार की व्याख्या के लिए बल मिलता है क्योंकि किसी एक लिपिकार के पाठ से प्रभावित होकर कोई पुराण रचयिता उसी शब्द की निरुन्ति नहीं कर देता जैसा कि देवी पुराण में किया गया है। देवी पुराण के निरुक्ति का द्वितीय पाठ **एकानाशा** हो सकता है एवं यही पाठ विष्णुधर्मोत्तर (३/१०६/११७-११८, वेंकटेश्वर संस्करण १९८६ में पुनर्मुद्रित) का पाठ भी कुछ इसी प्रकार का प्राप्त होता है–

देवीमाकथयिष्यामि एकानाशीति विश्रुताम्।
एकानाशे त्वमभ्येहि कृष्णरक्षार्थमुद्यते।।

डॉ० प्रियबाला शाह [Oriental Institute, Baroda, 1958] द्वारा प्रस्तुत पाठालोचनात्मक पाठ का आधार पाठ भूर्जपत्र पर लिखित शारदा लिपि की मातृका है। [दे० Introduction P. xvii] यह मातृका उन्हें प्राप्त सभी मातृकाओं में प्राचीनतम है।[1] [तिथि दी नहीं गई है किन्तु मातृका लगभग ३०० वर्ष प्राचीन है–Intro. xvi] इस मातृका में उत्तरार्ध का पाठ **एकानाशे** है। उनके अन्य प्रमुख हस्तलेखों में एक में 'एकानंशिति' एवं द्वितीय उत्तरार्ध में 'एकानंत्वे' पाठ उपलब्ध होता है।[2] इन दोनों पाठों को पूर्वमातृका के पाठ से मिलाने पर ऐसा लगता है कि लेखक ने पाठ सुधारने के चक्कर में बिगाड़ा है। यह बात भी ध्यान देने की है कि इसी खण्ड के के पाठ में किसी मातृका में मतभेद नहीं है।

इस देवी के नाम के अर्थ की रहस्यात्मकता के कारण ही सम्भवतः इतने प्रकार के भिन्न-भिन्न पाठ इतनी प्रामाणिकता से प्राप्त होते हैं। ईसा के आरम्भिक शतियों में भी संस्कृतज्ञ लोग इस देवी के नाम को नहीं समझ पाते थे। इसी कारण कौमुदी महोत्सव **एका-अनंशा** को सरलीकृत करके **एकानंगा** रूप देता है।

वनपर्व में एकानंशा आङ्गिरसी कही गई है। अंङ्गिरस काल के वाचक भी माने जाते हैं (वन० २१८/२ की नीलकण्ठी) उन्हीं की सातवीं पुत्री एकानंशा थी। इसे कुहू नाम बाद में दिया गया। इस प्रकार महाभारत के उल्लेख से यह देवी रात्रि का वाचक है। अंगिरस प्रजापति के पुत्र हैं (वन० २१८)। हरिवंश (२/४) एवं वायु (अ० ९ एवं ९६) में एकानंशा प्रजापति के अंश से उत्पन्न बताई गई है। पुराकथा शास्त्रीय दृष्टि से इस देवी

---

1. Bhandarkar Oriental Institue, Poona, Mrs. No 93 of 1875-76 में सुरक्षित
2. 1. Bhandarkar Oriental R. 9. Ms. No. 1 of 1875-76, 100 वर्ष पुरानी 2. Royal Asiatic Library, Bombay Ms. No 1758 249-250 (Bhau Dajis collection, 1925 वि०

के सम्बन्ध में महाभारत एक और प्रमाण देता है। प्रजापति की पुत्री देवसेना जो बाद में (स्कंद की पत्नी बनी) उनका तादात्म्य कुहू के साथ किया गया है–

सिनीवाली कुहू चैव सद्वृत्तिमपराजिताम्।। (वन० २३०/५०)

यद्यपि कुहू एकानंशा एवं वृष्णियों की कुल देवी एकानंशा में पूर्ण साम्य नहीं है। क्योंकि जिस कन्या का बध कंस ने किया एवं वह दिव्यरूप धारण करके आकाश में उड़ गई तथा एकानंशा के रूप में पूजित हुई थी। वह हरिवंश के अनुसार नवमी तिथि को उत्पन्न बताई गई है इसका समर्थन विष्णु पुराण (५/१७८) भी करता है किन्तु कुहू प्रतिपद्युक्ता अमावस्या है। एकानंशा देवी का रात्रि के साथ तादात्म्य मत्स्य पुराण (१५४, १५७ अ०) में भी किया गया है।

वृष्णि मूलतः आर्य जाति के लोग थे। वृष्णियों को वैदिक यदुवंशी होने के उल्लेख उत्तर वैदिक कालिक कहे जाने वाले ब्राह्मणों एवं संहिताओं में है। (दे० तैत्ति० सं ३/११/९/३, जैमिनीयोपनि० ब्रा० १/६/१) वैदिक यदु एवं तुर्वसु ययाति के नालायक पुत्र थे। अतः यदुवंशी वृष्णि उच्चकुलीन क्षत्रिय थे। किन्तु संभवतः अन्य जातियों से उनके रक्त संबन्ध थे। क्योंकि पौराणिक वृष्णियों का वर्ण अतसीपुष्प संकाश बताया गया है। डॉ दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है कि यादव लोग अनार्य जातियों में मिश्रित होने के कारण हेय समझे जाते थे। जब वासुदेव का तादात्म्य परब्रह्म के रूप में हुआ तब वे सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी क्षत्रिय माने जाने लगे[1] किन्तु इन जातियों के उच्चकुलीन होने के प्राचीन उल्लेखों को स्वीकार करते हुए उन्होंने भी इन्हें अनार्य मूलक मानना उचित नहीं समझा वैदिक वृष्णि शूरसेन पर राज्य करते थे। मेगस्थनीज के पूर्व वे मथुरा में भी आ चुके थे एवं वासुदेव की उपासना करने लगे थे। मेगस्थनीज ने लिखा है कि 'सौरसेनोई (शूरसेन के लोग) मेथोरा (मथुरा) एवं क्लेइसोबोरा (शायद कृष्णपुर) में निवास करते हैं ये दोनों नगर जोबोरेस (यमुना) के जल से सिंचित है एवं हेराक्लीज (वासुदेव कृष्ण का यूनानी रूप) की विशेष पूजा करते हैं।'[2] वासुदेव की उपासना के साथ ही उनके चामत्कारिक जन्म की कथाएँ विकसित हुई होगी एवं एकानंशा की उपासना कृष्णभगिनी एवं रक्षिका के रूप में वृष्णियों में प्रसिद्ध हुयी।

वृष्णिगण ईसा के कई शती पूर्व पश्चिम (शूरसेन) से पूर्व की ओर प्रसृत हुये थे। एवं विन्ध्यवासिनी 'कात्यायनी दुर्गि' के नाम से उससे भी पूर्व के युग में पश्चिमी

1. (Studies in the Religious life of Ancient and Medieval India - D. C. Sircar, वाराणसी पृ० १५)
2. The Classical Accounts of India P.P. 221-222 एवं Sircar वही पृ० 118

भारत में आर्यों तक प्रसिद्ध हो गई थी। एवं आर्यगण शारदीय पूजा की शाक्त परम्परा को अम्बिका को यज्ञभाग देकर महत्त्व देने लगे थे जिसके भौतिक एवं सांस्कृतिक दोनों कारण बताए जा चुके हैं। अतः इसमें कोई असंम्भाव्यता नहीं होगी यदि कहा जाए कि वासुदेव पूजा उद्भव के पूर्व भी वृष्णिगण विन्ध्यवासिनी की पूजा करते रहे होगे जो घोर रूपा थी एवं वृष्णि गणों की भाँति विश्वामित्र के अयोग्य एवं निष्कासित पुत्रों शबर पुलिन्द आदि द्वारा भी पूजित थी। वासुदेव की पूजा के उद्भव के साथ यह देवी कृष्ण की रक्षिका कही गई एवं वैष्णवों के परवर्ती विकास में सौम्य एकानंशा के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

हरिवंश जिस एकानंशा का वर्णन करता है वह वराहमिहिर की सौम्यमूर्ति के ठीक विपरीत है एवं महाभारत (वि० ६) की विन्ध्यवासिनी दुर्गा के समान है यद्यपि विकसित है–

जगामाकाशमाविश्य दिव्यस्त्रगनुलेपना।
हारशोभितसर्वाङ्गी मुकुटोज्जवलभूषिता।

कन्येव साभवन्नित्यं दिव्या देवैरभिष्टुता।।
नीलपीताम्बरधरा गजकुम्भोपमस्तना।।

रथविस्तीर्णजघना चन्द्रवक्त्रा चतुर्भुजा।
विद्युद्विस्पष्टवर्णाभा बालार्कसदृशेक्षणा।।

पयोधरस्वनवती संध्येव सपयोधरा।
सा वै निशि तमोग्रस्ते बभौ भूतगणाकुले।।

नृत्यन्ती हसती चैव विपरीतेनभास्वती।।

विहायसि गता रौद्र पपौ पानमनुत्तमम्।
जहास च महा हासं कंसं च रुषिताब्रवीत्।।

कंस कंसात्मनाशाय यदहं घातिता त्वया।
सहसा च समुत्क्षिप्य शिलायामपिपोथिता।

तस्मात्तवान्तकालेऽहं कृष्यमाणस्य शत्रुणा।
पाटयित्वा करैर्देहमुष्णं पास्यामि शोणितम्।। हरिवंश० २/४/३७-४४

कथा के अनुसार भी कृष्ण के बड़े होने के पूर्व ही एकानंशा वृष्णिसंघों में पूजी जाने लगी थी।

इस प्रकार एकानंशा आरम्भ में चतुर्भुजा रूप में योगनिद्रा से तादात्म्यापन्ना होने पर अष्टभुजा एवं वैष्णव धर्म के पूर्णविकास की अवस्था में द्विभुजा के सौम्य रूप में पूजित हुई हैं। बृहत्संहिता (९५७/३८-३९) में उनके वैष्णवी कृत २,४,८ भुजाओं के विग्रह का वर्णन है—

कार्या चतुर्भुजा वाम कराभ्यां सपुस्तकम् कमलम्।
द्वाभ्यां दक्षिण पार्श्वे वरमर्थिष्वक्षसूत्रं च॥

वाम ऽथाष्टभुजायाः कमण्डलुश्चापमम्बुजम् शास्त्रम्।
वरशरदर्पणयुक्तः सव्यभुजाः साक्षसूत्रश्च॥

इन सभी रूपों में दाहिनी भुजा वर मुद्रा में सदा रहती है। विद्वानों की मान्यता है कि ईसा के प्रथम शती में आभीरों के आगमन के साथ कृष्ण के गोपाल रूप की कथाएँ पल्लवित हुई। भागवत पुराण की रचना तक उनका सरस एवं योगेश्वर का स्वरूप अपनी सम्पूर्ण मर्यादा प्राप्त कर चुका था। उसी काल में सम्भवतः योग कन्या एकानंशा पद्म हस्ता द्विभुजा रूप में प्रतिष्ठित हुई एवं उनके घोर रूप का मूर्तन विमला की उपासना में अन्तरित हुआ। ऐसी भी मान्यता है कि आभीरों में भी किसी कुमारी देवी का भी पूजन होता था जिसे उन्होंने वृष्णि संघों में प्रतिष्ठित कृष्ण भगिनी विन्ध्यवासिनी के एकानंशा रूप में प्राप्त कर लिया। ब्रह्मवैवर्त पुराण के स्मरण कर्ता ने स्पष्ट रूप में कहा है कि दुर्गा जब कृष्ण की बहन का रूप लेती हैं तब एकानंशा कही जाती है—

एकानंशा च सा दुर्गा श्रीकृष्णभगिनी सती॥ ब्र० वै० प्र० ख० १/१४१

प्राचीन आलेखों में इसे कृष्ण की रक्षा करनेवाली देवी कहा गया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण भी इस देवी का ध्यान **'कृष्णरक्षार्थमुद्यते'** करके करता है। इस तथ्य का स्मरण वायु पुराण भी करता है। तदनुसार 'कंस के द्वारा मारे जाने पर वह वृष्णियों के घरों में पूजी जाने वाली कन्या वहीं पर बड़ी हो गई। उसी ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न कन्या जिसे कृष्ण की रक्षा के लिए ही उत्पन्न किया था एकदशा (एकानंशा) बना दिया उसकी पूजा सभी बुद्धिमान यादव लोग करेगे क्योंकि देव देव दिव्यशरीरी कृष्ण की रक्षा इसी के कारण हुई थी'।

अथ तामपि दुष्टात्मा ह्युत्ससर्ज मुदान्वितः।
हता वै यदा कन्या जल्पत्येष वृथामतिः।।

कन्या सा ववृधे तत्र वृष्णिसद्मनि पूजिता।
तामेव विधिनोत्पन्नामाहुः कन्यां प्रजापतिम्।।

एकदशा तु जज्ञे वै रक्षार्थं केशवस्य ह।
तां वै सर्वे सुमनसः पूजयिष्यन्ति यादवाः।।

देव देवो दिव्य वपुः कृष्णः संरक्षितोऽनया।।

वायु ९६/२१२-२१५

एकानंशा का बलदेव एवं कृष्ण के मध्य में विराजमान होने की प्रथम सूचना वस्तुतः हरिवंश ही देता है उसी के आधार पर स्वतन्त्र रूप से पूजी जाने वाली इस देवी की मूर्ति वैष्णव प्रतिमा शास्त्र में बलदेव एवं कृष्ण के मध्य में बताया गया है। हरिवंश (२/१०१/१६-१९) का वर्णन है कि द्वारिका पहुंचने के पश्चात् बलराम एवं कृष्ण एकानंशा के पास गए एवं मित्र के समान प्रिय बहन का दाहिने कर से हाथ पकड़ा एवं स्नेह प्रकट किया इसी प्रकार बलराम ने भी अपनी बहन का आलिंगन किया एवं मस्तक सूँघा। एवं बाएँ हाथ से उसे पकड़ा स्नेह प्रकट किया। इस प्रकार वह देवी उन दोनों के मध्य में शोभित होने लगी। देवी के हाथ में सुवर्ण के समान कमल था। बलराम एवं कृष्ण के मध्य में हाथ में कमल लिए शोभित हो रही उस देवी के वहाँ खड़ी स्त्रियाँ मुग्ध होकर देखने लगी ऐसा लग रहा था मानो वे लक्ष्मी को देख रही हों।

तां तत्रोपसंगम्य प्रियामिव सखीं स्वसाम्।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः।।१६।।

तथैव रामोऽति बलः संपरिष्वज्य भाविनीम्।।
मूर्धन्युपाघ्राय सव्येन प्रतिजग्राह पाणिना।।१७।।

ददृशुस्ताः स्त्रियो मध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः।।
रुक्मां पद्मव्यग्र करां स्त्रियं पद्मालयामिव।।१८।।

इसके पश्चात् उन स्त्रियों ने दोनों पर अक्षतपुष्प लाजा आदि शुभद्रव्यों की वर्षा की एवं अपने अपने स्थान को चलीं गईं। एकानंशा के इसी स्वरूप को विष्णुधर्मोत्तर एवं बृहत्संहिता कार ने ग्रहण किया एवं उसकी मूर्ति का विवरण दिया।

एकानंशा के रूप में तो यह देवी साम्प्रदायिक बनी रही। किन्तु विन्ध्यवासिनी पूजा की व्यापकता के कारण एकानंशा भी पार्वती के अंश से कौशिकी रूप में भी उत्पन्न मानी गईं जिसका स्मरण मत्स्य पुराण (१५४/७४ एवं ७५) में किया गया है। उमा एवं विन्ध्यवासिनी का पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार पर एवं योगमाया के भावात्मक स्वरूप के विकास के कारण ऐक्य स्थापित हो जाने पर परवर्ती पुराणों में भी एकानंशा पार्वती की अंश कही गई हैं। यथा ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण जन्म खण्ड ७/१३०)

एकानंशेति विख्याता पार्वत्यंशसमुद्भवा।

यह संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं जिनके आधार विन्ध्यवासिनी का शैव सम्प्रदाय में प्रतिष्ठा कंस विनाशिनी यशोदा पुत्री की उपासना की प्रतिष्ठा के अनन्तर हुआ होगा। भविष्य पुराण इसी तथ्य को निम्न शब्दों में स्मरण करता है–

प्रसिद्धानादि निधना वर्षे वर्षे युधिष्ठिर।
भूयो भूयोवतारैश्च भवानी पूज्यते शिवा।।

अवतीर्णा भुवि सदा नित्यं दैत्य निबर्हिणी।।
स्वर्गपातालमर्त्येषु करोति स्थितिपालनम्।।

पुनश्चैषामहादेवी यशोदागर्भसम्भवा।
कंसासुरस्योत्तमाङ्गे पादं दत्त्वागतायुषः।।

ततः प्रभृतिलोकेषु यशोदानन्ददायिनीम्।।
विन्ध्याचले स्थापयित्वा पुनः पूजा प्रवर्तिता।।

पूर्वप्रवृद्धोऽपि पुनर्भगिन्या महिमाकृतः।। भविष्य उत्तरपर्व १३७/२२-२६

उक्त विवरण का सारांश इस प्रकार समझा जा सकता है। आर्यों में दुर्गा या विन्ध्यवासिनी के प्रति श्रद्धा जगने के काल में ही वृष्णिगण दुर्गा पूजा अपनाने के साथ ही अनार्य जातियों से सम्पृक्त हुए वैदिक विष्णु का लोककरण वासुदेव के पूजा में हुआ।

इसी प्रकार वाक् रूपिणी रात्रि का लोककरण विन्ध्यवासिनी, दुर्गा या एकानंशा में हुआ। गुप्त काल में भी एकानंशा शब्द का अर्थ अज्ञात हो चुका था। अत: यह देवी मूलरूप से ईसा पूर्व के महाभारत से सम्बद्ध हैं।

वृष्णि एवं आभीर के विषय में विशेष टिप्पणी-

वैदिक संहिताओं के पश्चात् वृष्णियों की चर्चा पाणिनि (५/१/११४) ने किया। पाणिनि वृष्णियों के साथ अन्धकों का भी उल्लेख किया है। पुराणों का विवरण यह है कि वृष्णि एवं अन्धक यादव राजकुमार थे। ये दोनों सात्वत के पुत्र थे। यादवों के लिए वृष्णि शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन है। वृष्णिगण ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में संघ या गण बनाकर रहते थे। ईसा पूर्व ४०० के आस पास मथुरा पर इस गण का शासन था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस गणराज्य का उल्लेख है। ईसा पूर्व छठी शती में भी शूरसेन महाजनपद के शासक यादव थे एवं मथुरा उनकी राजधानी थी। इस क्षेत्र में महाभारत के पूर्वकाल से मेगस्थनीज़ के आगमन काल तक यादवों ने मथुरा पर राज्य किया था। आरम्भ में यह गणतन्त्र था। किन्तु बुद्ध के समय यहाँ राजतन्त्र की स्थापना हो चुकी थी। बौद्ध ग्रन्थों में अवन्तिपुत्र का उल्लेख है जो बुद्ध का समकालिक एवं शूरसेन का राजा था। प्रथमशती ईसापूर्व का वृष्णिराजन्यगण का सिक्का उपलब्ध है (catalogue of Indian coins Ancient India Allad, पृ० CLV एवं आगे तथा Development of Hindu Iconography पृ० १४५)। डा० सरकार ने (Studies in Indian eoin पृ० ३५७, मुद्रासंख्या IV/19) इस सिक्के को वृष्णिराज ज्ञागण द्वारा प्रचालित मानते हैं। स्पष्ट है कि ईसापूर्व के भारत में यादव क्षत्रियों की उपजाति थी। कि जैसा कि डा० सरकार ने लिखा है कि वृष्णि लोग कृष्ण वर्ण के थे (Studies in Religeous पृ० १७) एवं परवर्ती काल में आभीरों को भी इस जाति अपने में मिला लिया। सम्भव है कि वैदिक काल से ही आरम्भ आर्य अनार्य सम्बन्धों की प्रक्रिया में वृष्णियों ने सर्वाधिक निकट सम्बन्ध अनार्यों के साथ स्थापित किया हो।

आभीर किसी भी प्रकार से मूलत: यादव वंश के नहीं थे। यह जाति मूलत: सीरिया की गोपालक जाति थी। वृष्णियों के साथ इनका सम्बन्ध बहुत बाद में हुआ था। यदि महाभाष्यकार पतञ्जलि के 'गंगायां घोष:' में प्रयुक्त 'घोष:' शब्द का अर्थ अमरकोश में उल्लिखित 'घोष:' आभीर पल्ली स्यात्' माना जाए तब यह माना जा सकता है कि आमीर लोग पतञ्जलि के समय मध्यभारत में आ चुके थे। किन्तु पाणिनीय अष्टाध्यायी २/४/१ के भाष्य में पतञ्जलि ने ग्रामनगर संवाह के साथ घोष की गणना की है एवं उसे

आर्यों का निवास स्थान बताया है (- क पुनरार्य निवास:। ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।)। सम्भवत: पतञ्जलि के समय घोष ग्राम एवं नगर के बीच की बस्ती थी जहाँ आर्यगण या सज्जन लोग रहा करते थे। यद्यपि अधिकांश इतिहासविद् भारत में आमीरों का आगमन ईसा के प्रथम शती मानते है (Indian Antiquery 1912 P.17) जिनमें डॉ० भाण्डारकर अग्रगण्य है तथा उनका गोपाल कृष्ण सम्बन्धी सिद्धान्त उनकी इसी मान्यता पर टिका हुआ है। तथापि यदि वर्तमान महाभारत का तिलक द्वारा निर्धारित काल ४०० ई०पू० (गीता रहस्य पृ० ५६३) स्वीकार किया जाए। एवं महाभारत के उल्लेख के आधार पर आभीरों का प्रवेश ईसा पूर्व ५०० के आस पास माना जाए। तब भी यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि आभीर लोग उस समय सौराष्ट्र एवं पश्चिमोत्तर प्रान्त में ही थे। महाभारत सभापर्व अध्याय ३१ में इनकी स्थिति सोमनाथ के निकट, सरस्वती नदी के तट एवं समुद्र के किनारे द्वारका में रहते थे। यूनानी लेखकों में Periplus of the Erythean sea के लेखक ने ई० ६० में आभीरों के मूल स्थान आबेरिया (Aberia) को शकक्षत्रपों के राज्य एवं सौराष्ट्र के बीच बताया है[1]। मैकक्रिण्डल ने Ptolemy के भूगोल का अनुवाद किया था तदनुसार प्रथमशती ई० में आभीर सिन्धु के पूर्व डेल्टा भाग में निवास करते थे (Mc. Gindle's - PTO lemy पृ० १४०)। हेमचन्द्र राय चौधरी (Political History of Ancient India पृ० १०४) पतञ्जलि को आधार बनाकर लिखते है कि आभीर सिन्धुदेश में सरस्वती के निकट बसे थे। कनिंघम तारातन्त्र का प्रमाण देते हुए बताता है कि आभीरगण कोंकण एवं ताप्ती के पश्चिमी तट तक विकसित थे एवं वह यह भी लिखता है कि ईसा के आरम्भिक शती में पश्चिमी भारत में आभीरों का राज्य था।

वस्तुत: अधिकांश विद्वान् आभीरों की स्थिति जिन प्रान्तों में बताते हैं वे भारत का पश्चिमी भाग है। आरम्भ में ये लोग वृष्णियों के राज्य में गोपालकों के रूप में बसे थे एवं कृष्ण के एवं विन्ध्यवासिनी के भक्त थे। अभेदानन्द भारती आभीरों की एक शाखा विन्ध्य में भी विस्तृत बताते हैं। (Philosophycal Idias of Swami Abhedanand Bharti Vol III अध्या० XXXIX पृ० ५०६।) उनका वाक्य है कि दुर्गा विन्ध्य के 'आभीरों की कुल देवी थी।' Encyclopea of Religion and Ethies में आभीरों पर लेख में भी यही बात है। वास्तव में 'विन्ध्य के अहीरों' यह विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि आभीरों

---

१. दे० Indo Aryan Races - R. Chandra पृ० ८२, एवं Trans Greeks in Bactria and India P. 179 एवं इसका उद्धरण ने Alexander cunningham ने The Ancient Geography of India परिवर्धित संस्करण १९७५ पृ० ८ट में दिया है।

को विन्ध्यवासिनी की पूजा वृष्णियों से एकानंशा के रूप में विन्ध्यतक पहुँचने से पूर्व प्राप्त हुई थी। आभीरों एवं वृष्णियों के सम्बन्ध में उक्त टिप्पणी का हेतु यह बताना था कि यादव एवं आभीर सर्वथा पृथक् जातियाँ थीं। वृष्णि या यादव उत्तर वैदिक काल से ईसा के प्रथम शती पूर्व तक स्वतन्त्र शासक रहे थे जो ज्ञागण के सिक्के से स्पष्ट है। यादव मूल रूप से सूर्य एवं चन्द्रवंशी क्षत्रिय कुल के थे। आभीर आरम्भ में शूरसेन के यादवों के अधीन गोपालक मात्र रहे।

यह भी वर्णन है कि इस सभी दिशाओं में वासुदेव ने पहले ही विजय किया था सभा/३१ एवं/३२ महाभारत सभापर्व ३२/९-१० नकुल ने पश्चिम विजय में आभीरों को पराजित किया था। यह जाति उसकाल में सिन्धु एवं सरस्वती के किनारे निवास करती थी–

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः।
शूद्राभीरगणाश्चैव येचाश्रित्य सरस्वतीम्।।

किरात एवं बर्बर जातियाँ पश्चिम में समुद्र के किनारे रहती थी जिन्हें नकुल ने हराया था। महा० सभा ३२/१७ पूर्व में भी थीं जिन्हें भीम ने जीता था सभा ३०/१४

महाभारत काल मे भीवत्स में भर्गो का राज्य था इन्हें भीम ने पराजित किया था–

वत्सभूमि च कौन्तेय विजिज्ञे बलवान् बलात्।
भर्गाणामधियां चैव निषादाधिपतिं तथा।। सभा ३०/१०-११

बाद में शकक्षत्रपों के अधीन रहे। ईसा की दूसरी शती तक आभीरों का रक्त सम्बन्ध यादवों से हुआ। कुछ विद्वान् ईश्वरदत्त नामक आभीर महाक्षत्रय का भी उल्लेख करते है जिसका काल दूसरी शती ई० कहा गया है (भारतीय इतिहास कोश - सच्चिदानन्द भट्टाचार्य-'आभीर') समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में आभीर राज्य का उल्लेख होने से ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास के अन्धकार युग में आभीरों ने यादवों से सम्बद्ध होकर अपनी शक्ति बढाई होगी एवं स्वतन्त्र राज्य विकसित किया होगा।

किन्तु आभीर यादवों की भाँति क्षत्रिय या उच्चकुलीन होने की प्रतिष्ठा कभी नहीं प्राप्तकर सके थे। कात्यायन ने पाणिनीय सूत्र ४/१/४ के वार्तिक में 'महाशूद्री' शब्द जोड़ा काशिकाकार ने इस महाशूद्र शब्द का अर्थ आभीर किया है (महाशूद्र शब्दो ह्याभीर

वचनः)। भागवत (२/४/१८) में विष्णु के उपासक ९ जातियों का नामोल्लेख किया है इस सभी को 'पापाः' कहा गया है।

किराताहुण्डान्ध्रपुलिन्दपुक्वसा आभीरसुह्य यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।

कात्यायनी या महिषमर्दिनी

विन्ध्यवासिनी का सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध स्वरूप महिष मर्दिनी का है। देवी कात्यायनी दुर्गा ने महिषासुर नामक दैत्य का विनाश किया था। अतः इसी देवी का नाम महिष मर्दिनी भी प्रसिद्ध हुआ। सम्भवतः यही नाम विन्ध्यवासिनी को सर्वप्रथम प्राप्त हुआ होगा तैत्तिरीय आरण्यक (१०/१) के दुर्गा गायत्री में 'कात्यायनाय' (कात्यायन्यै का आर्ष प्रयोग) विशेषण इसे प्रमाणित करता है। जितेन्द्रनाथ बनर्जी कात्यायनी को आर्यों के कत गोत्रीय ऋषियों की इष्ट देवी के रूप मतें स्थापित करते हैं। (Some Aspects of Sakti Worship in Ancient India - प्रबुद्धभारत भा० ५९, १९५४, PP. 227-232)। वाचस्पत्यं में कात्यायनी के लिए अर्थ दिए गए है– १. कत गोत्र में उत्पन्न स्त्री। २. कात्यायन ऋषि की पत्नी। ३. किंसी कल्प में कत गोत्र में उत्पन्न होने के कारण दुर्गा का नाम। ४. कात्यायनी (कात्यायन प़त्नी) की भाँति कषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करने वाली वृद्धा विधवा को भी कात्यायनी कहा जाता है। दुर्गा के कत गोत्र से सम्बन्ध के कारण कात्यायनी नामकरण पर विचार आगे बढ़ाने के लिए हमें निम्न साधन उपलब्ध होते हैं।–

१. कत गोत्र का आरम्भ विश्वामित्र के पुत्र कत से आरम्भ हुआ था। कत के पुत्रों को कात्यायन कहा जाता था। वाचस्पत्यं में हरिवंश (श्लो० २८३०) का उद्धरण है–

विश्वामित्रस्य सुताः देवारातयः स्मृताः।
विख्यातास्त्रिषुलोकेषु तेषां शीलानि ये शृणु।।

देवश्रवाः कतश्चैव यतः कात्यायनाः स्मृताः।।

रामायण (१/७/५, ६९/४; २/६७/३; ६/१२८/६०; ७/७४/४) में कात्यायन नामक प्रतिष्ठित ऋषि का उल्लेख कई बार हुआ है। वैदिक काल में कात्यायनी नाम लोक में प्रचलित था। याज्ञवल्क्य की पत्नी का नाम भी कात्यायनी था। (बृ० उ० २/४)

भारतीय इतिहास में कात्यायन नाम के ३ पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें प्रथम विश्वामित्र के वंशज हैं। जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। दूसरे गोभिलपुत्र कात्यायन थे। इनके नाम से कर्मप्रदीप एवं छन्दोगपरिशिष्ट नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। तृतीय पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक के रचयिता कात्यायन कहे जाते हैं। ये सोमदत्त नामक ब्राह्मण के पुत्र वसुदत्ता के बेटे थे इनका दूसरा नाम वररुचि है। इन्होंने धर्मशास्त्र व्याकरण प्रातिशाख्य आदि की भी रचना की थी। Arthur Anthony Macdonell ने A History of Sanskrit Literature (London 1961, PP. 245, 273-275; 431 वाजसनेयी संहिता पर लिखे गए प्रातिशाख्य के रचयिता के साथ इनका सम्बन्ध बताने वाले सूत्रों को उल्लिखित किया है। पॉल थीमे (Paul Thieme) ने अपने लेख (On the Identity of the Vārtikakār, Indian Culture, Vol 4 P. 189-209) में इन दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं को एक सिद्ध कर दिया है।)

इस तृतीय कात्यायन के विषय में बृहत्कथा में एक अत्यन्त रोचक वर्णन था। कथासरित्सागर में इस कथा को सोमदेव ने आरम्भ में ही लिखा है (इसका पूरा उद्धरण महाभाष्य के बनारस संस्करण की भूमिका में उपलब्ध हैं।) कथा इस प्रकार है - शिव ने पार्वती के मनोरंजन के लिए उन्हें ७ पराक्रमी सम्राटों, विद्याधरों चक्रवर्तियों की कथा सुनाई। शिव के एक सेवक पुष्यदन्त ने इन कहानियों को सुना लिया। एवं अपनी पत्नी जया को सुनाया। ये कथाएँ शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गईं। पार्वती ने पुष्यदन्त को शाप देकर मृत्युलोक में भेज दिया उसके भाई मलयवन ने उसकी क्षमा करने की प्रार्थना की। तब पार्वती ने उसे भी शाप दे दिया। बाद में दयावश उन्होंने उन दोनों के शाप में परिवर्तन कर दिया। तदनुसार पुष्यदन्त जब एक पिशाच से मिलकर सारी कथा उसे सुना देगा वह मुक्त हो जाएगा। मलयवन के लिये कहा कि जब वह संसार में इन कथाओं का प्रचार कर देगा तब उसे मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। पुष्यदन्त वररुचि के रूप में उत्पन्न हुआ एवं नन्दवंशीय राजा का मन्त्री बन गया। एकबार समस्त विद्याओं में निष्णात् होने के पश्चात् भी खिन्नमनस्क होने के कारण विन्ध्यवासिनी का दर्शन करने चला गया। वहीं देवी की कृपा से उसे कणभूति नामक पिशाच मिल गया। उसने उसे उन कथाओं को सुनाया एवं शाप से मुक्त हो गया। मलयवन गुंणाढ्य नाम से उत्पन्न हुआ एवं सातवाहन राज़ा का मन्त्री बना। वहीं राजा का एक प्रिय पात्र सर्ववर्मा रहता था। राजा को संस्कृत सिखाने की शर्त गुणाढ्य से लगाई। गुणाढ्य हार गया। रानी ने संस्कृत के अज्ञान के कारण गुणाढ्य की निन्दा की। वह संस्कृत एवं समाज से खिन्न होकर विन्ध्यवन को प्रस्थान कर गया। वहीं घूमते हुए उसे वह पिशाच मिला। उसने सारी कहानियाँ गुणाढ्य को सुनाई एवं

गुणाढ्य ने उसी की भाषा (पैशाची प्राकृत यह विन्ध्याचल में बोली जाती थी) में सारी कहानी स्याही के अभाव में अपने रक्त से ही लिख डाली।

कात्यायन वररुचि कौशाम्बी (प्रयाग) के निवासी थे। अत: उनका विन्ध्याचल की ओर विन्ध्यवासिनी के दर्शनार्थ जाना स्वाभाविक था। भविष्य पुराण में पतञ्जलि एवं कात्यायन को विन्ध्यवासिनी का भक्त एवं महाशाक्त बताया गया है।

"कात्यायनस्य शिष्योऽभून्यहाशाक्तस्य धीमत:॥" भवि २/३४/६ एवं आगे श्लोक ७-८,९ में पतञ्जलि एवं कात्यायन द्वारा देवी विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में जाकर स्तुति करने का वर्णन है)। कात्यायन वररुचि के भक्ति के कारण विन्ध्यवासिनी देवी को कात्यायनी कहा गया हो यह सम्भव हो सकता है। यद्यपि पौराणिक परम्परा से इसकी पुष्टि के संकेत नहीं मिलते। वामन एवं कालिका पुराण में कात्यायन का कात्यायनी नामकरण के साथ सम्बन्धों को वर्णित किया गया है। वामन पुराण के अनुसार– महिषासुर के अत्याचार से पीड़ित हारे हुए देवगण। उसने अपने स्थान से च्युत होकर विष्णु एवं शिव के पास गए। उस दानव के बध के लिए सभी देवताओं एवं ब्रह्मा विष्णु एवं शंकर के मुखों से एक तेजपुञ्ज निकला। वह तेजपुञ्ज कात्यायन ऋषि के आश्रम में चला आया। महर्षि कात्यायन ने उस नीरूप सर्वदेव जन्य तेज: पुञ्ज का उपाकरण अथवा मूर्तन किया मूर्तक के इस प्रक्रिया में कात्यायन ने तेज पुञ्ज को एक नारी का रूप दिया। इस स्त्री के विभिन्न अवयवों को कात्यायन ने विभिन्न देवताओं के तेज से बनाया। जिन देवताओं के तेज से जो अंग निर्मित हुआ था वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है–

शिव से मुख, अग्नि से तीन नेत्र, यम से केश, विष्णु से १८ भुजाएँ चन्द्रमा से दोनों स्तन, इन्द्र से कमर, समुद्र से दोनों जघन एवं नितम्ब, ब्रह्मा से पैर, आदित्यों के तेज से पैर की अंगुलियाँ इन्द्र के तेज से (हाँथ) की अंगुलियाँ, प्रजापतियों से दाँत, कुबेर से नासिका, मरुतों से दोनों कर्ण, साध्य (सांध्य) से दोनों भ्रू का निर्माण हुआ। क्योंकि विभिन्न तेजों का 'उपाकरण' प्रक्रिया द्वारा कात्यायन ने इस देवी के प्रत्येक अंगों का निर्माण किया था। अत: उन्हीं के नाम से इस देवी का नामकरण हुआ (वामन पुराण १८/१-१३)।

इस प्रकार की भी सम्भावना की जा सकती है कि कात्यायन विश्वामित्र के वंशज कत के वंशज कात्य के पुत्र थे। कालिक पुराण ६०/९८ में कात्यायन को 'कात्यसूनु' कहा। विश्वामित्र का पुराण प्रसिद्ध नाम कौशिक भी हैं। विन्ध्यवासिनी के अन्य उपासक शबर आदि जातियों को ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र के अभिशप्त पुत्र कहे गए है। कुशिक गोत्र

में उत्पन्न होने के कारण विन्ध्यवासिनी का कौशिकी नाम करण एवं उसी प्रकार उसी गोत्र में उत्पन्न कत के वंशज कात्य के पुत्र कात्यायन ने इस देवी की विशेष पूजा की होगी। अतः इस देवी का कात्यायनी नाम भी प्रचलित हुआ होगा। शबर आदि दस्यु जातियों की परम्परा में जिस देवी की पूजा बलि तान्त्रिक विधियों से होता रहा था, कात्यायन ने उसी देवी का प्रत्यभिज्ञान सभी देवताओं के तेज के रूप में किया एवं महिषमर्दिनी कात्यायनी विन्ध्यवासिनी की शाक्तसम्प्रदाय में केन्द्रीय सत्ता को स्थिर किया। इस दृष्टि से कौशिकी एवं कात्यायनी की पूजा करने वालों की एक ही परम्परा दृष्टि गोचर होती है। अतः पुराणों (यथा वामन २८/२६) या भास कृत बाल चरित (२/१८) में कात्यायनी को ही शुम्भनिशुम्भ एवं महिषासुर वधकर्त्री बताया जाना असंगत नहीं है। सप्तशती के शुम्भ निशुम्भादि दैत्यों के बध के प्रकरण में कौशिकी का प्रादुर्भाव हुआ एवं उन्होंने दैत्यों का हनन किया किन्तु एकादश अध्याय की नारायणी स्तुति में प्रथम श्लोक में ही देवी को कात्यायनी पद से सम्बोधित किया गया है–

देव्या हते तत्र महा सुरेन्द्रे सेन्द्रासुराः वह्निपुरोगमास्ताम्
कात्यायनीं तुष्टुवुटिष्ट लाभाद् विकाशिवक्त्रा विकासिताशाः॥

कालिका पुराण में कात्यायनी की कथा का इस रूप में वर्णन मिलता है– तदनुसार जब सभी देवताओं के शरीर से उनकी शक्तियाँ तेज रूप में प्रकट हुईं तब उन्हें कात्यायन ऋषि नें संधुक्षित (उपाकरण [वा. पु. १८/७] के लिए दूसरा शब्द) किया एवं उससे प्रकट देवी की पूजा की इसी कारण देवी का नाम कात्यायनी पड़ा।

इति प्रकुप्यतां तेषां शरीरेभ्यः पृथक् पृथक्।
निश्चक्रमुश्च तेजांसि शक्तिरूपाणि तत्क्षणात्॥

तत्तेजोमिर्धृतवपुर्देवी कात्यायनेन वै।
सन्धुक्षिंता पूजिता च तेन कात्यायनी स्मृता॥ [का०पु० ६०/७५-७६]

कालिका पुराण ने यह भी स्पष्ट किया है कि सभी देवतागण एवं त्रिदेव जम्बूद्वीप में हिमालय के निकट स्थित कात्यायन ऋषि के आश्रम में एकत्र हुए थे–

गच्छन्तु भोः सुरगणाः जम्बुद्वीपान्तरं प्रति।
हिमवत् पर्वतासन्ने वरं कात्यायनाश्रमम्॥

तत्रैव भवतां साध्यं व भविष्यति न संशयः॥ का० ६०/६५-६६

वस्तुत कालिका पुराण ने वामन पुराण एवं मार्कण्डेय पुराण दोनों की कथाओं में प्राप्त कात्यायनी की पद का पौराणिक स्पष्टीकरण दिया है। मार्कण्डेय पुराण (सप्तशती अ० २/२९) एवं वामन पुराण (१८/१६) में हिमवान् द्वारा सिंह प्रदान करना बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में युद्ध स्थल का वर्णन नहीं है किन्तु वामन पुराण (१८/२१, ३६-३७, १९/३,१६) में विन्ध्याचल को युद्धस्थल के रूप में वर्णित किया गया है तथा यह भी बताया गया है कि कात्यायनी महिषासुर के बध के निमित्त विन्ध्याचल गईं। कात्यायनाश्रम की स्थिति एवं देवी की उत्पत्ति के स्थल की अपूर्णता के ध्यान में रखकर कालिकापुराण में सम्भवः उपर्युक्त दो श्लोकों को लिखा गया था। इस प्रकार पौराणिक परम्परा से कात्यायन ऋषि द्वारा पूजित होने एवं सभी देवताओं की पुञ्जीभूत शक्तिरूपा महाशक्ति का कात्यायन ऋषिद्वारा अभिज्ञान किए जाने एवं पूजा किए जाने की सूचना प्राप्त होती है।

वामन पुराण (२८/२३-२६) सप्तशती (अ०११/१) एवं बालचरित (२/१८) में कौशिकी या योगमाया को ही कात्यायनी नाम से भी सम्बोधित किया गया है। किन्तु अन्य पुराणों की परम्परानुसार इन दोनों देवियों का अवतरण से पृथक् पृथक् राक्षसों के बध के लिए हुआ था। अतः इन दोनों देवियों का पृथक्-पृथक् मूर्ति विकास हुआ है। इनमें कात्यायनी या महिषमर्दिनी को सर्वोच्च स्थिति प्राप्त है। महिषबध की (देवी पुराण के अतिरिक्त) सभी पौराणिक कथाओं में देवी का प्रादुर्भाव सभी देवताओं के तेज से हुआ है। कात्यायन द्वारा ही इस तेज पुञ्ज के मूर्तन किए जाने का विवरण से यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि कात्यायन वररुचि ने विन्ध्यवासिनी की उपासना की हो एवं इस प्राचीन देवी का एक विशेष ख्याति वाले पूजक के नाम से नामकरण हुआ हो। कालिका पुराण परवर्ती काल में (११वीं शती) बंगाल में लिखा हुआ पुराण है। उसमें कात्यायन ऋषि का आश्रम हिमालय की तराई में बताया जाना पौराणिक व्याख्या है। उसकी संगति इस प्रकार भी लगाई जा सकती है। कथा सरित्सागर में वर्णित है कि वररुचि कात्यायन अपनी सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन आदि सम्पन्न करके तब विन्ध्यवासिनी के दर्शनार्थ मुक्ति की लालसा से खिन्न मन से गए थे। वहाँ उन्होंने काणभूति को पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाकर मुक्ति पाई। स्पष्ट है कि कात्यायन ने अपने जीवन के चतुर्थ चरण में विन्ध्यवासिनी देवी की आराधना की थी। सम्भव है उसी सन्यस्त अवस्था में वे विन्ध्याचल से हिमालय की ओर चले गए हों एवं एकान्त में शान्ति पूर्वक देवी की आराधना की हो एवं वहीं उन्होंने विन्ध्यवासिनी महिष मर्दिनी का दर्शन सर्वदेव तेजोमयी रूप में की हो जिसका उल्लेख

हम वामन पुराण में पाते हैं। इतना अवश्य है कि कात्यायनी पद का प्रयोग विन्ध्यवासिनी के लिए ही होता था। बाणभट्ट कादम्बरी में विन्ध्याटवी वर्णन के प्रसङ्ग में सम्पूर्ण विन्ध्याटवी की उपमा कात्यायनी से देते है – **प्रचलितखड्गभीषणा कात्यायनीव**। उनका चण्डीशतक सम्पूर्ण रूप से कात्यायनी अपर नाम धेया विन्ध्यवासिनी को ही समर्पित है। विन्ध्यवासिनी का कात्यायनी नाम से प्रसिद्धि के पश्चात् पौराणिक पंक्तियों में कात्यायनी पद का देवी के नामों में परिगणन किया गया होगा।

अनिरुद्धकृत दुर्गा स्तुति (हरि०२/१२०/१२) में महाशक्ति के सर्वात्मिकात्व का वर्णन करते हुए देवी को तिथियों में चतुर्दशी रूपा बताया गया है। कालिका पुराण के अनुसार कात्यायनी का तेजोमय अव्यक्ताकार स्वरूप आश्विन कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को उत्पन्न हुआ था–

चतुर्दशी कृष्णपक्षे प्रादुर्भूता जगन्मयी। (का० ६०/७८)

देवताओं के उस तेज को कात्यायन ने कृष्ण चतुर्दशी से शुक्ल सप्तमी तक ९ दिनों तक संघुक्षता या उपाकरण करके देवी रूप में परिवर्तित किया, अष्टमी को अलंकारों से एवं नवमी तिथि को देवी को सभी देवताओं ने शस्त्रादि उपहार प्रदान किया था।

देवानां तेजसां मूर्तिः शुक्लपक्षे सुशोभने।
सप्तम्यां साऽकराद्देवी अष्टम्यां तैरलंकृता।।

नवम्यामुपहारैस्तु पूजिता... ... ...।। का० ६०/७९-८० पू०

इस प्रकार कात्यायनी का मूल कौशिकी या दुर्गा से ही विकसित हैं। महाभारत की दुर्गा यां वनपर्व की प्रजापति पुत्री एकानंशा की भाँति काल या समय से इस देवी का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। नवरात्र में होने वाले शारदीय पूजा में प्रधानता महिष मर्दिनी देवता का ही होता था। इस में भी सप्तमी, अष्टमी, नवमी को पूजा की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है जिसका वर्णन देवी पुराण (अ०२०) एवं कालिकापुराण (अ० ५९-६१) में विस्तार से प्राप्त होता है। भागवत (१०/२२) में कात्यायनी की सौम्य मूर्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। इस देवी की पूजा श्रावण मास में कन्याएँ इच्छित पति की प्राप्ति के लिए करतीं थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कात्यायनी की प्रसिद्धि केवल भद्र काली के रूप में ही नहीं थी अपितु लोक में इस देवी की प्रतिष्ठा अन्य लौकिक कामनाओं की पूरयित्री के रूप में भी थी। इसका समर्थन हम सप्तशती में भी पाते हैं।

शुम्भनिशुम्भ के बध के पश्चात् उसी भीषण संहार कर्त्री शक्ति की स्तुति सौम्य मूर्ति के रूप में भी किया गया है–

एतत्ते् वदनं सौम्यं लोचनत्रयभूषितम्।
पातु नः सर्व भीतिभ्यः कात्यायनि नमोऽस्तुते।। (११/२५)

हरिवंश कात्यायनी को भयदा एवं भयनाशिनी दोनों संज्ञाएँ एकसाथ प्रदान करता है–**का लीं कात्यायनीं देवीं भयदां भयनाशिनीम्।।** हरि० २/१२०/१० महाभागवत (४४/१६ पू०) में भी कात्यायनी की इसी रक्षिका स्वरूप की स्तुति की गई है–

कात्यायनि जन्मातः प्रपन्नार्ति हरे शिवे।

वस्तुतः दुर्गा का कात्यायनी नामकरण द्वापरयुग के अन्त में कभी किया गया था। वायु पुराण इस नाम की गणना द्वापर के अन्त में देवियों के जो नामकरण हुए थे उन्हीं में कौशिकी आर्या आदि नामों के साथ ही परिगणित करता है–

द्वापरान्त विकारेषु देव्या नामानि मे शृणु।
गौतमी कौशिकी आर्या चण्डी कात्यायनी सती।। वायु० ९/८२

डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार सम्भवतः कात्यायनी नाम के प्रति निश्चित अवधारणा नहीं बना पाए थे उनके अनुसार Kātyāyani, although it may indicate a deified lady or a family or tribal goddess (Aryan?) means 'a middle aged widow in rid clothes.'[1]

वाचस्पत्यं या शब्द कल्पद्रुम के जिन अर्थों का संग्रह मायनियर विलियम्स से अपने शब्द कोश में किया है। उनमें डॉ० सरकार को यही अर्थ कात्यायनी पद का मूल अर्थ प्रतीत हुआ जबकि कात्यायनी के किसी पौराणिक कथा में इस प्रकार का विवरण नहीं मिलता। तान्त्रिक देवियों में धूमावती ही विधवा रूप में वर्णित हैं। किन्तु इस देवी की तुलना कन्या एवं पतिप्रदात्री या पति की कामना से पूजी जाने वाली देवी कात्यायनी के साथ नहीं की जा सकती है। शाक्त प्रमोद में विधवा धूमावती की जो स्तुति की गई है वह पूर्ण रूप से रूपकात्मक है एवं अव्यक्त महाशक्ति की स्तुति है जो ब्रह्म के भी कंकाल को धारण करती है एवं प्रलयंकरी है। धूमावती का विधवा रूप में वर्णन भी रूपकात्मक है। यह देवी महाप्रलय की देवी है एवं परमचेनत ब्रह्म को भी व्यक्त रहने नहीं देती अपितु मृतप्राय कर देती है। महाप्रलय काल में केवल एक शक्ति की ही

अव्यक्त सत्ता शेष रहती है जिसका कोई आधार नहीं होता। इसकारण इस अवस्था की देवी विधवा कही गई है क्योंकि वह आधार भूत ब्रह्म को भी कवलित कर लेती है। शाक्त प्रमोद धूमावती प्रकरण की स्तुति इस देवी का यही स्वरूप प्रकट करता है। कात्यायनी महिषासुरनाशिनी युवती एवं कन्या है।

कात्यायनी एवं कौशिकी में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। ये दोनों नाम समान रूप से वैष्णवी शक्ति एवं उमा के स्वरूप भेद के रूप में प्रतिपादित हुई हैं। इसका प्रमाण उन सभी कथाओं में उपलब्ध हैं जिनमें कात्यायनी महिषमर्दिनी अथवा शुम्भनिशुम्भ मर्दिनी कौशिकी की उत्पत्ति के विषय में वर्णन है।

महिषबध एवं कात्यायनी

कात्यायनी का सर्वाधिक महत्त्वख्यापन महिषरूप धारी दानव के बंध के प्रकरण में किया गया है। देवी की प्राचीनतम, पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण चित्रों मूर्तियों एवं मृण्मूर्तियों में देवी के महिषमर्दिनी रूप का चित्रण सर्वाधिक रुचि का विषय रहा है। आज भी दुर्गा के स्वरूप का स्मरण करते ही महिषबध की कथा मूर्त हो जाती है।

यदि महिषासुर की कथा को रूपकात्मक वर्णन के रूप में लिया जाए जो कि पुराणों की प्रिय शैली हैं तब महिष के प्राचीनतम स्वरूप पर विचार करने के लिए हमें प्राचीन साहित्यिक साक्ष्यों में इस शब्द के प्रयोग एवं उसके अर्थ पर विचार करना होगा।

ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग कथित प्राचीन मण्डलों से लेकर परवर्ती कहे जाने वाले मण्डलों तक समान रूप से अनेकों बार हुआ है। इनमें से अधिकांश इन्द्र या सूर्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋ० १/६४/७; ९५/९ में सायण एवं वेंकट माधव ने इसका अर्थ महान् किया है एवं यही अर्थ निरुक्त ३/३ में भी किया गया है। अन्य स्थलों पर इसके अन्य अर्थ भी भाष्यकारों ने किए हैं। उदाहरणार्थ– ऋ० १/१२१/२ महान् सूर्यरूपी इन्द्र - सायण; १/१४१/३ यज्ञ-सा० [महतोयज्ञस्य] किन्तु वेंकट ने महान् ही किया है); २/२२/१; ३/४६/२ महान् पूज्य-सा०; महान् वें०; ४/१८/११ सा० वें० दोनों ने महान् अर्थ ही किया है किन्तु सायण ने स्वभाव के अनुसार पुत्र अर्थ तक इसे विस्तृत किया है (महनीयं महान्तं वा पुत्रम्); ९/७३/२ में भी सायण इसका अर्थ विस्तार करते हैं एवं प्रकरण के अनुसार ऋत्विज अर्थ करते हैं (पूजा महान्तो वा ऋत्विजः); ७/४४/५; ९/८६/२५; ९६/१८,१९; ९७/४१; ९०/८/१) ६५/८; ६६/१०; १२३/४ १२८/८ आदि अनेकों

1. The Sakta Peethas, P.3

स्थलों पर इसका अर्थ महान् ही किया गया है। ९/९२/६ में सायण ने इसका दो भिन्न अर्थ किया है -१. महिष पशु २. महान् सोम। ६/१७/११; ८/३५/७-९ आदि स्थलों पर सायण एव वेंकट दोनों ही इसका अर्थ महिष पशु ही करते हैं। इन्द्र एवं सूर्य के अतिरिक्त यह शब्द सोम (९/८२/३; ११३/३ आदि) एवं अग्नि (१०/८/१) के विश्लेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार प्राचीन वैदिक उद्धरणों में महिष शब्द 'मह पूजायाम्' धातु से व्युत्पन्न मानते हुए महान् या पूज्य अर्थ में प्रयुक्त है साथ ही महिष नामक बलशाली पशु के रूप में भी प्रयुक्त है। कभी कभी महत्ता द्योतित करने वाले इस शब्द का मरुतो एवं देवगणों के लिए इसका प्रयोग बहुवचन में किया गया है। (६/८/४ महान्तों देवाः -वें०; महान्तो मरुतः -सा०; महति विस्तीर्णे सन्ना महिषा माध्यमिका देवगणाः -स्कन्दस्वामी।)

इस प्रकार यदि भाष्यकारों की दृष्टि से देखा जाए तो महिष शब्द का अर्थ महान्, पूज्य, बलवान् पशु आदि अर्थ संगत होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महिष नामक पशु को वैदिक आर्य जन भली भाँति जानते थे। सम्भव है कि बलशाली होने के कारण इसे महिष नाम दिया गया होगा। यह पशु पर्वतों पर निवास करता था ('महिषं न सानौ' ९/९५/४)। इसे बाँधकर भी रखा जाता था ('निरुद्धः चित् महिषः' (१०/२८/१०)। यद्यपि वैदिकजन सिंह के पराक्रम से परिचित थे (१०/२८/१०) तथापि महिष को पशुओं में सर्वश्रेष्ठ अथवा राजा कहा गया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सोम की महत्ता बताते हुए ऋषि कहता है-

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्।।
(ऋ० ९/९६/६)

'हे सोम जिस प्रकार इन्द्रादि देवों में ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं, क्रान्त प्रज्ञ कवियों में वैयाकरण (पदवीः) श्रेष्ठ हैं, विप्रों में ऋषि श्रेष्ठ हैं, पशुओं में महिष श्रेष्ठ हैं, गृध्रजातीय पक्षियों में बाज श्रेष्ठ है, काटने वाली वस्तुओं में हँसिया श्रेष्ठ है उसी प्रकार अभिषवशब्द से युक्त तुम सर्वश्रेष्ठ हो।' इस प्रकार महिष की पशुओं में श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए भी उसे सिंह द्वारा बध्य भी प्रतिपादित किया है। ऋ० १०/६०/३ में कहा गया है कि 'राजा असमाति बिना खड्ग के भी शत्रुओं को उसी प्रकार पराजित करता है जिस प्रकार सिंह महिषों को परास्त करता हैं। (**यो जनान् महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्। उतापवीरवान्यायुधा।**)।

ये उदाहरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि वैदिक काल के व्यक्ति महिष पशु को भी पशुत्वेन अत्यधिक महनीय एवं बलवान मानते थे। महिष के बाँधे जाने का उल्लेख यह नहीं स्पष्ट करता कि महिष का उपयोग पालतू पशु के रूप में भी होता था। किन्तु मृगों में सर्वश्रेष्ठ मानने से यह कल्पना की जा सकती है कि महिष आर्यों के लिए महत्त्वपूर्ण रहा होगा।

इन्द्र एवं महिष के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कुछ रोचक मन्त्र प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार पौराणिक दुर्गा कात्यायनी विन्ध्यवासिनी ने महिषासुर का संहार किया था उसी प्रकार वैदिक इन्द्र ने वृत्रासुर का संहार किया था। ये दोनों कथाएँ लोक में अत्यधिक प्रसिद्ध रही हैं। किन्तु ऋग्वेद की अत्यधिक कठिन एवं प्राचीन वर्णन शैली में ऐसा भी कहा गया है। कि इन्द्र महिष का मांस भक्षण करके एवं पात्रों में सोमपान करके जब मदमस्त हुए तभी वृत्रहन्ता बन सके।

वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम्।।
पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसिः धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै।।

(ऋ० ६/१७/११)

'हे इन्द्र पूषा एवं विष्णु तुम्हारे लिए सौ महिषो को पकाएँ एवं पात्रों (सायण के अनुसार ३ पात्र - द्रोणकलश, पूतभृत्, आधवनीय नामक ३ यज्ञीय पात्र है) में मादक सोम भरें। तभी तो तुम वृत्र हन्ता बनोगो।' ऋ० ५/२९/७,८ में कहा गया है कि 'अग्नि ने अपने मित्र इन्द्र के आनुषङ्गिक कर्म के लिए तीन सौ महिषों को पकाया। उस इन्द्र ने मनुष्यों के लिए तीन सरों या पात्रों में अभिषुत सोम का पान वृत्र का बध करने के लिए किया। हे इन्द्र तुमने जो तीन सौ महिषों के मांस का भक्षण किया है तथा तीन सरों पात्रों में सोम का पान किया है। इसी कारण तुमने वृत्र का बध किया। सभी देवताओं ने सोमपान से परिपूर्ण तुम्हारा आवाहन युद्ध के लिए किया है। सभी देवताओं ने तुम्हें उसी प्रकार बुलाया जिसप्रकार सेवक अपने स्वामी को बुलाता है।'

सखा सख्ये अपचत्तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि।
त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद्वृत्रहत्याय सोमम्।।

त्रीयच्छता महिषाणामघो मास्त्री सरांसि मघवा सोम्यापाः।
कारं न विश्वे अहवन्त देवा भरमिद्राय यदहिंजधान।।

(ऋ० ५/२९/७-८)

इन्द्र ने स्वयं भी महिष का बध किया था। ८/१२/८ में ऋषि कहता है कि हे प्रबृद्ध इन्द्र जब तुमने सहस्त्रमहिषों को मारा तभी तुम्हारी इन्द्रिय प्रकृष्ट हुई है।

यदि प्रबृद्ध सत्पते सहस्त्रं महिषाँ अघः।
आदित्त इन्द्रियं महि प्रवावृधे॥

सायण ने इस मन्त्र में महिष को असुर का वाचक मानते हुए व्याख्या की है कि इन्द्र ने वृत्र आदि सहस्त्रों महान् असुरों का बध किया है **(सहस्त्र संख्याकान् महिषान्। महन्नामैतत्। महतोऽसुरान् वृत्रादीन् यदि यदा अघः अवधीः।** ८/१२/८ पर सायणभाष्य)

एक मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र ने कम आयु के कुमार के रूप में रथ पर आसीन होकर माता एवं पिता के लिए महिष नामक मृग (पशु) का बध करता हैं। यह महिष अनेकों प्रकार का कर्म करने में समर्थ है।'

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम्।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम्॥ (ऋ० ८/९८/१५)

सायण इस मन्त्र में महिष का अर्थ महान् एवं मृग का अर्थ इधर-उधर दौड़ने वाला कहा है - **महान्त मृगं इतस्ततः धावन्तम्॥** सोमार्थक शब्द के रूप में महिष शब्द का प्रयोग करते हुए एक मन्त्र में ऋषि कहते हैं -'पर्जन्य द्वारा बढ़ाए गए महिष को द्युलोक से सूर्य की पुत्रीं श्रद्धा **(श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता** शत० ब्रा० १२/७ ३/११) खींच लाई उसे गन्धर्वों ने धारण किया। उसका रस सोम में निहित कर दिया। उस सोम से इन्द्र के लिए रस चुआओ।

पर्जन्य बृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत्।
तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन्तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परिस्त्रव॥

(९/११३/३)

इन्द्र सूक्त के एक मन्त्र में ऋषि कहता है - हे महिष तुम महान् हो धनवान् हो, उग्र हो अपने सभी शत्रुओं को अभिभूत करते हो तुम सम्पूर्ण भुवन के एक मात्र राजा हो। तुम युद्ध में शत्रुओं का नाश करो एवं लोगों को शान्तिपूर्वक रहने के लिए बसाओ।'

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया चक्षया च जनान्।।

(ऋ० ३/४६/२)

धनस्पृद् शब्द का वेंकट ने शत्रुओं के धन की इच्छा रखने वाला किया है- 'शत्रुधनानामभिमकांक्षित:'।

इस प्रकार ऋग्वेद में प्राप्त महिष के प्रकरणों में यद्यपि इस शब्द के कई अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण उसका स्वरूप नही प्रकट हो पाता किन्तु कुमार इन्द्र द्वारा महिष बध एवं महिष मांस भक्षण से ही वृत्रबध की क्षमता पाने एवं सहस्त्र महिषों को मारने के पश्चात् इन्द्र की इन्द्रिय प्रकृष्ट होने के उल्लेखों में अवश्य ही पुराकथाशास्त्रीय रहस्यात्मकता है। वैदिक महिष कभी पशु है कभी सोम कभी इन्द्र कभी सूर्य कर्मी वैद्युत अग्नि (१०/८/१) कभी अन्तरिक्ष स्थानीय देवता (६/८/४)। द्युलोक से सूर्य पुत्री उसे खींच कर लाती है गन्धर्व उससे सोम को रसवान् बनाते हैं आदि वर्णनों से महिष का देव शास्त्रीय रूप प्रकट होता है। इन्द्र अथवा सूर्य रूपी इन्द्र स्वयं भी महिष पद का अभिधेय हुआ है। १/१२१/३ का द्रष्टा कहता है कि -'महिष द्युलोक को स्थिर करता है। गायों का नेता है। सूर्य के रूप में भासमान है। सभी के लाभ के लिए धन की वर्षा करता है वह सभी को आच्छादित करने वाले प्रजापति से उत्पन्न नक्तोषा (व्रा)[१] को देखता है। वह रात्रि एवं उषा के पीछे आता हैं। उसने घोड़ी को गाय की माता बनाया था।'

स्तम्भीद्ध द्यां स धरुणं प्रुषाय दृभुर्वाजाय द्रविंण नरो गो:।
अनुस्वजां महिषश्चक्षत व्रां मेनामखास्य परि मातरं गो:।।

इसी प्रकार का देवशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक मन्त्र दशम मण्डल में उपलब्ध होता है।

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपनती। व्यख्यन् महिषो दिवम्।।
(१०/१८९/२)

---

१. स्वप्ना एवं व्रा का अर्थ वेंकट ने इस प्रकार किया है - स्व एव प्रजापते र्वा जाता सा स्वजा।। व्रा = बृणोति तमसा सर्वमाच्छादयतीति व्रा रात्रि:। यद्वा प्रकाशेन वृणोति इति व्रा उषा: सा, उषा (शाकपूणि पठितम्)।। ऋ० १/१२१/१ पर वेंकट भाष्य)

यह मन्त्र कठिन है। सायण ने इसका अर्थ इसप्रकार किया है[1]– 'इस सूर्य की प्रकाशमान दीप्तियाँ शरीर में प्राणरूप से संचरित होती हैं-श्वास। प्रश्वास की हेतु भूता हैं अथवा प्रकाशमान किरणें द्यावा पृथिवी के मध्य में संचरित होती हैं एवं सायं काल में अस्त हो जातीं हैं। इस प्रकार की दीप्ति से युक्त होने के कारण ही सूर्य महिष है, महान् हैं तथा द्युलोक को अन्तरिक्ष को उदयास्त कालों के मध्य में व्याख्यायित करता है, प्रकाशित करता है।'

उक्त अर्थ सायण ने पारम्परिक व्याख्या के आधार पर किया होगा किन्तु मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं होता। मुख्य रूप से **'अपानती'** एवं **'व्यख्यन्'** शब्द इसे और अधिक कठिन कर देते हैं। विशेष तथ्य यह है कि इस मन्त्र या सूक्त की ऋषिका **सार्पराज्ञी** है। इस ऋषिका के विषय में भी विशेष ज्ञान नहीं उपलब्ध होता इतना कहा जा सकता है कि यह सर्पराट् की पुत्री रही होगी। अनुक्रमणी के अनुसार इस मन्त्र का देवता स्वयं सार्पराज्ञी है अथवा सूर्य भी हो सकते हैं। **(तथा चानुक्रान्तं आयं गौः सार्पराज्ञ्यात्मदैवतं सौर्यं वेति।** १०/१८९ विनियोग)। किन्तु सायण ने इस मन्त्र को आत्मदैवत मान कर सार्पराज्ञी के पक्ष में संगत होने वाला अर्थ नहीं किया हैं यद्यपि आपस्तम्ब (८/१३) एवं ऋक्सर्वानुक्रमणी कार इसे मुख्यतः सार्पराज्ञी का आत्म देवताक मन्त्र ही मानते हैं। यदि सार्पराज्ञी के पक्ष से इस मन्त्र का अर्थ किया जाए तो सम्भवतः इस प्रकार अर्थ होगा – "सार्पराज्ञी की दीप्ति या शक्ति प्राणों से खींचती हुई भीतर प्रवेश करती है। इसप्रकार महिष द्युलोक को व्याख्यायित करता है अथवा द्युलोक में स्थित होता है।"

इस प्रकार का अर्थ स्वीकार करने पर सार्पराज्ञी महिष अथवा सूर्य के द्युलोक में स्थित करने वाली एवं उसके प्राणभूत प्रकाश को उसके अन्तः में स्थित करने वाली रहस्यमयी शक्ति के रूप में समझी जा सकती है। किन्तु यदि इस मन्त्र के अर्थ को सार्पराज्ञी के पक्ष में भी संगत न करने पर इस मन्त्र के पूरे महत्त्व को नहीं समझा जा सकता। परम्परा इसे ऋषिदैवतक ही मानती है। इसका सूर्यदेवता होना द्वितीय स्तर की व्याख्या है। यहाँ सार्पराज्ञी द्युलोक को व्यक्त करने वाली एवं प्राणवान् करने वाली शक्ति प्रतीत होती है।

---

१. अस्य सूर्यस्य रोचमाना दीप्तिरन्तः शरीरमध्ये मुख्य प्राणात्मना चरति। वर्तते। किं कुर्वती। प्राणादपानती मुख्यप्राणस्य प्राणाद्याः पंचवृत्तयः। तत्र प्राणनं नाडीभिरुर्ध्वं वायो- र्निर्गमनम्। तथा विधात् प्राणात् प्राणनादनंतरमपानती। अपानं नाडीभिरवाङ्मुखं वायोर्निर्गमनं तत्कुर्वती।......यद्वा अन्तर्द्यावा पृथिव्योर्मध्येऽस्य सूर्यस्य रोचमाना दीप्तिश्चरति। गच्छति। रुचदीप्तौ। प्राणात्प्राणनादुदयानंतरमपानती सायं समयेऽस्तं गच्छन्ती। ईदृश्या दीप्त्या युक्तः। अतएव महिषो महान् सूर्यो दिवमन्तरिक्षमुदयास्तमय योर्मध्ये व्यख्यन् विचष्टे प्रकाशयति। सायणभाष्य।

महिष के इन वैदिक प्रसंगों में परवर्ती या पौराणिक कहे जाने वाले महिषासुर के बध की कथा के विकास के संकेत हैं अथवा नहीं यह एक पृथक् विषय है किन्तु इन्द्र एवं विष्णु की बहन कात्यायनी विन्ध्यवासिनी के महिषमर्दिनी स्वरूप को समझने के प्रकरण में इन उद्धरणों को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

पुराणों में महिषासुर की उत्पत्ति के विषय में वामन एवं देवी भागवत, तथा वराह पुराण में महिषासुर के उत्पत्ति की दो प्रकार की कथाएँ हैं। देवीभागवत में वामनपुराण की ही कथा को विस्तृत रूप दिया गया है। यद्यपि वाराह पुराण में कथा दूसरे प्रकार से दी गई है। वामन पुराण (९१७/४३ से अन्त तक) का विवरण है कि रम्भ एवं करम्भ दनु के पुत्र थे एवं निः संतान थे। सन्तान प्राप्ति के लिए दोनों भाइयों ने तपस्या करना आरम्भ किया। रम्भ रसातल में जाकर वट वृक्ष के नीचे बैठ कर पञ्चाग्नि का सेवन करते हुए तप कर रहा था जबकि करम्भ पञ्चनद के जल में खड़ा हो कर तप कर रहा था। तदनन्तर इन्द्र उन दनु पुत्रों की तपश्चर्या से दुखी हुए एवं उन्होंने ग्राह रूप धारण करके पञ्चनद के जल में प्रवेश किया एवं करम्भ को जल में खींच कर मार दिया। भाई रम्भ को जब पता चला तो वह अत्यन्त दु:खी हुआ एवं अपना सर काट कर अग्नि में हवन करने को उद्यत हो गया। अग्निदेवता प्रकट हो गए एवं रम्भ को वर माँगने के लिए कहा। रम्भ ने अपने लिए त्रिलोक विजयी पुत्र की इच्छा व्यक्त की। अग्नि ने कहा कि इस क्षण के बाद जिस स्त्री पर तुम्हारा अनुराग होगा उसी से तुम्हें पुत्र की प्राप्ति होगी। रम्भ वहाँ से चल पड़ा एवं यक्षों के निवास स्थान में रहने वाले अपने मित्र मालवट के पास गया। वहाँ उसने एक महिषी को देखा एवं उसी पर असक्त हो गया। जबकि उस यक्षलोक में अन्य अनेकों सुन्दरियाँ थीं। महिषी भी स्वेच्छा से उसके साथ रमण करने को उद्यत हो गई वह महिषी तीन वर्ष की थी। (१७/५६) रम्भ उसे लेकर पाताल चला गया वहाँ उसका गर्भाधान हुआ। पुन: वह महिषी रम्भ के साथ मालवट के क्षेत्र में गई। वहीं उसे शुभ्रवर्ण का महिष उत्पन्न हुआ। जब वह ऋतुमती हुई तब एक अन्य महिष ने उसे देखा एवं उस पर आसक्त हो गया। रम्भ अपनी पत्नी की रक्षा के लिए उस दुष्ट महिष से युद्ध करने लगा किन्तु उसने रम्भ को मारडाला। मालवट आदि यक्षों ने उस महिष पर आक्रमण करके उस मार दिया। रम्भ की चिता जब जलने लगीं तभी महिषी भी चिता में कूद गई उसी समय अग्नि से खड्ग धारण किए हुए एक पुरुष उत्पन्न हुआ उसे रक्तबीज नाम दिया गया। महिषासुर का नाम यक्षों ने नमर रखा वह बहुत काल तक यक्षों के पास रहा बाद में शम्बर तारक आदि स्वर्ग को न जीत पाने वाले राक्षसों ने उसका राज्याभिषेक किया।

देवी भागवत (५/२/१७-५०) में इस कथा में किञ्चित अन्तर है। उसके अनुसार रम्भ के मरने पर महिषी उसकी चिता में कूद गई तब चिता की उस अग्नि से ही महिषासुर एवं रक्तबीज की उत्पत्ति हुई।

वराह पुराण (९४/१-२१) की कथा भी कुछ भिन्न है। प्राचीनकाल में संम्भव ऋषि के मित्र सुपार्श्व के पुत्र सिन्धुद्वीप ऋषि माहिष्मती मे तप कर रहे थे। उसी काल में वहाँ के राजा विप्रचित्ति की पुत्री माहिष्मती अपने सखियों के साथ मन्दार पर्वत पर विहार करने गई। वहाँ उसने उस ऋषि का आश्रम देखा उसमें ऋषि तप कर रहे थे। उस सुन्दर कुटिया को ऋषि से छीनने के लिए माहिष्मती असुर कन्या ने विकराल महिषी का रूप धारण करके ऋषि को डराना चाहा। ऋषि का ध्यान टूटा एवं उन्हें वास्तविकता समझते देर नहीं लगी। उन्होंने सौ वर्षों तक महिषी रूप में रहने का शाप दे दिया। उन कन्याओं के पश्चात्ताप करने एवं क्षमायाचना करने पर ऋषि ने कहा कि जब 'तुम एक महिष को जन्म दोगी तब इस रूप से मुक्ति पा जाओगी। कुछ समय पश्चात् ऋषि सिन्धुद्वीप नर्मदा के किनारे आए वहीं वह महिषी माहिष्मती भी विचरण करती थी। ऋषि ने वहाँ एक अत्यन्त सुन्दरी इन्दुमती नाम्नी कन्या को वस्त्रहीन होकर नर्मदा में स्नान करते देखा एवं उसपर आसक्त हो गए। भावावेश में उनका वीर्यपात हो गया वह वीर्य नर्मदा के जल में गिरा एवं उस महिषी ने उसका भक्षण कर लिया। उसी ऋषि सत्त्व से माहिष्मती गर्भवती हुई एवं महिषासुर का जन्म हुआ।

देवी पुराण महिषासुर की कथा एकदम पृथक् रीति से प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार कुशद्वीप का राजा (२/५१) घोर अत्यन्त विद्वान्, बलवान्, विद्वान् एवं शास्त्रज्ञ था। उसके पास असंख्य सेना एवं दस हजार करोड़ हाथियाँ थीं। (२/३६७) उसने सभी देवताओं का मानमर्दन किया था। उसने अमरत्व प्राप्ति की इच्छा से विष्णु की आराधना की एवं विष्णु ने उसे शिव एवं देवी के अतिरिक्त सभी को पराजित करने का वरदान दिया। (२/५०)। यही घोर जब देवी से युद्ध करने लगा तब उसने महिष का रूप धारण कर लिया था। इस महिषासुर के बध का दृश्य अन्य पुराणों में वर्णित महिष बध के दृश्य के समान ही है।

यद्यपि मार्कण्डेय पुराण एवं दुर्गा सप्तशती में महिषासुर की उत्पत्ति के विषय में कोई विवरण नहीं दिया गया है किन्तु W. J. Elmore ने अपनी पुस्तक Dravidian Gods in Modern Hinduism (Hamilton, Newyork से १९१५ ई० में प्रकाशित)में १८९३ ई० में बंगलूर से छपी Durga Saptsati in Markandey puran (पृष्ठ १२६ पा०रि०) से एक अन्य कथा का उल्लेख करते हैं। W.Crooke ने भी इस कथा को

मार्कण्डेय पुराण की ही कथा के रूप में उद्धृत किया है (The Popular Religions and Folklore of Northern India, Delhi 1968 Vol 2 P. 237 देखें)। कथा इस प्रकार है–दिति के सभी पुत्र देवासुर संग्राम में मारे गए। उसके पश्चात् उसे एक और पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम महिषासुर था। वह महिषरूप में भी था। उसने इन्द्र आदि को जीता एवं दुर्गा ने उस महादानव से युद्ध किया तथा उसका सरकाट कर उसके रक्त का पान किया।

उक्त पौराणिक आख्यानों का पौर्वापर्य निर्धारण कठिन है तथापि पी० वी० काणे को वराह पुराण में वर्णित महिषासुर बध का प्रकरण सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत हुआ है (History of Dharm Sartra, Vol V, Part I P. 155 पा०टि०) यद्यपि इस पुराण को वे स्वयं भी आरम्भिक पुराण नहीं मानते तथापि महिष बध के प्रसंग को वामन पुराण की अपेक्षा प्राचीनतर मानते हैं। किन्तु हमारे पास उक्त विद्वान् से सहमत होने का कोई प्रमाण नहीं है। अपितु वराह पुराण की कथा को दुर्गासप्तशती की कथा के साथ मिला कर देवी भागवत में दृष्टिगोचर होता है। वामन एवं देवी पुराण की कथाएँ हम पूर्व में उद्धृत कर चुके हैं। वराह पुराण में महिषासुर की उत्पत्ति की कथा मूलकथा धारा से एकदम पृथक् दृष्टिगोचर होती है। इसमे महिषासुर के दूत विद्युतत्प्रभ ने देवी को असुरराज के प्रति आकृष्ट करने के लिए सुनाई थी।

माहिष्मती पुर की स्थिति (ईसा पूर्व की शताब्दियों में) विन्ध्यश्रेणी के दक्षिणी भाग में मानी जाती है। फ्लीट ने यह भी शंका जताई है कि अशोक का अधिकार इस क्षेत्र पर सम्भवत: नहीं था (I.R.A.S. 1912, 246) इसी प्रकार मन्दार पर्वत को उत्तरी बिहार के भागलपुर जिले से ५६ कि०मी० दक्षिण में स्थित माना जाता है। वराह पुराण के अनुसार महिषासुर का बध मन्दार पर्वत पर हुआ था। यह विवरण वराह पुराण (९३-९४ अ०) के अतिरिक्त पद्मपुराण में भी प्राप्त होता है। पद्मपुराण के अनुसार स्वायंभुवमन्वन्तर में महिषासुर का बध मन्दार गिरि पर हुआ था एवं वैवस्वत मन्वन्तर में विन्ध्यपर्वत पर। इसप्रकार पद्मपुराणकार वामन एवं वराह पुराण की कथाओं की संगति बैठा देते हैं। किन्तु देवी पुराण के महिषरूपधारी घोरासुर का बध किस मन्वन्तर की कथा है इसका उल्लेख नहीं है। दोनों में देवी के विषय में असुरराज को नारद ने ही सूचना दी है। दोनों कथाओं के असुर राजाओं के विवेकी मन्त्रिपरिषद् की चर्चा है। वराह पुराण कार को वैवस्वत मन्वन्तर में उत्पन्न होने वाले महिषासुर का ज्ञान था (२८/४१)। देवी पुराण में महिषासुर के बध का वर्णन दुर्गा पूजा में प्राचीन काल से किए जाने वाले महिषबलि के समर्थन में समाप्त होता है (ये घातयन्ति सदा भक्त्या ते भवन्ति महाबला : २१/९)। अत: देवी पुराण की कथा हमें अधिक प्राथमिक प्रतीत होती है। दुर्गा सप्तशती में भी महिषासुर एवं देवी के युद्ध के काल के विषय में कोई विवरण नहीं दिया गया है। किन्तु वामन पुराण में इसे वैवस्वत मन्वन्तर की कथा बताई गई है। वामन पुराण में महिषामर्दिनी कात्यायनी की

उत्पत्ति सभी देवताओं के तेज से बतायी गई है। यह तेज तब प्रकट हुआ जब सभी देवता विष्णु एवं शिव के पास गए

गत्वा त्वपश्यंश्च मिथः सुरोत्तमौ स्थितौ खगेन्द्रासन शंकरौ हि। १८/२)

यही स्थिति मार्कण्डेय पुराण (सप्तशती) में भी वर्णित है–

ततः पराजिताः सर्वे पद्मयोनिं प्रजापतिम्।
पुरस्कृत्य गतास्तत्र यत्रेश गरुडध्वजौ॥ (सप्त० २/३)

अतः यह निर्विवाद है कि कात्यायनी या महिषघातिनी को एक सम्प्रदाय की देवी होने की प्रतिष्ठा नहीं है। किन्तु वराह पुराण (९०/१) शुद्ध वैष्णवी शक्ति के द्वारा महिषासुर के बध को वर्णित करता है। यह वैष्णव प्रभाव को द्योतित करता है। वराह पुराण ने इस कल्पान्तर की कथा का वर्णन करते हुए पारम्परिक रूप से प्रसिद्ध विन्ध्य के नर्मदा के आस पास के प्रभाग को नहीं चुना अपितु विन्ध्य के ही पूर्वी श्रेणी मन्दार पर्वत को कथा का केन्द्र बनाया इससे वैष्णवी शक्ति की महत्ता पारम्परिक महिषमर्दिनी की कथा से पृथक् पृथक् ख्यापित हुआ है। इस दृष्टि को आधार मानने पर भी वराह पुराण की कथा वामन, देवी एवं मार्कण्डेय पुराणों की कथाओं से अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

वामन पुराण के महिष बध की कथा मार्कण्डेय पुराण (सप्तशती) की अपेक्षा प्राचीनतर है वामन पुराण की कथा में कात्यायनी विन्ध्यवासिनी की महत्ता स्थापित करने पर बल कम है कथात्मकता अधिक है। सर्वदेवतेजो रूपा देवी माहिष बध के पश्चात् विश्व में सदा पूजित होने के लिए प्रतिष्ठित नहीं हुई है अपितु महिषासुर का बध करने के पश्चात् पुनः देवताओं के शरीर में प्रवेश कर गईं–

संस्तूय माना सुरसिद्धसंघैर्निषण्णभूता हरपादमूले।
भूयो भविष्याम्यमरार्थमेवमुक्त्वा सुरांस्तान् प्रविवेश दुर्गा॥ (२१/५२)

जबकि सप्तशती में चतुर्थ अध्याय की स्तुति में देवी के सार्वकालिक रूप का वर्णन है। अतः वामन पुराण की कथा मार्कण्डेय पुराण की अपेक्षा देवी के प्रारम्भिक प्रतिष्ठा का ख्यापन करता प्रतीत होता है[१]।

---

१. इस सम्बन्ध में Thomas B. Coburn ने Devi Mahatmya : The Critalization of the Goddess Tradition, Delhi पृ० २४१-२४८ में पर्याप्त विवेचन किया है

महिष एवं कात्यायनी के स्वरूप को समझने के लिए देवी पुराण एवं कालिका पुराण के विवरणों को भी तुलनात्मक दृष्टि से देखना होगा। देवीपुराण सिंहवाहिनी कन्या को महिषबधकर्त्री के रूप में प्रदर्शित करता है–

सिंहमारुह्य कन्यात्वे निहतो महिषो यथा।।

महिषघ्नी ततो देवी कन्या वै सिंहवाहिनी।। दे०पु० ३७/१३

इसी शक्ति को पुराण ने कात्यायनी नाम से सम्वोधित किया है- **एवं कात्यायनीबाणैर्निष्प्रभं घोरजं बलम्।** १८/६ उ०। घोर को पूर्वशाप से शापित बताया गया है। शाप का स्वरूप एवं शाप देने वाले के विषय में कोई विवरण नहीं है। तथापि प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि उसे देवी द्वारा मारे जाने का शाप था– **घातनीयो मयादुष्टः पूर्वशापेन शापितः।।** दे० १३/७३ पू०। कालिका पुराण (६०/१४७-१४९) का विवरण है कि कात्यायन ने महिषासुर को शाप दिया था। कात्यायन का शाप था कि इस असुर का विनाश सीमन्तिनी (स्त्री) करेगी– **सीमन्तिनी विनाशं ते करिष्यति न संशयः।।** ६०/९६ पू०

कात्यायन ने उसे शाप इसलिए दिया था क्योंकि महिषासुर ने स्त्रीवेश धारण करके कात्यायन की तपस्या भंग की थी तब उसे स्त्रीबध्य होने का शाप मिला- (स्क० ६०/९७-९९)

कृतस्त्वया स्त्रीरूपेण तत् त्वां स्त्री निहष्यति।।

इति मां शप्तवान् पूर्वं मुनिः कात्यायनः स्वयम्।।१००।।

इसी प्रकार के शाप की चर्चा मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है किन्तु वहाँ यह शाप ब्रह्मा द्वारा दिया गया बताया गया है

योषिद्वध्यः पुरोक्तोऽसि साक्षात्कमलयोनिना।। (मत्स्य १५२/२२)

पुरा देवासुरे युद्धे देवैर्नाशितपुत्रिणी।

दितिः प्रोवाच तनयामात्मनः शोकमोहिता।।

दितिरुवाच –

याहि पुत्रि तपः कर्तुं तपोवनमनुत्तमम्।

पुत्रार्थं तव सुश्रोणि नियता नियतेन्द्रिया।
इन्द्रादयो न शिष्येरन् येन पुत्रेण वै सुराः॥

उपिता तनया चैव जनन्या तां प्रणम्य सा।
स्वीकृत्य महिषं रूपं वनं पञ्चाग्निमध्यगा॥

तपोऽतप्यत सा घोरं तेन लोकाश्चकम्पिरे॥

तस्यां तपः प्रकुर्वन्त्यां त्रिलोक्यासीद् भयातुरा।
इन्द्रादयः सुरगणा मोहमापुर्द्विजोत्तमाः॥

सुपार्श्वस्तपसा तस्या मुनिः क्षुब्धोऽवदत्तु ताम्।

सुपार्श्वउवाच–

परितुष्टोऽस्मि सुश्रोणि पुत्रस्तव भविष्यति।
मुखेन महिषाकारो वपुषा नररूपवान्॥

महिषो नाम पुत्रस्ते भविष्यत्यतिवीर्यवान्।
व्रीडयिष्यति यः स्वर्गं देवेन्द्रञ्च ससैनिकम्॥ **(श्री श्री चण्डी ३५० उद्धृत स्कन्दपुराण)**

महिषासुर का अर्ध पशुत्व

देवी पुराण (अ०२०) मत्स्य (अ०१५२) महाभारत (वन अ०२२१) वामन (अ०१८-१९) वराह (अ०२७) सप्तशती (अ०३) आदि महिष बध के सभी प्रकरणों में महिषासुर अन्तिम समय में अपनी काया का स्वरूप परिवर्तन कर लेता है। देवी पुराण, वामन, सप्तशती, देवी भागवत आदि के विवरणों में उसे उसे अर्ध पशु के रूप में युद्ध करते हुए वर्णित किया गया है (अर्ध निष्क्रान्त एवासीद्)। इस प्रकार के अर्ध पाशविक देह धारी दैत्यों में विश्वास की परम्परा प्राचीन कालीन विश्व के अनेक भागों में थी। हर्बर्ट स्पेन्सर The principles of sociology' नामक ग्रन्थ में इसी प्रकार के अफ्रीकी अर्धपशु दैत्य की पूजा का उल्लेख करते हैं (I refer to the worship of beings represented as half man half brute") वे अत्यन्त शक्तिशाली 'राडमा' वृषभ की भी चर्चा करते है।

वह राजा या देवता माना जाता था। कभी वृषभ के रूप में कभी मनुष्य के रूप में कभी वृषभ शिरस्क मनुष्य के रूप में चित्रित किया जाता था। (It may be reasonably anticipated that if Malagasy stories and songs tell of the conquering Radama as 'a mighty bull as along, as a god, development of the resulting cult, joined with development of the plastic as, will and in representation of the. god Radama either as a man, or as a bull, or as a bull-headed man or as a creature having a lovine body with a human head" चण्डी व्याख्या पृ० ३०५ पा०रि० २१८ में उद्धृत) मिस्र के पिरामिडों में भी महिष के समान सींग एवं शिर काले मानवाकार अर्ध पशु दैत्यों या देवताओं की अनेकों मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्राचीन चीन में अश्व, उष्ट्र, अज, मेष, महिष आदि पशुमस्तक वाले दैत्यों की पूजा होती थी जो अब भी पाई जाती है (चण्डी व्याख्या उद्धरण संख्या .२१९–'Religion in China'-this popular religion is practised throughout the empire. The images of gods exist by tens of thousands, the temples by thousands." "Horses, camels, goats and other animals of stone standing on old tombs, are very commonly worshipped and invoked; if they have proved to be aclively animated or 'holy', the people build temples or ehapels beside the spot, with or without images. Here than we have idolatry connected with animal worship." चण्डी व्याख्या पृ० ३०७ पा० टि० २१९)

∵ मेगस्थनीज ने भारत में कुछ विशिष्ट जीवों को देखा था। सम्भव है उसकी उक्ति संदिग्ध हो किन्तु उसे अनुद्धृत करना ठीक नहीं है–

"Megasthenres speaks of a race of men among the Nomadic Indians who instead of nostrils have merely orifices whose legs are contorted like snakes, and who are called seyritoe. He speakes also of a race living on the very confines of India on the east, near the source of the Ganges, the Astomi who have no mouth, who cover their body, which is all over hairy, with the soft down found upon the leaves of threes; and who live merely by breathing and the perfume in haled by nostrils. They eat nothing, and they drink nothing, they require merely a variety of odours of roots and of flowers and wild apples."

"Megasthenes writes that in different mountains in India there are tribes of men with dog - shaped heads, armed with clours clothed with skins, who speak not in the accents of humn language, but only bark, and have fieree grinning jaws." (श्री श्री चण्डी पृ० ३११ पा०रि०)

मेगस्थनीज ने आस्टमी नाम के किस जन्तु को देखा था। २४०० वर्ष पूर्व के हिमालय से इसका सत्यापन कठिन है। किन्तु विश्व के अन्य भागों में भी विचित्र प्रकार के अंर्ध पाशाविक शरीर वाले जन्तुओं के देखे जाने के भी उल्लेख है–

"Far across the wind-tossed seas, far away in such places as Australia, New Guinea, Bornneo, and Ceylon, there live at this day creatures so wild that if you saw them you would scarcely believe that they were human beings and not wild animals in the shape of men. –श्री श्री चण्डी पृ० ३१२ में Edward clodd के the childhood of the world से उद्धृत) विलकिन्स 'हिन्दू माइथॉलजी' में इस प्रकार के पौराणिक चरित्रों के प्रति ३ प्रकार के विकल्प देते हैं–

"In the Puranas and other of eater writings of the Hindus, and also in the popular mind, the asur as are powerful evil beings."

"Can it be that men, finding it difficult to abstain from evil and do good, have invented these mighty being to represent the forces of evil that are arrayed against them?"

"It may be that the Rakshasas of the epics were the reiole barbarians of India, who were conquered by the Aryans, and their manners of life and religions ceremonies caricatured in this strange fashion. Some of the more intelligent were styled monkies, possibly the more savage were styled Raksh asas - Hindu mythology - by W. J. Wilkins श्री श्री चण्डी पृ० ३१४-१५ पर उद्धृत)

कुछ पुरातत्त्वविदों को ऐसी अस्थियाँ एवं सामग्री भी प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर वे विचित्र एवं अर्ध पशु शरीर के राक्षसों की वास्तविक सत्ता पर विश्वास करते है।

("The bones of huge beasts now extinet were said to have belonged to giants." "I have already spoken of remains which have lately come to light and which show that there were several kinds of half-human creature." -The childhood of world - श्री श्री चण्डी पृ० ३१५ पर उद्धृत।)

महिष मर्दिनी विन्ध्यवासिनी (कात्यायनी) का मूर्ति विकास–

देवी के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित विकासात्मक अवधारणा नहीं बनाई जा सकती। इसप्रकार की कालक्रमानुकूल कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती जिसके आधार

पर यह स्थिर किया जा सकता हो कि देवी दुर्गा की अनेकों भुजाओं को मूर्तन एक निश्चित विकास का परिणाम हो सकता है।

विष्णु धर्मोत्तर एकानंशा को द्विभुजा रूप में चित्रित करता है। गोपीनाथ राव ने (Elements of Hindu Iconography Vol I Part II PP. 103-105) सुप्रभेदागम, पूर्वकर्मागम एवं उत्तरकर्मागम के उद्धरणों के आधार पर दुर्गा के द्विभुजा रूप का वर्णन किया है। शारदा तिलक में विन्ध्यवासिनी के द्विभुजारूप का भी ध्यान प्राप्त होता है—

कुषाण युगीन भृण्मूर्ति (अहिच्छत्रा से प्राप्त) एवं कुछ पूर्वगुप्तयुगीन प्रस्तर मूर्तियाँ भी द्विभुक्षा कात्यायनी (महिष मर्दिनी) की है। इनका विवरण वी० मिश्र ने अपनी पुस्तक 'महिषासुर मर्दिनी' पृ० २८ पर दिया है द्विभुजी रूप की मूर्तियाँ प्राचीनकाल से लेकर मध्युग एवं उत्तर मध्ययुग तक प्राप्त होती है। दक्षिण भारत में मैसूर, दक्षिणी कनारा मोहम्मद पुर (जिला–ति प्पेरा) आदि स्थानों से आरम्भिक मध्ययुगीन (७वीं-९वीं शती ई०) प्रस्तर-मूर्तियाँ प्राप्त हुई है (वही० पृ० १६–१८, ३३, ६७)। इसी प्रकार १२वीं शती या उत्तर मध्ययुग की काष्ठ मूर्ति केरल में प्राप्त हुई है जो द्विभुजा कात्यायनी द्वारा महिषासुर के बध का चित्रण करता है। (दे० Mahishasur mardini in Indian art –शान्तिलाल नगर पृ० ७७)। इस प्रकार के द्विभुजी रूप का चित्रण १८वीं शती के चित्र शिल्पों में भी है जिसका प्रमाण बसोहली चित्रों में प्राप्त होता है (वही-७८)

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों का यह मानना कि द्विभुजा मूर्ति ही प्राथमिक हो सकती है, एवं देवी के स्वरूप विकास के साथ साथ भुजाओं की संख्या में भी विकास हुआ होगा एकाङ्गी होगा। यद्यपि यह अवश्य कहा जा सकता है कि द्विभुजा रूप अत्यधिक प्राचीन है। तथापि परवर्ती काल में भी इस भावना का लोप नहीं हो सका था। जैसा कि रामप्रसाद चन्द्र में व्याख्यायित भी किया है (देखे Memories of the A.S.I. No 44 (1930), P. 4)। दूसरी ओर वामन पुराण देवी पुराण स्कंद पुराण विन्ध्यवासिनी का तादात्म्य उमा अम्बिका विभावरी आदि से करते हुए भी इनके प्राचीन स्वरूप एवं विन्ध्य से सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखता है इनकी उत्पत्ति कात्यायन के आश्रम में बताते हुए युद्ध के लिए इनको विन्ध्याचल गमन भी वर्णित करता है।

तच्चांपि तेजोत्तममुत्तमं महत्, नाम्ना पृथिव्यामभवत् प्रसिद्धा।
कात्यायनीत्येव तदा बभौ सा नाम्ना क्व तेनैव जगत्प्रसिद्धा।।

वामन० १८/१३

ततः स्तुता देववरैर्मृगेन्द्रमारुह्य देवी प्रगता वनाद्यम्।।
विन्ध्यं महापर्वतमुच्चशृंगं चकार यं निम्नतरं त्वगस्त्यः।। वा० १८/२१

इस देवी से विन्ध्य पर्वत की सम्बद्धता का अनेक पुराणों एवं तन्त्रों ने शाक्त संप्रदाय में पराशक्ति की अवधारणा के रूप में अद्वैतवाद की स्थापना के अनन्तर भी स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ- **स ते विन्ध्ये नगश्रेष्ठे स्थानं दास्यति शाश्वतम्। हरि० I ४७, ४८ A दारिणीं मन्दिरावारणं विन्ध्य कैलासवासिनीम्।। हरि० II अनिरुद्ध स्तुति श्लोक ३३। घंटानिनाद बहुला विश्रुता विन्ध्यवासिनी।। हरि० २/४५/५८ उ० बद्धौ कर्कोटकेनैव बध्वा विन्ध्यमुपागमत्।। वामन० १५/७६ उ० सहस्राक्षोऽपि तां गृह्य विन्ध्यं वेगाज्जगाम ह। तत्र गत्वा त्वक्षोवाच तिष्ठस्वात्र महाबले।। पूज्यमाना सुरै देवी ख्यात एवं विन्ध्यवासिनी।। वा० २८/२६-२७ विन्ध्याद्रि निलयां शैलतनयां लोकपावनीम्।। वृहद्धर्म पुरा० २१/५९ विन्ध्य निलया वायु० ९/९० ५० त्वां नमामिं महेशानीं देवीं पर्वत नन्दिनीम्। लंकेशीं विन्ध्यनिलयां कालरूपाञ्च सैन्धवीम्।। वृ० धर्मपु० २०/४० यन्त्रं विन्ध्यनिवासिन्याः प्रोक्तं सर्वसमृद्धिलम्।। शारदातिदक ११/१२६**

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथमतः महिषमर्दिनी विन्ध्यवासिनी का तादात्म्य वैष्णवी योग निद्रा से हुआ होगा। तदनन्तर पुरातात्विक दृष्टि से कात्यायनी के महिषमर्दिनी स्वरूप की अनेक प्रकार की प्रतिमाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से देश के अनेक भागों में प्रतिष्ठित हुई। आर० सी० अग्रवाल ने राजस्थान के टोंक जिले के 'नगर' स्थान से एक मृण्मूर्ति का पता लगाया। इस मूर्ति को महिषमर्दिनी की प्राचीनतम मूर्ति माना गया है। इसका काल प्रथमशती ई०पू० से प्रथम शती ईसवी के मध्य माना गया है। (A terra cotta Plaque of Mahishmardini from Nagar, Rajasthan, Lalit Kalā No. 1-2 New Delhi 1955-56 P.73 में R.C.Agrawal विवृत।)

राजस्थान के ही संभर जिले से एक अन्य श्वेतमृण्मूर्ति भी प्राप्त हुई है जो प्रथम शताब्दी ईसवी की मानी जाती है। टोंक की मूर्ति अम्बर संग्रहालय में सुरक्षित है। प्राचीन मूर्तियों में मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित षड्भुजा महिष मर्दिनी की मूर्ति की भी गणना की जाती है। ये ६ मूर्तियाँ है। ५ में देवी की ६ भुजाएँ हैं। एक में ४ भुजाएँ दर्शाईं गईं है। इन मूर्तियों में सिंह का चित्रण नहीं है। देवी को महिष को दबाकर गर्दन तोड़ते हुए चित्रित किया गया है। (देखें catalogue and guide to the Ganga Golden Jubilse Museum, Bikaner, 1961) इन मूर्तियों को कुषांण युगीन माना जाता है (Indian Mother Goddesses P.163)। मार्शल ने भिटा से महिषमर्दिनी की गुप्त कालीन प्रस्तर मूर्ति प्राप्त

की थी (A S I A R 1911-12, P. 86 Pl. XXXI, Figs 13 and 14. DH 9 P. 487 में उद्धृत) चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि (भिलसा, म०प्र०) गुहालेख में अनेकों शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित महिषमर्दिनी का चित्र उत्कीर्ण है। यह मूर्ति द्वादश भुजाओं वाली है। प्राचीन होते हुए भी द्वादश भुजाओं का चित्रण अपने में एक विशेष महत्त्व रखता है। इसमें भी सिंह नहीं है। डॉ० सरकार ने Sakti Cult in Western India (P. 87-88) में राजस्थान के नीचम स्टेशन के निकट स्थित भ्रममाता मन्दिर से प्राप्त जनवरी ४९१ ई० के शिलालेख में महिषमर्दिनी के उल्लेख का विवरण दिया है। चौथी शताब्दी की छः भुजी प्रतिमाएँ अनेक स्थलों में प्राप्त होती हैं। मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त मूर्ति में महिषासुर बध का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है। आयुध अस्पष्ट है आभूषण भली भाँति दिखाई देते है। भुजाओं में ७ वलय है। कमर तक साड़ी पहने हैं। बाई भुजा से ही महिष का पूँछ पकड़ कर बाए पैर से ही कुचलते हुए चित्रण किया गया हैं यह मूर्ति मथुरा संग्रहालय (D.12) में सुरक्षित है इस परम्परा की अन्य २ मूर्तियाँ ग्वालियर के संग्रहालय में सुरक्षित है। ये दोनों बेसनगर से प्राप्त है एवं षड् भुजी है। देवी एक पाद पीठ पर है एवं उनके पीछे दो सिंह हैं महिषसुर खड्ग से उनपर आक्रमण कर रहा है। भारत कला भवन वाराणसी में चतुर्भुजी मूर्ति संरक्षित है (Acc N. 592) यह भी मथुरावाली मूर्ति की परम्परा की है।

सुदूर पश्चिमी एवं पूर्वी प्रान्तों से भी महिषमर्दिनी की मूर्तियाँ प्राप्त होते है। पेशावर से महिषमर्दिनी की जो मूर्ति प्राप्त होती है वह भग्न है किन्तु असुर के पैर शरीर, देवी का मुख एवं धड़ स्पष्ट है (D.H.I. Plate XLII, Fig. 1)। इसी प्रकार बंगाल के दीनजपुर से प्राप्त मूर्ति में नवदुर्गा सहित १८ भुजी देवी महिषमर्दिनी को केन्द्रीय देवी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। अन्य देवियों को १६ भुजाएँ है (D.H.I.P. 499-500) छठीं-सातवीं शती ई० के पूर्व के ऐहोल (बीजापुर) एवं हरिपुर (मयूरभञ्ज) के चालुक्य एवं ओडीसी कलाकारों ने महिषासुर के युद्ध को परिष्कृत रूप से चित्रित किया है। ऐहोल के चित्र में देवी ने महिष के गंर्दन को ऊपर अपनी ओर मोड़े हुए हैं। इसमें महिष से मनुष्याकृति का प्रकटन नहीं है। उनका सिंह बाई और शान्तभाव से स्थित है। देवी अष्टभुजी हैं। हरिपुर की मूर्ति ऐहोल से परवर्ती है इसमें भी देवी अष्टभुजी हैं। इसमें उसी प्रकार मोड़े हुए महिष पर देवी त्रिशूल से प्रहार कर रही है एवं सिंह भी आक्रामक है। एलोरा के गुहाचित्र में और अधिक परिवर्तन दिखाई देता हैं। इसमें अष्टभुजा सिंहवाहिनी राक्षस पर भीषण आक्रमण कर रही हैं। राक्षस मानव रूप में है किन्तु उसके सिर पर महिष जैसा सींग है। उसकी सेना भी चित्रित है जिसमें कुछ मारे गए है कुछ युद्ध कर रहे हैं। ऊपर देवताओं को युद्ध देखते हुए भी चित्रित किया गया है। यह वर्णन वामन पुराण एवं दुर्गा सप्तशती के वर्णनों के आधार पर निर्मित प्रतीत होता है।

८वीं शती के मेरुवर्मन् (चम्बा) के शासनकाल की एक सुन्दर कांस्य मूर्ति चतुर्भुजी रूप में मिलती है। इसमें देवी महिषासुर की पूँछ बाएँ हाथ से पकड़े हैं। तथा उसके गले को अपने दाएँ पैर से दबाए हैं। दाहिने हाथ से ही उसपर त्रिशूल से प्रहार कर रही हैं। अन्य दोनों हाथों में घंटा एवं खड्ग है। इस मूर्ति पर उत्कीर्ण अभिलेखक में देवी को 'लक्षणा' कहा गया है। देवी के त्रिशूल का वार महिषासुर के गले पर है। इसका साम्य सप्तशती ३/३७ के वर्णन से पूर्ण रूप से है। दक्षिण के गङ्गै कोण्डकोलपुरम् एवं भामल्लपुरम से भी महिष मर्दिनी की प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं।

आधुनिक बँगलादेश से महिषमर्दिनी की सौम्य एवं उग्र दोनों प्रकार की मूर्तियाँ में उन्हें ललितासन या त्रिभङ्गी मुद्रा में दर्शाया गया है[1]

महिषमर्दिनी की मूर्तियों की अविच्छिन्न परम्परा का दर्शन उत्तरमध्ययुगीन अथवा १२वीं शती ई० के परमार कालीन उज्जैन, गोड़ी, गन्धर्वपुरी, हिंगलाज (पाकिस्तान) ऊना, आशापुरी, बाराखेड़ी, विदिशा, कागपुर, ग्यारसपुर, ओरघलेश्वर, मानपुरा, घुसईपान बिहार, गजनी खेड़ी गन्धावल, ककला आदि अनेकों स्थानों से प्राप्त मूर्तियों से भी प्रमाणित होती है।

उदयगिरि (तीसरी-चौथी शती ई०), भूमर (छठी शती ई०) मामल्लपुरम् (७वी शती ई०) भुवनेश्वर (वैताल देउल) आदि से प्राप्त मूर्तियों में महिष मर्दिनी के साथ शिव या भैरव का भी चित्र है।

आर० सी० मजूमदार महिषमर्दिनी की मूर्तियों को गुप्त युग से पूर्व का नहीं मानते। उनके अनुसार मार्शल द्वारा प्राप्त भिटा की लघु मूर्तियाँ सर्वाधिक प्राचीन हैं। जिनमें देवी की २ या ४ भुजाएँ हैं एवं अकेले महिषासुर से युद्ध करती हैं। उनके अनुसार देवी की भुजाओं की संख्या में वृद्धि एवं सिंह की स्थिति परवर्ती विकास हैं। अर्ध निष्क्रान्त महिषासुर का प्रदर्शन भी पश्चात् कालीन विकास है। किन्तु उदयगिरि की द्वादशभुजी मूर्ति के कारण यह भी कहते हैं कि 'भुजाओं में बृद्धि करते जाने की कल्पना भी प्राचीन है।' चम्बा से 'लक्षणा' की पूर्णोक्त मूर्ति फोगेल को बहुत बाद में प्राप्त हुई है। अतः मजूमदार लिखते है कि 'देवी की भुजाओं में वृद्धि समान रूप से नहीं की जाती थी (श्रेण्ययुग-आर०सी० मजूमदार, अनु० शिवदान सिंह चौहान, दिल्ली, १९८४ पृ० ४९९)।

---

1. विवरण देखें -A New type of Mahishamardini from Bangladesh by M. Rahman का लेख जो Studies in Ancient Indian History, D.C. Sirkar Commomoration Volume ed. K.K. Dasgupta आदि, 1988, P. 168-76।

कात्यायनी की मृण्मूर्तियाँ प्रस्तर मूर्तियों की भाँति अति स्पष्टता से उनकी प्राचीनता का प्रमाण नहीं बनतीं। अतः दुर्गापूजा को चौथी शती के पूर्व में पौराणिक महत्त्व नहीं प्राप्त था इस प्रकार के शंकाओं से ग्रस्त लोग उन मूर्तियों पर संदेह भी कर सकते है। किन्तु यह निश्चित है कि उन मूर्तियों कली देवी एक पशु राक्ष के साथ युद्धकर रही हैं। अतः उसकी पहचान महिषमर्दिनी के अतिरिक्त अन्य किसी देवी से करना सम्भव भी नहीं है। आधुनिक अधिकांश विद्वान् १९०६ ई० के मजूमदार की (Origin and History of Durga G.R.A.S. 1906) मान्यताओं से सहमत नही हो पाते।

इस प्रकार हम देखते है कि कात्यायनी की लोक प्रियता सम्पूर्ण भारत में अविच्छिन्न रूप से प्राचीन भारत में भी आधुनिक भारत की ही भाँति स्थापित थी।

मार्कण्डेय पुराण के महिषासुर प्रसंग की पूर्व कथा सम्भवतः मत्स्यपुराण के देवासुर संग्राम में उपलब्ध होता है (मत्स्य १५०-१५२)। महिषासुर ने अन्य दानवों के साथ देवासुर संग्राम में सक्रिय भाग लिया था। विष्णु के साथ (१५१-१५२ अ०) महिषासुर का घोर युद्ध हुआ था। उसने विष्णु एवं गरुड को घायल कर दिया था - विष्णु ने उसे अनेको यत्न करके गिरा दिया किन्तु वह मरा नहीं। विष्णु ने कहा कि हे दानव ब्रह्मा ने तुम्हें 'योषिद्बध्य' होने का शाप दिया है अतः तुम्हें मैं नहीं मारुगाँ तुम उठो और अपनी जान बचाओ (अ०१५२/१८-२४)

प्रकोपाद्रक्तनयनो महिषोदानवेश्वरः।
प्रत्युद्ययौ हरि रौद्रः स्वबाहुबलमास्यितः॥

तीक्ष्ण धारेण शूलेन महिषो हरिमर्दयन्॥
शक्त्या च गरुडं वीरो महिऽम्यहनद्धृदि॥

ततो व्यावृत्त वदनं महाचल गुहानिभम्॥
ग्रस्तुमैच्छद्रणे दैत्यः सगरुत्मन्तमच्युतम्॥

अथाच्युतोऽपि विज्ञाय दानवस्य चिकीर्षितम्।
वदनं पूरययामास दिव्यैरस्वैर्भहाबलः। २०

महिषस्याथ ससृजे बाणौघं गरुडध्वजः।
पिधाय वदनं दिव्यैर्विव्यास्त्रपरिमन्त्रितैः॥

सतैर्बाणैरमिहतो महिषोऽचलसन्निभः।।

परिवर्तितकाययोऽधः पपात न भमार च।।

महिषं पतितं दृष्ट्वा भूमौ प्रोवाच केशवः।

महिषासुर मत्तस्त्व वधं नास्त्रैरिहार्हसि।

योषिद्वध्यः पुरोक्तोऽसि साक्षात्कमलयोनिना।

उत्तिष्ठ जीवितं रक्ष गच्छास्मात्सङ्गराद्दुतम्।।

इसी प्रकार शुम्भ के लिए भी विष्णु ने कहा है–

कुमारिबध्योऽसि रणं विमुञ्चं शुम्भासुरः स्वल्पतरैरहोमिः।

बधं न मत्तोऽर्हसि चेह मूढ वृथैव किं युद्धसमुत्सुकोऽसि।। मत्स्य१५२/३२

यहाँ शुम्भ के साथ निशुम्भ का नाम नही है अपितु जम्भ का नाम है। सम्भवतः यह निशुम्भ का ही नामान्तर हो। जिस क्रम से सप्तशती में इन दैत्यों के बध का वर्णन है उसी क्रम से विष्णु के साथ इनके युद्ध का वर्णन है।

देवासुर युद्ध में महिषासुर ने सभी देवताओं को भीषण युद्ध करके पराजित किया था इसका वर्णन मत्स्य पुराण अ० १५७-५१ में विस्तार से किया गया है। वराह पुराण (अध्या० ९३-४) में भी देवासुर संग्राम के वर्णन में महिषासुर के युद्ध का वर्णन है एवं महिष द्वारा इन्द्र आदि के पराजय का उल्लेख है। देवताओं और दानवों में घोर युद्ध हुआ। दैत्य विजयी हुए। देववृन्द ब्रह्मलोक को पलायन कर गए। (९३/१-१७) देव संरक्षण के लिए ब्रह्मा विष्णु महेश के तेज संघात से उत्पन्न त्रिवर्णा कुमारी के विष्णु अंश से उत्पन्न वैष्णवी शक्ति दैत्यनायक महिषासुर के दर्प के नाश के लिए मन्दार पर्वत पर कठोर तय करने लगीं। तपः काल में ही देवी के मन में क्षोभ या स्पन्द हुआ उससे अनेकों कुमारियाँ उत्पन्न हुईं। उन्होंने देवी की सेवा के लिए उसी अरण्यस्थली में सैकड़ों हर्म्यों, पुरों, रथ्याओं, मणियों के सोपान वाले अन्तर्जल गृहों, रत्नजालवाले गवाक्षों, उपवनों का निर्माण किया। इन कन्याओं के नाम निम्नवत थे विद्युत्प्रभा, चन्द्रकान्ति, सूर्यकान्ति, गम्भीरा, चारुकेशी, सुजाता, मुञ्जकेशिनी, घृताची, उर्वशी, शशिनी, शीलमण्डिता, चारुकन्या, विशालाक्षी, धन्या, पीनपयोधरा, चन्द्रंप्रभा, गिरिसुता, सूर्यप्रभा, अमृता, स्वयंप्रभा चारुमुखी, शिवदूती, विभावरी, जया, विजया, जयन्ती अपराजिता। आदि। इसी प्रकार की सैकड़ों पाशाङ्कुशघरा कन्याओं से घिरी देवी वैष्णवीशक्ति स्वयं सिंहासन पर विराजित हुईं।

देवी इस प्रकार अनुचरियों से सेविता होकर कौमारव्रत धारण करके तपश्चर्या कर रहीं थीं कि एक दिन नारद आए। देवी ने विद्युत्प्रभा से उनको पाद्याचमनीय आदि दिलाया। स्वागत के बाद नारद ने देवी के दिव्य अलौकिक रूप का दर्शन किया एवं विस्मित रह गए।

अहो रूपमहो कन्तिरहो धैर्य महो वयः।
अहो निष्कामता देव्या इति खेदमुपाययौ।। (१०/२३-२४)

नारद ने देवी को प्रणाम किया एवं तत्काल दैत्यराज महिषासुर के पुरी की ओर चले गए। वहाँ महिषासुर ने उस कन्या के रूप का विस्तार से वर्णन किया एवं महिषासुर के हृदय में उसे पाने की इच्छा जगाने की चेष्टा की। नारद के चले जाने पर महिषासुर ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर उनसे परामर्श किया तथा उसे पाने के लिए उपाय पूँछा। मन्त्रियों ने कहाँ कि हे राजन् वह कन्या परमाशक्ति है एवं वैष्णवी रूप धारण कर के अवतरित हुई है। उसे पाने का विचार करना विनाश को आमन्त्रित करना है। किन्तु एक मन्त्री जिसका नाम विधस था उसने कहा कि हे राजन् यदि उसे प्राप्त करने में मतैक्य हो तब भी उसका हरण नहीं करना चाहिए अपितु उसके पास जाकर याचना करनी चाहिए तथा साम, दान, दण्ड, भेद नीतियों का प्रयोग करना चाहिए यदि तब भी वह न माने तब बलात् अपहरण करना चाहिए।

विद्युत्प्रभ को दूत बना कर भेजा गया। इत का संवाद विस्तार से सुनकर जया ने उत्तर दिया कि देवी ने सार्वकालिक कौमार व्रत धारण कर रखा है उनकी तो कल्पना भी मतकर उनके अतिरिक्त यहाँ जितनी कन्याएँ हैं उनमें से भी तू प्राप्त नहीं कर सकता। उसी क्षण नारद ने आकर देवी को देवताओं के पराजय की सूचना दी एवं सहायता की याचना की। देवी क्रुद्ध होकर खड्गचर्म धनुर्धरा हो गईं एवं कन्याओं की सेना लेकर २० भुजाओं से युक्त होकर दैत्यों से युद्ध किया एवं महिषासुर का बध किया।

कौशिकी

कौशिकी विन्ध्यवासिनी या दुर्गा का प्राथमिक नाम है। जिस प्रकार एकानंशा को कृष्ण की बहन कहा गया है, उसी प्रकार कौशिकी को इन्द्र की बहन कहा गया है! इस देवी की भी प्रतिष्ठा एकानंशा की भाँति शैव एवं वैष्णव दोनों विद्याओं (cult) में समान रूप से है।

इस देवी के स्वरूप एवं इनके पौराणिक उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व **कौशिकी** नामकरण की अवधारणा पर विचार करना उचित है। कौशिकी शब्द कुशिक से व्युत्पन्न है। **ऋग्वेद** (१/१०/११) एवं शतपथ **ब्राह्मण** (३/३/४/९) में कौशिक इन्द्र के लिए प्रयुक्त है। विष्णु पुराण (४१९) एवं **हरिवंश** (२/२) में योगनिद्रा के जन्म के प्रसंग में कहा गया है कि 'इन्द्र इस देवी को अपनी बहन बनाएगा। क्योंकि इन्द्र कुशिक गोत्र में उत्पन्न हुआ था अतः इस देवी को भी कौशिकी कहा जाएगा।'

तत्र त्वां शतदृक् शक्रो मत्प्रदिष्टेन कर्मणा।

अभिषेकेण दिव्येन दैवतैः सह योक्ष्यते॥

तत्रैव त्वां भगिन्यर्थे ग्रहीष्यति स वासवः॥ (हरिवंश २/२)

(यशोदाकन्यात्वेनोत्पन्नायां योगमायायाम्। कौशिकेन्द्रेण भगिनीत्वे कल्पनेन विष्णुना तस्यास्तन्नामकरणथात्वं। -वाचस्पत्यम्।) इस प्रकार एक पौराणिक परम्परा कौशिक इन्द्र से सम्बद्ध होने के कारण इस देवी का नाम कौशिकी बताती है।

दूसरी परम्परा इस नामकरण का देवशास्त्रीय कारण व्याख्यायित करती है। मार्कण्डेय पुराण की दुर्गा-सप्तशती के अनुसार देवगण शुम्भ एवं निशुम्भ नामक दानवों से त्रस्त होकर हिमालय गए एवं वहाँ उन्होंने विष्णुमाया का स्तवन किया-

हृताधिकारास्त्रिदशास्ताभ्यां सर्वे निराकृताः।

महासुराभ्यां तां देवीं संस्मरन्त्यपराजिताम्॥

तथास्माकं वरो दत्तो यथापत्सु स्मृताखिलाः॥

भवतां नाशयिष्यामि तत्क्षणात्परमापदः।

इति कृत्वा मतिं देवा हिमवन्तं नगेश्वरम्॥

जग्मुस्तत्र ततो देवीं विष्णुमायां प्रतुष्टुवुः॥

(दुर्गासप्तशती ५/५-७)

देवगण जब स्तवन कर रहे थे तब भगवती पार्वती जाह्नवी जल में स्नानार्थ पधारीं। पार्वती ने देवताओं से पूछा-हे देवगण तुम लोग किसकी स्तुति कर रहे हो? तभी

उनके शरीर के कोश या आवरण से देवी प्रकट हुई एवं पार्वती से बताया, हे देवि! ये सभी शुम्भ निशुम्भ से त्रस्त हैं एवं मेरी स्तुति कर रहे हैं। क्योंकि वह आम्बिका प्रकट हुई थी। अतः उसे लोक में कौशिकी नाम से जाना जाता है।

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्वती।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्या नृपनन्दन॥

साब्रवीत्तान् सुरान् सूभ्रूर्भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का।
शरीरकोशतश्चास्याः समुद्भूताब्रवीच्छिवा॥

स्तोत्रं ममैतत् क्रियते शुम्भदैत्यनिराकृतैः।
दैवैः समेतैः समरे निशुम्भेन पराजितैः॥

शरीरकोशाद्यत्तस्याः पार्वत्या निःसृताम्बिका।
कौशिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते॥

(दुर्गासप्तशती ५/८४-८७)

शिव पुराण (वायवीय संहिता २५/१-३९ पूर्वा०) में भी इसी प्रकार की कथा किञ्चित् अन्तर से वर्णित है–

शिव से विवाह की इच्छा से उमा ने घोर तप किया। ब्रह्मा ने उपस्थित होकर तप का हेतु पूछा। देवी ने कहा कि मेरा वर्ण कृष्ण हो गया है, मैं अपने पूर्व रूप में होकर शिव को प्राप्त करना चाहती हूँ। ब्रह्मा ने कहा देवि यह तो आपकी इच्छा मात्र से साध्य है। एवं ब्रह्मा ने वर्ण परिवर्तन की विधि भी बताई। उन्होंने कहा, हे उमा, शुम्भ एवं निशुम्भ नामक दानवों का अत्याचार अत्यधिक बढ़ गया है। उनके वध के लिए आप अपनी शक्ति का विकेन्द्रण करें। उसी से उनकी मृत्यु होगी। देवी ने अपने कृष्ण वर्ण की त्वचा को उत्सर्जित किया। उस कोश से काले मेघ के समान वर्ण वाली कन्या उत्पन्न हुई। एवं पार्वती स्वयं गौरवर्ण की हो गईं। उमा के त्वक्कोश से उत्पन्न देवी की कौशिकी कही जाती है।

मार्कण्डेय पुराण एवं शिव पुराण के वर्णनों में एक मौलिक अन्तर इस प्रकार भी है। **मार्कण्डेय पुराण** की कौशिकी देवी स्वयं अत्यन्त सुन्दरी हैं एवं उनके उत्पन्न

होने के पश्चात् पार्वती का शरीर कृष्ण वर्ण का हो गया जबकि **शिव पुराण** की कौशिकी कृष्णवर्णा उत्पन्न हुईं एवं पार्वती का रूप परिवर्तित होकर गौर वर्ण हो गया।

तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत्सापि पार्वती।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया।।

ततोऽम्बिकां परं रूपं बिभ्राणां सुमनोहरम्।
(दु० सप्त० ५/८८-८९ पू०)

काली कालाम्बुदप्रख्यया कन्यका समपद्यत। (शि० वाय० २५/३ पू०)

वायु पुराण (अ० ८६) एवं **मत्स्य पुराण** (अ० १५७) में भी उमा के तत्पश्चर्या काल में ही शुम्भ निशुम्भवधार्थ कौशिकी के उद्‌भव एवं नामकरण का वर्णन है। वामन पुराण में उक्त दोनों कथाओं का लगभग सम्मिश्रित रूप में वर्णन है–

शिव ने उमा को परिहास में काली कहा। उमा को क्रोध आ गया एवं वे कृष्णवर्णा हो गईं। उस वर्ण को समाप्त करने के लिए उमा ने तप किया एवं ब्रह्मा ने उन्हें पूर्व वर्ण प्राप्त करने का वर दिया। देवी ने कृष्णवर्णवाला अपना शरीरकोश त्याग दिया एवं पूर्ववत् गौर वर्ण प्राप्त किया। उस कोश से उत्पन्न देवी को सहस्राक्ष इन्द्र ने ग्रहण किया एवं उन्हें विन्ध्याचल में लेपकर प्रतिष्ठित कर दिया।' (वामन २८/१५-२७)

पुराणों में हिमालय से निकलने वाली कौशिकी (आधुनिक कोसी) नदी का वर्णन है (महाभा० आदि० २१५/७, वन० ८४/१३२; मत्स्य २२/६३, ११४/२२, वा.रामा० १/३४/७-९, वाम० ७८/५, ९०२, वायु० ४५/९४, ९९/८५-८८; १०८/८१) वामन पुराण (५४/२२-२४) का वचन है कि इस नदी के तट पर ही उमा पार्वती ने अपना कृष्ण कोश त्यागा था। अत: इस नदी का नाम की कौशिकी हो गया।

कौशिकी नामकरण का तृतीय हेतु देवी का 'वस्त्र' विशेष धारण करना है। **हरिवंश** (२/२) में एवं **महाभारत** (भीष्म २३) में कौशिकी को रेशमी वस्त्र धारण करने वाली कहा गया है (इस वस्त्र का वर्ण क्रमश: नीला नीलकौशेयधारिणी एवं पीला 'कौशिकी पीतवासिनी' बताया गया है)। देवी पुराण में कहा गया है-क्योंकि देवी कौशेय वस्त्र धारण करतीं हैं। इसीलिए उन्हें कौशिकी कहा जाता है–

कौशेयधारणाद्वापि सुप्रसादाथ कौशिकी।। देवी० ३७/१९

मत्स्यपुराण (१५७/१४ उत्त०) में भी कौशिकी को पीतकौशेयधारिणी कहा गया है। नामकरण के इन तीनों प्रसंगों में प्रथम एवं अन्तिम देवी की स्थापित मूर्ति से सम्बद्ध आख्यानों से प्रभावित है। एवं द्वितीय कन्यारूपिणी कौशिकी एवं शिव पत्नी उमा के देवशास्त्रीय ऐक्य को प्रकट करता है। कौशिकी नदी का नामकरण इस कौशिकी के उमा के कोश से उत्पन्न होने की कथा से जोड़ा जाना इस कथा की प्रसिद्धि का द्योतक है। सम्भवत: उमा एवं विन्ध्यवासिनी के देवशास्त्रीय स्तर पर ऐक्य स्थापित करने की यह कथा लोक में अधिक प्रचलित थी। यही कारण है कि **हरिवंश** एवं **विष्णुपुराण** के अतिरिक्त **वामन, वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय** आदि प्राचीनतम पुराणों में इसी कथा को दोहराया गया है।

मत्स्य पुराण (१५७ अ०) में इसे रात्रि का दैवीकृत रूप कहा गया है। उसके अनुसार रात्रि ब्रह्मा के कथन पर पार्वती के शरीर में प्रवेश कर गईं थीं। एवं पुन: पार्वती के कोश से रात्रि देवी ही कौशिकी रूप में प्रकट हुईं थीं।

इस देवी के मौलिक स्वरूप के विषय में स्थिति एकदम स्पष्ट है, मार्कण्डेय (सप्त० ५) वायु (८ अ०), मत्स्य (१५५ अ०), हरिवंश (२/२, ३) विष्णु (५/१/७८-८१), शिवपुराण (वाय० २५) आदि महापुराणों से लेकर कालिका पुराण (अ० ६१) तक एक स्वर से कौशिकी को योगमाया अथवा विष्णुमाया के रूप में वर्णित किया गया है। कालिका पुराण स्पष्ट रूप से कहता है कि 'महामाया योगनिद्रा मूलप्रकृतिरूपा है। कौशिकी देवी उसी मूलप्रकृति की प्राणभूता मूर्ति है'।

योगनिद्रा महामाया या मूल प्रकृतिर्मता।
तस्या प्राणस्वरूपेयं देवीया कौशिकी स्मृता।।

कालिकापु० ६१/७३-७४

योगनिद्रा वैष्णवी शक्ति की अभिव्यक्ति हैं। कौशिकी के इनके साथ आरम्भ से ही तादात्म्य होने के कारण इनके कन्यात्व को सभी आख्यानों में अक्षुण्ण रखा गया है। यही हेतु उपर्युक्त नामकरण हेतुओं में भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु देवी पुराण में इनका जो स्वरूप उपलब्ध है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि कौशिकी नामकरण में लक्ष्मी के मूर्ति विकास का संप्रत्यय भी सम्मिलित है। देवी पुराण में लिखा कि कौशिकी देवी का वाहन कौशिक अथवा उल्लू है–

'कौशिकीं कौशिकारूढां' (देवी० ५०/१६७ पू०) यही वाहन लक्ष्मी का भी है। किन्तु योगनिद्रा दुर्गा एवं कन्या हैं। अत: कौशिकी कन्याभाव में सिंहवाहिनी ही कही गई

हैं। लक्ष्मी के संप्रत्यय भी सम्पृक्तता का भाव कौशिकी पीतवासिनी (महा० भी० २३/८) एवं **'कौशेयधारणात्'** (देवी ३७/१८) **'वसाना मेचकं क्षौमं पीतेनोत्तरवाससा'** (हरि० २/२/४४)। एकानंशा का **'रुक्माम्बुजकरा'** होना विन्ध्यवासिनी का **'सौवर्णाम्बुज मध्यगा'** होना लक्ष्मी के पूर्व-संप्रत्यय का संकेत कहा जा सकता है। महालक्ष्मी को सप्तशती में महिषसंहन्त्री महासरस्वती को शुम्भनिशुम्भमथिनी के रूप में चित्रित किया गया है। ये दोनों देवियाँ एक ही तत्त्व का नामान्तरण मात्र हैं। पार्वती के कोश से उत्पन्न कौशिकी ही प्राचीन एकानंशा थीं। यह **मत्स्य पुराण** (१५७/१६) का वर्णन है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कौशिकी का पौराणिक संप्रत्यय विकसित देवशास्त्र से अनुप्राणित है। कौशिकी का स्थान विन्ध्याचल है (स ते विन्ध्ये नगश्रेष्ठे स्थानं दास्यति शाश्वतम्-हरि०-२/२, **'सहस्राक्षोऽपि तां गृह्य विन्ध्यं वेगाज्जगाम ह-वामन** २८/२६; **उमा नाम्ना तस्याः सा कोशाज्जाता तु कौशिकी। सम्भूय विन्ध्यं गत्वा च भूयो भूतगणैर्वृता॥** वाम० २१/३-४; **विन्ध्ये च वसतिं तस्याः पूजामासव पूर्वकैः** शिव० वा० २५/४४)। एवं **विन्ध्यमाहात्म्य** (२६ अ०) में विन्ध्यवासिनी को महालक्ष्मी कहा गया है। महापदोपलक्षित देवियाँ महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती तीनों ही कुमारियाँ एवं वैष्णवी शक्ति प्रधाना हैं। यह तथ्य **दुर्गा सप्तशती** पूर्ण स्पष्टता के साथ वर्णित करती है।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कौशिकी देवी लक्ष्मी के पौराणिक विकास का पूर्ण रूप है। वामन पुराण में कौशिकी को कात्यायनी नाम से पुकारा गया है—

> **कोशं कृष्णं परित्यज्य पद्मकिञ्जल्कसन्निभा।**
> **तस्मात् कोशाच्च संजाता भूयः कात्यायनी मुने।**
> **तामभ्येत्य सहस्राक्षः प्रतिजग्राह दक्षिणाम्॥**
>
> (वामन० २८/२३-२४)

नामकरण के इस विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि कौशिकी देवी मूलतः विन्ध्यवासिनी एवं एकानंशा के सम्प्रत्यय से विकसित पौराणिक महालक्ष्मी का पूर्व शाक्त रूप हैं।

कौशिकी का मूर्तन

इस देवी की उत्पत्ति एवं स्वरूप विवेचन के पौराणिक विवरणों में इनके विन्ध्यवासिनी दुर्गा के प्राथमिक स्वरूप का दर्शन होता है। **मत्स्य पुराण** का उल्लेख है कि कौशिकी के प्रकट होने से पूर्व पार्वती के क्रोध से एक सिंह की उत्पत्ति हुई थी। जब पार्वती के शरीर में समाई रात्रि ब्रह्मा के वरदान के कारण कौशिकी रूप में प्रकट हुईं तब

ब्रह्मा ने उसी सिंह को देवी कौशिकी के वाहन के रूप में प्रदान कर दिया एवं विन्ध्याचल में स्थित होकर देवताओं का कार्य करने के लिए प्रस्थित कर दिया। पार्वती के देह से उत्पन्न होने वाली यह देवी अत्यन्त देदीप्यमान हाथ में घण्टा लिए हुए एवं तीन नेत्रों वाली थी इसने अनेक प्रकार के आभूषण धारण किया था एवं पीतवर्ण का रेशमी वस्त्र पहना था। देवी का वर्ण काले मेघ के समान कान्तिमान था। ब्रह्मा ने इसे पाञ्चाल नामक सैकड़ों प्रकार के मायावी शक्तियों से युक्त यक्ष को दास के रूप में दिया! उस यक्ष के साथ लांखों अन्य पक्ष भी थे।

त्वचा सा चाभवद्दीप्ता घण्टाहस्ता त्रिलोचना।
नानाभरण पूर्णाङ्गी पीतकौशेयधारिणी।।

तामब्रवीत्ततो ब्रह्मा देवी नीलाम्बुजत्विषम्।।

य एष सिंहः प्रोद्भूतो देव्याः क्रोधाद् वरानने।
स तेऽस्तु वाहनं देवि केतौ चास्तु महाबलः।
पाञ्चालो नाम यक्षेऽयं यक्षलक्ष पदानुगः।।

दत्तस्ते किंकरो देवि मया माया शतैर्युतः।। (मत्स्य, १५७/१४-१५, १७-१८)

लाखों यक्षों का कौशिकी का दास होना विन्ध्यवासिनी के **'कृतानुयात्राभूतैस्त्वं' 'कीर्णाभूतगणैर्घोरैः'** एवं **'सगणा सा चचार ह'** आदि महाभारत एवं हरिवंश के वर्णनों का स्मरण कराता है। आद्याशक्ति विन्ध्यवासिनी से तादात्म्यापन्ना कौशिकी के स्वरूप का सर्वाधिक सुन्दर एवं दार्शनिक वर्णन शिवपुराण में प्राप्त होता है–

पार्वती के त्वचाकोश से उत्पन्न देवी कालमेघ के समान वर्णवाली कन्या थी। वह देवी मायास्वरूपिणी वैष्णवी शक्ति योगनिद्रा थी। उसने शंख चक्र त्रिशूल आदि अनेक आयुध धारण कर रखा था। उसकी आठ भुजाएँ थीं। इस देवी के ३ प्रकार के पृथक् पृथक् स्वरूप थे-सौम्य, घोर या भयानक, एवं मिश्रित। तीनों नेत्रों वाली इस देवी के माथे पर चन्द्रमा सुशोभित हो रहे थे। यह देवी पूर्ण कुमारी थी। किसी भी पुरुष के स्पर्श रति आदि का इसे कोई ज्ञान नहीं था। साथ ही अत्यन्त सुन्दरी भी थी। उस देवी को देखकर ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न सुन्दरी भी थी। उस देवी को देखकर ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं उसे वाहन के रूप में सिंह प्रदान किया। इस देवी का निवास स्थान विन्ध्याचल में था एवं

इसकी पूजा मद्य मांस मत्स्य एवं पुये के नैवेद्य से होती थी। उस देवी ने ब्रह्मा एवं गौरी को प्रणाम करके अपने ही शरीर से उत्पन्न ही समान शक्तियों वाली कन्याओं के साथ अपने वास स्थान विन्ध्याचल की ओर प्रस्थान किया।

"काली कालाम्बुदप्रख्या कन्यका समपद्यत।
सा तु मायात्मिका शक्तिर्योगनिद्रा च वैष्णवी॥

शंखचक्रत्रिशूलादि सायुधाष्टमहाभुजा।
सौम्या घोरा च मिश्रा च त्रिनेत्रा चन्द्रशेखर॥

अजातपुंरस्पर्शरतिरधृष्या चाति सुन्दरी।
ब्रह्मणापि प्रहृष्टेन तस्यै परमशक्तये॥

प्रबलः केसी दत्तो वाहनत्वे समागतः।
विन्ध्ये च वसतिं तस्याः पूजामासवपूर्वकैः।
मांसैर्मत्स्यैरपूपैश्च निर्वर्त्यासौ समादिशत्॥

सा चैव सम्मता शक्तिर्ब्रह्मणो विश्वकर्मणः।
प्रणम्यमातरं गौरीं ब्रह्माणं चानुपूर्वशः॥

शक्तिभिश्चापि तुल्याभिः स्वात्मजाभिरनेकशः।
परीता प्रययौ विन्ध्यं दैत्येन्द्रौ हन्तुमुद्यता॥"

(शिव० पु० वाय० सं २५/३९-४६)

इस कथा में कौशिकी को त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सांख्य सिद्धान्त के अनुरूप सौम्या घोरा मिश्रा रूप में एक तत्त्व को तीन रूपों में वर्णित किया गया है। जो पौराणिक दर्शन के विकसित अवस्था की देन है। देवी पुराण कौशिकी देवी के लोक स्वीकृत रूप को अधिक स्पष्ट करता है। इसके अनुसार कौशिकी देवी उल्लू पर आसीन हैं, काले वर्णों वाली हैं, कपालधारण करती हैं, कर्तरी मुण्ड एवं त्रिशूल धारण करती हैं, बलि-मांस एवं भात का आहार करतीं हैं, कृष्णगन्धपुष्प की माला इन्हें विशेष प्रिय है। काला अगुरु का होम करने पर ये देवी भय का नाश करती हैं।

कौशिकीं कौशिकीरूपं कृष्णवर्णां कपालिनीम्।
कर्तृकां मुण्डहस्तां च त्रिशूलकरभास्वरम्।।
बलिमांसोदनाहारां कृष्णगन्धस्त्रजप्रियाम्।
तुरुष्कागुरुहोमेन विकारि भयनाशनम्।।

(देवी ५०/१६७-१६८)

कूर्म पुराण कौशिकी को रात्रि संबोधन भी देता है एवं उनका स्वरूप बताते हुए उनके दुर्गा रूप को भी व्यक्त करता है–

विचित्ररत्नमुकुटा प्रणतार्ति प्रभञ्जिनी।
कौषिकी कर्षिणी रात्रिस्त्रिदशार्ति विनाशिनी।।

(कूर्म० १/११/११६)

कालिका पुराण इस देवी के शाक्त परम्परानुकूल मूर्ति विज्ञान का वर्णन करता है– देवी के घने केश सँवरे हुए हैं। केश के अन्तिम हिस्से या जड़ में तथा माथे के ऊपरी भाग में चन्द्रमा की अमावास्या की कला धारण किए हुए हैं। मणिनिर्मित कुण्ड कपोलों से सटे हुए हैं। मस्तक पर मुकुट सुशोभित है। कर्णपूर आभूषण की चमक कानों को भी प्रकाशित किये हुए स्वनाम सार्थक है। सुवर्ण का बना मणि माणिक्य जटित हार तथा नागहार गले में धारण किए हुए हैं। गले में कभी न मुर्झाने वाले पद्म की माला सुशोभित है। रत्नों का केयूर अपनी बिसलता की भाँति सुष्ठु भुजाओं में प्रकाशमान है। उन्नत पयोधरों पर कञ्चुक है। कटि क्षीण है। पीले वर्ण का वस्त्र धारण किए हैं, एवं त्रिवली चारुता बढ़ा रही है। शूल, वज्र, बाण, खड्ग, शक्ति दाहिनी भुजाओं में तथा गदा, घण्टा, धनुष चर्म एवं शंख बाईं शंख बाईं भुजाओं में ऊपर के क्रम से धारण किए हुए हैं सिंह पर व्याघ्रचर्म विस्तृत करके कौशिकी आसीन होती हैं।

धम्मिलसंयतकचां विधोश्चाधोमुखीं कलाम्।
केशान्ते तिलकस्योर्ध्वे दधती सुमनोहरा।।

मणिकुण्डलसंघृष्टगण्डा मुकुटमण्डिता।
सज्ज्योतिः कर्णपूराभ्यां कर्णमापूर्य संगता।।

सुवर्णमणिमाणिक्य नागहारविराजिता।
सदा सुगन्धिभिः पद्मैरम्लानैरतिसुन्दरी।।

मालां बिभर्ति ग्रीवायां रत्नकेयूरधारिणी।
मृणालायतवृत्तैस्तु बाहुभिः कोमलैः शुभैः॥

राजन्ती कञ्चुकोपेतपीनोन्नतपयोधरा।
क्षीणमध्या पीतवस्त्रा त्रिवलीप्रख्यभूषिता॥

शूलं वज्रं च बाणं च खड्गं शक्तिस्तथैव च।
दक्षिणैः पाणिभिर्देवी गृहीत्वा तु विराजिता॥

गदां घण्टां च चापं च चर्मशंखं तथैव च।
ऊर्ध्वादिक्रमतो देवी दधती वामपाणिमिः॥

सिंहस्योपरि तिष्ठन्ती व्याघ्रचर्मणि कौशिकी।
बिभ्रती रूपमतुलं रूपं सुरासुरमोहनम्॥

(का० पु० ६१/७८-८५)

शुम्भ-निशुम्भ-बध

पिछली पंक्तियों में बताया गया है कि कौशिकी की उत्पत्ति **मार्कण्डेय, मत्स्य, वामन, वायु** आदि प्राचीन पुराणों में शुम्भ निशुम्भ के वध के लिए कहा गया है। **हरिवंश** एवं **विष्णु पुराण** में यही तथ्य पुनरुक्त है। 'त्वं च शुम्भनिशुम्भादीन् हत्वा दैत्यान् सहस्रशः' (वि० पु० ५/१/८०-८२ हरिवंश २/२/५९ में 'सुम्भनिसुम्भ' पाठ है यही पाठ बालचरित अंक २/१८ में भी प्राप्त होता है।)।

सप्तशती में वर्णन है कि शुम्भ निशुम्भ के अत्याचार से देवताओं को मुक्त करने के लिए वैष्णवी शक्ति ने पार्वती के देह से जन्म लिया। (अ०५) शुम्भनिशुम्भ दानवों का वध हो जाने के उपरान्त देवताओं दानवहन्त्री देवी की स्तुति करने के लिए जब गाए तब देवी को कात्यायनी नाम से संम्बोधित किया गया है–

देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे
सेन्द्राः सुरा वह्निपुरोगमास्ताम्।
कात्यायनीं तुष्टुवुरिष्टलाभाद्
विकाशिवक्त्राब्ज विकासिताशाः॥ (सप्त० ११/१)

इसी अध्याय के ४ थे श्लोक में कात्यायनी को ही अनन्तशक्तिमयी वैष्णवी शक्ति भी कहा गया है।

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया।।

श्लोक ५ से २२ तक प्रत्येक श्लोक के अन्त में देवी को नारायणी पद से अभिहित किया गया है। **बालचरित** (२/१८) में कात्यायनी को महिषासुर एवं शुम्भ-निशुम्भ दोनों की हन्त्री के रूप में भास वर्णन करते हैं (सुम्भं निसुम्भ महिषं च हत्वा')। **वामन पुराण** अ० १८ एवं ५० में कात्यायनी एवं कौशिकी को भिन्न-भिन्न कालों एवं अवसरों पर उत्पन्न बताया गया है किन्तु दोनों ही देवी रूपों में शक्ति ने विन्ध्याचल में ही महिषासुर एवं शुम्भनिशुम्भ का वध किया था (वही १८-२८, ५०)। सप्तशती (११/४१-२) के अनुसार यशोदा के घर उत्पन्न होकर देवी ने पुनः वैवस्वतमन्वन्तर में उत्पन्न होने वाले शुम्भनिशुम्भ का संहार किया था।

वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतितमे युगे।
शुम्भो निशुम्भश्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ।।

नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी।।

सप्तशती में इन दैत्यों का वध हिमालय में बताया गया है। **वामन** में उसी क्रम से चण्डमुण्ड के ही दौत्य कर्म से विन्ध्याचल में युद्ध का वर्णन है। हरिवंश की निद्रास्तुति में इन्हें केवल **'नगचारिणौ'** कहा गया है। **वामन पुराण** के ही पूर्व उद्धृत (२८/२४) श्लोक में कात्यायनी भी कौशिकी हैं। इन विवरणों से ऐसा संकेत मिलता है कि कौशिकी का सम्प्रत्यायन दुर्गा विन्ध्यवासिनी के वैष्णवीकरण की प्रक्रिया का प्रथम चरण था। जो एकानंशा, सुभद्रा एवं विमला के रूप में पाञ्चरात्रतन्त्रों एवं वैष्णव पुराणों में विकसित हुआ। मूलतः शुम्भनिशुम्भ की कथा का भी सम्बन्ध दुर्गा के साथ ही था। वैष्णव पुराणों में शुम्भनिशुम्भवध यशोदा की कन्या द्वारा निरूपित होना एवं सप्तशती में इस कथा को कल्पान्तर की पुनर्घटना बताया जाना प्राचीन शाक्तदेवी को पुनर्विज्ञापित करने की प्रक्रिया का द्योतक है।

अध्याय पञ्चम

विन्ध्यवासिनी एवं विन्ध्यक्षेत्र

विन्ध्याचल से सम्बन्ध

देवी पुराण में भारत के प्रारम्भिक प्राचीन शाक्त प्राचीनतीर्थस्थतियों की सूची दी गई है। इस सूची में १० पर्वतों के नाम हैं। यथा-मलय, सत्य, विन्ध्य, हिमालय, अर्बुद, चित्र, गोप, नर, काल एवं नीच पर्वत। इनके साथ ८ देशों या प्रान्तों के नाम उल्लिखित हैं। यथा- लङ्का, ओड्रदेश, स्त्रीराज्य, काशिकावन, कामरूप, काञ्ची, चम्मा एवं विदिशा। इस भी स्थानों पर मातृकाओं की पूजा होती थी। ये माताएँ विभिन्न देवियाँ थीं। ये देवियाँ लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार की कामनाओं से पूजी जातीं थीं। इनमें विन्ध्यपर्वत के गङ्गातट पर स्थित देवी के पूजन को सर्वातिशयी घोषित किया गया है। इस देवी को यह पुराण सभीकामनाओं को पूरी करने वाली कहता है।

स्थाने स्थाने भविष्यन्ति दृष्टादृष्टप्रसाधिकाः।
मलये सह्ये विन्ध्ये च हिमत्यर्बुदादिषुः।।

चित्रेगोपे नरे काले नीचाख्ये पर्वत तथा।
लङ्कयाञ्चोड्रदेशे च स्त्रीराज्ये काशिका वने।।

कामरूपे तथा काञ्च्यां चम्पायां चाथ वैदिशे ।
दृष्टादृष्टफलार्थिभिः पूजनीयास्तु मातरः।।

गङ्गातीरेऽथवा विन्ध्ये सर्वकामफलप्रदा।। देवी. ९।३.७

एक प्रकरण में पुराण ने सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाली ५ देवियों का नाम लिया है। यथा-गौरी, मेधा, यक्षी, ज्वालास्या एवं विन्ध्यवासिनी।

गौरी मेधा यथा यक्षी, ज्वालास्या, विन्ध्यवासिनी।
पूजिता संस्तुता ब्रह्मन् सर्वकामफलप्रदा।।

देवी पूजन के लिए दो नदियों की भी महत्ता की स्वीकृति यह पुराण देता है वे नदियाँ हैं गंगा एवं नर्मदा। इनके साथ ३ स्थानों यथा विन्ध्याद्रि उज्जयनी एवं अर्बुदाचल को पुनः उपस्थापित करता है।

गंगानर्मदाविन्ध्यादिमुज्जयिन्यामथार्बुदे।। दे. २३/३

विन्ध्य गंगा संगम को मत्स्य पुराण ने पितृतीर्थों के प्ररूप में पवित्र स्थल माना है। क्योकि यह स्थल पितरों को मुक्त करता है। अतः इस तीर्थ को वह 'संसार-मोचन' तीर्थ की संज्ञा देता है-

विन्ध्ययोगे गङ्गाया स्तथा (नन्दा?) नदीतटं शुभम्।
संसार मोचनं तीर्थं तथैव ऋणमोचनम्।। (मतय २२।६६-६७)

स्नान तीर्थ की दृष्टि से भी मत्स्य पुराण विन्ध्यगंगासंगम को अति पवित्र मानता है एवं कुरुक्षेत्र में स्नान की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली मानता है।

कुरुक्षेत्रद्दशगुणा यत्र विन्ध्येन संगता।। (मत्स्य १०७। १०८।४८)

सम्भवतः विन्ध्यगंगा संगम के तीर्थत्व के कारण विन्ध्यवन की अधिष्ठातृ देवी दुर्गा अथवा विन्ध्यवासिनी की प्रधान पूजा स्थली इस स्थान पर अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकृत हुई देवी पुराण का कथन है कि विन्ध्यवासिनी देवी घोर के बध के लिए बिन्ध्यपर्वत पर अवतरित हुईं थीं। एवं आज भी उनका निवास विन्ध्याचल में ही है। इसी कारण उन्हें विन्ध्यवासिनी कहा जाता है। भविष्य पुराण (अ.१३८.) उत्तरपर्व का मत है कि विन्ध्यवासिनी की पूजा तो अनादि है किन्तु कृष्ण की रक्षा के लिए यशोदा के गर्भ से अवतरित होने पर इस देवी को कृष्ण की बहन होने की महिमा प्राप्त है एवं कृष्ण की बहन के रूप में इनकी पूजा पुनः प्रवर्तित हुई।

विन्ध्येऽवतीर्य देवार्थं हतो घोरो महाभटः
अद्यापि तत्र सा वासा तेन सा विन्ध्यवासिनी।। दे० ३७। १०-११

ततः प्रभृतिलोकेषु यशोदानन्ददयिनीम्
विन्ध्याचले स्थापयित्वा पुनः पूजा प्रवार्तिता।

पूर्व प्रवृद्धोऽपि पुनर्भगिन्या महिमाकृतः।।
भुवि सर्वोपकाराय सर्वोपद्रव शान्तये।। (भवि. उ. २५-२६)

विन्ध्यवन से देवी के अनेक अवतारों का सम्बन्ध है। जिनमें पौराणिक साहित्य में मुख्यतः कौशिकी, कात्यायनी, एकानंशा योगनिद्रा एवं महिष मर्दिनी नामों को बिन्ध्यवासिनी से अभिन्न माना गया है- **गच्छ विन्ध्याचलं तत्र सुर कार्यं करिष्यति। इत्युक्ता कौशिकी देवी विन्ध्यशैलं जगाम ह।। मत्स्य १५७।१७ एवं १९। ''ततस्तु तां तत्र तदावसन्तीं कात्यायनीं शैल वस्य शृंगे। वाम० १९/१। सा विन्ध्यवासिनी विष्णोरनुजा बरदेश्वरी।। देवी भा० १०।२/६ उत्त० या सा आद्या परा शक्तिर्योगनिद्रा महात्मनाम्। सातु सिंहं समारुह्य विन्ध्ये क्रीडनतां ययौ।। देवी० ७।२०** शिव चरित एवं प्राणतोषिणी तन्त्रों में सती की कथा के माध्यम से विकासित होनं शाक्त पीठों में विन्ध्यवासिनी का उल्लेख है। एवं इस विन्ध्यवासिनी का प्रत्यभिज्ञान दिनेश चन्द्र सरकार वर्तमान विन्ध्यवासिनी देवी के रूप में करते हैं। यही उचित भी है। मत्स्य पुराण के शाक्ति पीठों की सूची में विन्ध्याचल की दो देवियों का उल्लेख है। प्रथम विन्ध्याधिवासिनी (य० १३।३९।) एवं द्वितीय अमृता (य० १३/१४) अमृता को विन्ध्यकन्दर में स्थित बताया गया है। देवी पुराण में शाक्त पीठों की कोई सूची प्रथम नही दी गई है। किन्तु मूल एवं घोरहन्त्री विन्ध्यवासिनी को **'विन्ध्यावटी'** (देवी ४४।११) देवी के नाम से उल्लेख प्राप्त होता है।

मूलरूप से विन्ध्यवासिनी की पूजा महिषमर्दिनी के रूप में होती रही है। योगनिद्रा या एकानंशा के साथ तादात्मय के कारण शुम्भ निशुम्भ एवं मधुकैटभ की कथा के साथ भी इस देवी का सम्बन्ध हैं। सम्भवतः यही कारण है कि महिष बध के अधिकाशं पौराणिक कथाओं में देवी एवं दैत्यों के मध्य हुए युद्ध को विन्ध्याचल के आसपास के प्रदेशों में ही बताया गया है। स्कंन्द पुराण (माहेश्वर खण्ड अरुणाचल माहात्म्य अ० १९. २०) की महिष सुर की नाशयित्री देवी विन्ध्यवासिनी ही कही गई है। उन्होंने उमा की सहायता क्रे लिए वहाँ जाकर महिषासुर का एवं उसकी सेना का बध किया था। इस प्रकरणप मं पुराण स्पष्ट रूप से विन्ध्याचल के विन्ध्यवासिनी के मूल निवास के रूप में स्वीकार करता है। पुराण कहता है कि 'हे बिन्ध्यवासिनी! ऐसा प्रतीत होता है कि बिन्ध्य पर्वत ने कोई महान् तप किया था। इसी कारण तुम उसे प्राप्त हुई एवं किरतियों को भी सहज ही तुम्हारी मैत्री या सान्निध्य प्राप्त हो गया।

यद्यपि विन्ध्वासिनी के मूल पूजा स्थल के रूप में विन्ध्याचल के गङ्गातट के निकट के ऊचे प्रस्तर खण्ड पर है। तथापि इस नगर में अन्य देवी मन्दिरों की भी मध्यकाल में स्थापना हुई थीं उनमें कुछ कलात्मक भी थे जिनके अवशेष मिलते हैं। साथ ही विन्ध्यवन के अन्य भागों में देवी मन्दिर हैं। बाँदा के गिरवाँ गाँव में भी विन्ध्यवासिनी का मन्दिर बना है। अत: यह प्रासंगिक है कि विन्ध्यावासिनी के पूजन स्थली से सम्बद्ध कुछ तथ्य स्मरण में लाए जाएँ।

विन्ध्यावासिनी के इस मन्दिर का उल्लेख सर्वप्रथम 'गउडवहो' में प्राप्त होता है। यशोवर्मन् बंगाल विजय के पश्चात मीरजापुर के निकट की शोण (आधुनिक सोन) नदी पर करके विन्ध्य क्षेत्र में स्थित विन्ध्यवासिनी के मन्दिर मे आया था। शोण पार करने पर विन्ध्यावासिनी का यही मन्दिर उपलब्ध होता है। कल्हण की राजतरंगिणी (३।३९४-४३१) में रणादित्य के पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णित है। इसके अनुसार वह विन्ध्य में स्थित भ्रभर वासिनी के मन्दिर में बड़ी कठिनाई से पहुँचा था। भ्रमरवासिनी के मन्दिर में असंख्य भ्रमर रहा करते थे। एवं यह देवी अबन्ध्य दर्शना (३९४ श्लोक) थी। विन्ध्यावासिनी के मन्दिर में भ्रमरावली का वर्णन गउडवहो (गाथा २७८ **भमरावलियो भइरवि तुज्झं भवणाइराम्भि सामोए**) में भी किया गया है। विन्ध्य पर्वत के अन्य देवी स्थलों से विन्ध्यावासिनी के स्थान को मत्स्य पुराण की सूची स्पष्टतया पृथक् करती है-

चित्रकूटे तथा सीता विन्ध्ये विन्ध्यावासिनी॥ मत्स्य १३।३८

यद्यपि चित्रकूट भी विन्ध्य की ही श्रेणी में है किन्तु पुराणकार ने चित्रकूट की सीता का वर्णन करने के पश्चात् विन्ध्याचल में स्थित विन्ध्यवासिनी का वर्णन किया है। विन्ध्यमाहात्म्य विन्ध्याचल में स्थित विन्ध्यवासिनी, अष्टभुजा एवं महाकाली तीनों देवियों को क्रमश: महालक्ष्मी महासरस्वती एवं महाकाली रूप में वर्णित करता है। साथ ही इन तीनों देवियों के विन्ध्यवासिनी शब्द का ही प्रयोग करता है (अ० २६) किन्तु इसका निराकरण बृहन्नीलतन्त्र (लगभग १७ वीं शती) के इस श्लोक-**'संगमे विन्ध्यगंगायां विन्ध्ये श्रीर्विन्ध्यवासिनी॥** से हो जाता है। श्लोक में प्रयुक्त श्री: पद से स्पष्ट है कि जिस देवीं को विन्ध्यमाहात्म्य में महालक्ष्मी पद से सम्बोधित किया गया है वही तन्त्रकार को विन्ध्यवासिनी के रूप में अभिप्रेत है। १७ वीं शती में भास्कराचार्य ने सप्तशती की गुप्तवती नाम्नी टीका लिखी थी। उनके काल में भी विन्ध्याचल में उक्त तीनों देवियों की पूजा होती थी। सप्तशती के १२/३८ की टीका में उन्होंने विन्ध्यवासिनी के मूल स्थान को

स्पष्ट रूप से बताया है कि विन्ध्यवासिनी का मूल स्थान विन्ध्याचल में है वहाँ पर भी जो देवी गङ्गातट पर प्रतिष्ठित है वह विन्ध्यवासिनी है **(विन्ध्याचले तत्रापि गङ्गातीरे)।** इस स्थान के विषय में देवी पुराण में इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। (देवी. ९।७ उ०) इन साक्ष्यों के आलोक में विन्ध्यवासिनी के प्रधान पीठ के प्रति किसी प्रकार भी विचिकित्सा नहीं होती। शक्ति सम्प्रदाय में त्रिकोण का महत्त्व सदा से था एवं शक्ति के तीन रूपों को स्वीकार किया जाता रहा है। अत: इस शक्ति पीठ में त्रिकोण के क्षेत्र में तीन देवियों की पूजा होना परम्परा सम्मत है एवं शक्ति के एकत्व के कारण विन्ध्यमाहात्म्य में इन तीनों भिन्न रूपों वाली देवियों के लिए विन्ध्यवासिनी पद का प्रयोग तात्त्विक ऐंक्य के कारण किया गया है। भविष्य पुराण (२।३४।७-८) के अनुसार कात्यायन एवं पतञ्जलि ने विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में जाकर उनकी पूजा एवं स्तोत्र पाठ किया था। इस पौराणिक श्लोक का संकेत विन्ध्याचल के मन्दिर के प्रति है।

देवीभागवत में 'विन्ध्याचल' पद का प्रयोग देवी के स्थानों के वर्णन के प्रसङ्ग में किया गया है। इस पुराण के स्कंन्ध ७ अ० ३८ में देवी के स्थानों का वर्णन है। इसी प्रसंग में 'विन्ध्याचलनिवासिनी का स्थान सर्वोत्तम स्थानों में उत्तम कहा गया है। स्पष्ट है कि वर्तमान विन्ध्याचल विन्ध्यवासिनी पीठ होने के कारण प्राचीन भारत में भी 'विन्ध्याचल' नाम से जाना जाता था। इसी कारण देवीभागवत के शक्ति पीठों की सूची में **विन्ध्याचल निवासिन्या: स्थानं सर्वोत्तमोत्तमम्।।** (दे. भा. ७।३८।७ पूर्वा०)

शक्तिपीठों के प्रसिद्ध चतुष्पीठ परम्परा को डी. सी सरकार ने अपनी पुस्तक The Śakta Peethas (पृ. ११-१५) में पर्याप्त स्पष्ट किया है। इस परम्परा में भी विन्ध्याचल का महत्त्व था। कालिका पुराण (६२।९२-३) में ८ प्राचीन शक्ति पीठों का उल्लेख है इनमें विन्ध्यवासिनी के शक्ति पीठ की गणना की गई है-

गुप्त कामा श्री कामा तथान्या विन्ध्यवासिनी।
कोटीश्वरी वनस्था तु पाददुर्गा तथापरा।।

दीर्घेश्वरी क्रमादेव प्रकटा भुवनेश्वरी।। (का.पु.६२।९२-९३)

इसी पुराण में यह बताया गया है कि विन्ध्याचल में दुर्गा की पूजा का फल द्वारावती की अपेक्षा सौ गुना अधिक फलदाई होता है। विन्ध्याचल के समान ही प्रयाग एवं पुष्कर तीर्थ में भी पुण्य होता है।

विन्ध्ये शतगुणा प्रोक्ता गंगायामपि तत्समा।

विन्ध्यवत् फलदा पूजा प्रयागे पुष्करे तथा।। भ.पु. ५८।३६-३७

स्पष्ट है कि इन श्लोकों में विन्ध्य शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण अरण्य के लिए नहीं किया गया है। अपितु स्थान विशेष के लिए ही किया गया है यथा प्रयाग एवं पुष्कर शिवचरित के अनुसार इस स्थान पर सती के बाएँ पैर की अंगुली गिरी थी।

विन्ध्यक्षेत्र में अवतरण (पौराणिक विवरण)

१. सृष्टि के प्राथमिक काल में सर्वप्रथम भगवान् विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन्होंने स्वायंभुव मनु एवं धर्मरूपिणी शतरूपा को मानस संकल्प द्वारा उत्पन्न किया मनु पृथिवी के प्रथम राजा हुए। उन्होंने क्षीरसागर के उत्तरी तट पर एक मृण्मयी देवी मूर्ति बनाकर वाग्भव बीज का जप करते हुए एक सौ वर्षों तक तपश्चर्या की। देवी ने प्रकट होकर वर मांगने के लिए कहा। मनु ने आनन्द विह्वल होकर भगवती के परमसामर्थ्य एवं सर्वनियन्तृत्व का गुणगान स्तुतिरूप में किया। उन्होंने कहा, 'हे देवि तुम सब में समाहित हो सर्वमान्या, पूज्या, जगत् को धारण करने वाली एवं सभी मङ्गलतत्त्वों के लिए भी मङ्गल रूप हो। तुम्हारे कटाक्षमात्र से ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं एवं शिव संहार करते हैं। आप की आज्ञा से इन्द्र शासन करते हैं; यम दण्ड देते है, वरुण हम जैसों का पालन करते हैं कुबेर धनपति बने हैं अग्नि निर्ऋति वायु ईशान और शेष सब तुम्हारे अंश है तुम्हारी शक्ति ही सभी में व्याप्त है। यदि आप प्रसन्न है तो मुझे वर दें कि मेरे सृष्टि कार्य में कहीं बाधा न हो एवं इस वाग्वीज की उपासना करनेवाले की मनोकामना पूर्ण हो।'

देवी ने उन्हें यथेच्छ दिया एवं कहा कि दैत्यों का नाश करना ही मेरा प्रधान गुण है एवं मेरा पराक्रम अमोघ है तुम निष्कण्टक राज्य करो तुम्हारे पुत्र भी तुम्हारे वश में रहेंगे। इस प्रकार वरदान देकर वह परमदेवी मनु को देखते ही देखते विन्ध्य पर्वत पर चलीं गईं। जिस विन्ध्य पर्वत को अगस्त्य ने सूर्य का मार्ग अवरुद्ध करने के कारण अवनत कर दिया था उसी पर विष्णु की भागिनी के रूप में वरदेश्वरी विन्ध्यवासिनी, सभी लोगों द्वारा पूजी जातीं हैं। (देवीभाग० १०/१-२ अध्याय) विन्ध्य के नत हो जाने पर जो देवी विन्ध्य पर आईं वह मनु पूजिता थीं एवं विन्ध्यवासिनी नाम से सारे लोक में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार स्वायंभुव मनु ने देवी की आराधना करके मन्वन्तर पर्यन्त पृथिवी पर राज्य किया। अध्याय ७/२१-२२

२. पार्वती के शरीर में निशा प्रविष्ट हो गईं। उमा का वर्ण काला हो गया। उनके कृष्ण वर्ण को देखकर शिव उनसे विनोद करने लगे। पार्वती उनसे रूठ कर हिमालय चली गईं। इसी बीच आडि नामक दैत्य अपना रूप पार्वती के समान बना कर एवं अपनी योनि में वज्रदन्त रख कर शिव के पास गया। शिव ने उसके वाम पार्श्व में पद्म का चिन्ह नहीं देखा जैसा पार्वती को था, तब उसकी माया को पहचान गए एवं उसका बध कर दिया। इसी बीच वायु ने पार्वती को शिव के साथ परदारा होने का समाचार दिया। यह सुन कर पार्वती को अत्यन्त क्रोध आया, क्रोध के कारण उनका वर्ण श्यामल हो गया। इसी क्रोध से सिंह की उत्पत्ति हुई। अपने क्रोध से उत्पन्न सिंह के मुख में पार्वती प्रवेश कर जाना चाहती थी। तब ब्रह्मा ने प्रकट होकर उन्हें रोका एवं कहा कि आप क्या चाहती है जिसे आप अलभ्य मानती हों बताएँ मै वही दूँगा। पार्वती ने कहा कि मैने बड़ी तपस्या करके शिव को प्राप्त किया है। अब मेरे श्यामल वर्ण को देखकर वे मुझसे विनोद करते हैं कृपया मुझे पूर्ववत् काञ्चन देह प्रदान करें। ब्रह्मा ने कहा 'एवं भवतु'। इसके पश्चात् पार्वती के देह कोश से नीले कमल के समान कृष्णा, भयंकरी, हाथ में घण्टा लिए हुए तीन नेत्रों वाली, अलंकारों से सुसज्जित पीलेवर्ण के कौशेय वस्त्र को धारण किए हुए देवी उत्पन्न हुईं। ब्रह्मा ने उस देवी से कहा कि 'हे रात्रि तुम पार्वती के देह से संपर्क होने के कारण कृतकृत्य हो गई। तुम्हीं प्राचीन काल में एकानंशा थीं। यह सिंह जो तुम्हारे ही क्रोध से उत्पन्न हुआ है। तुम्हारा वाहन होगा। तुम विन्ध्याचल जाओ एवं वहाँ स्थित होकर देवताओं का हित करोगी। अनेकों प्रकार की मायावी शक्तियों से युक्त एवं एक लाख सेवकों वाले इस पाञ्चल नाम यक्ष को तुम्हारे सेवक के रूप में दे रहा हूँ। ब्रह्मा से इस प्रकार का वरदान प्राप्त करके कौशिकी देवी विन्ध्यपर्वत पर चली गईं। (पद्म० सृष्टि०, अ० ४३-४४)

३. कार्तिकेय ने अगस्त्य से जिज्ञासा की कि उनकी माता का नाम दुर्गा क्यों है? अगस्त्य ने उन्हें इसका हेतु बताते हुए दुर्ग नामक दैत्य के बध की कथा सुनाई-

रुरु नामक दैत्य का पुत्र दुर्ग एक महाप्रतापी दैत्य था। उसने ब्रह्मा की तपस्या करके उनसे वर प्राप्त किया था। फलतः वह अत्यन्त शक्तिशाली था। उसने त्रैलोक्य विजय करके देवताओं को पदच्युत कर दिया था। उस अत्याचारी दैत्य ने ऋषि पत्नियों को छीन लिया था एवं देवताओं को स्वर्ग से भगा दिया था। उसने सृष्टि के जड़चेतन सभी को अस्तव्यस्त कर दिया था। ब्राह्मण वेदपाठ नहीं करते थे। नदियों ने मार्ग परिवर्तित कर दिया था। अग्निशीतल हो गई थी। नक्षत्र अपनी गति भूल गए थे। उसने बादल का रूप ले लिया था। जहाँ उसकी इच्छा होती वहीं वर्षा करता था आदि।

देवताओं ने शिव से प्रार्थना की शिव ने कृपा करके पार्वती का आवाहन किया एवं उस दैत्य को नष्ट करने की अभ्यर्थना की। पार्वती ने देवताओं का कष्ट हरण करने के लिए एवं सृष्टिकार्य को पूर्ववत् स्थिर एवं नियमित करने के लिए कालरात्रि को भेजा। दुर्ग ने कालरात्रि को मारने के लिए अपने सैनिकों को भेजा। वे सभी सैनिक कालरात्रि के प्रश्वास से ही भस्मीभूत हो गए। किन्तु दुर्ग ने तीस सहस्त्र भीमकाय दैत्यों को पुन: भेजा उन दैत्यों ने पूरे भूमण्डल को आवृत कर लिया। कालरात्रि का पीछा दुर्ग अपनी विशाल सेना के साथ करने लगा। उसकी सेना में पुराण का कथन है कि दस करोड़ रथ एक खर्व बीस अरब हाथी, एक करोड़ घोड़े एवं असंख्य पदाति थे। कालरात्रि आकाश मार्ग से पार्वती के पास चलीं गईं। पार्वती विन्ध्यशिखर पर सहस्त्रबाहु रूप में विराजमान हो गई। दैत्य सेना जब निकट आई विन्ध्यशिखर पर विराजमान देवी पर बाणों की वर्षा करने लगी एवं वृक्षों एवं शिलाखण्डों से देवी पर प्रहार करने लगी। देवी ने अपने शस्त्रों से उन सब प्रहारों का निराकरण किया। दुर्ग एवं पार्वती में घोर युद्ध होने लगा। दुर्ग अनेक प्रकार के मायावी रूप धारणा करने लगा अन्तत: उसने महिष का रूप धारण करके भीषण संग्राम किया। पुन: अपना पूर्व रूप धारण करके सहस्त्र भुजाओं से युद्ध करने लगा। अन्तत: देवी ने उसके वक्ष को बाण से विदीर्ण कर दिया उसके मुख से रक्त की धारा फूट पड़ी एवं दैत्य गतायु हो गया। देवताओं ने पुन: अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की। (स्कंद पु० माहेश्वर खण्ड अरुणाचल माहात्म्य अ० १९-२०)

इस कथा में विन्ध्यवासिनी द्वारा सृष्टि की अनियमिताओं को दूर करने के लिए युद्धक रूप धारण करने की अवधारणा स्पष्ट की गई है। इसमें किसी दुराचारी की कामुकता को व्याज बनाकर उसके सर्वनाश की चर्चा नहीं है। अपितु ऋत की प्रतिष्ठा के लिए सीधे युद्ध की कथा बताई गई है।

४. पार्वती शिव की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में लीन थीं। उस कन्या के रूप के विषय में सुनकर वृत्र से भी अधिक बलवान (वृत्रादपि बलाधिक:) इन्द्र विजयी (विध्वंसित पुरन्दर:) महिषासुर पार्वती को नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। उसने एक तापसी वेशधारिणी दूती को गिरिजा के पास भेजा। उसने महिषासुर के वैभव की प्रशंसा की एवं कहा कि वह तप छोड़ कर उस त्रैलोक्य विजयी दैत्य का वरण कर लें।

दूती के इन अनुचित वाक्यों को सुनकर पार्वती की मन: स्थिति समझ कर विजया ने उसे बाहर निकाल दिया। दूती ने अपने स्वामी दैत्य राज को वृत्तान्त सुनाया।

महिषासुर ने क्रुद्ध होकर कराल, विचष्णु, विकरालक, बाष्कल, दुर्मुख, चण्ड, प्रचण्ड, अमरासुर, महाहनु, महापैलि, उग्रास्य, विकर्षण, ज्वालास्य, दहन आदि सेनापतियों के साथ रथ, गज, अश्व एवं करोड़ो दैत्यों के साथ सम्पूर्ण भूमण्डल को व्याप्त करके आक्रमण कर दिया।

पार्वती ने सेना के कोलाहल को सुनकर दुर्गा को आदेश किया कि वे उनके तपश्चर्या को भंग करने से राक्षसों को रोकें। दुर्गा सिंह वाहिनी अरुणाद्रि पर प्रकट हुई। उन्होंने पार्वती की प्रसन्नता के लिए एवं दैत्यों के संहार के लिए अपने अंगों से योगिनी चक्र को प्रकट किया। शिव ब्रह्मा स्कन्द आदि देवताओं के रूप एवं वाहन वाली भीषण योगिनियाँ उत्पन्न हुईं। ये सभी योगिनियाँ ६४ करोड़ देव रूपों में उत्पन्न हुईं। (१९/३१) एवं दैत्यों के साथ घोर-युद्ध करने लगीं। दुर्गा का युद्ध महिषासुर के साथ होने लगा। देवियों ने दैत्यों का संहार करना आरम्भ कर दिया। ब्राह्मी ने स्वयं दैत्यों का वध किया, ज्वलिता ने विकराल का, माहेश्वरी ने दुर्धर, कौमारी ने चिक्षुर, वैष्णवी ने विकराल, बाराही ने बाष्कल, ऐन्द्री ने दुर्मुख, चामुण्डा ने चण्डमुण्ड, प्रचण्ड, चामर आदि दानवों का वध कर दिया। इसके अनन्तर देवियों ने महिषासुर पर आक्रमण कर दिया। किन्तु तबतक कालनेमि विप्रचित्त आदि प्रचण्ड दानवों ने घेर लिया। उनसे संग्राम करते हुए देवियों ने यह समझा कि ये दानव दुर्जेय हैं। तब सभी मातृकाएँ भगवती दुर्गा के शरण में गईं एवं सिंह पर विराजमान उस देवी की स्तुति करने लगीं।

मातृकाओं द्वारा की गई यह स्तुति विन्ध्यवासिनी पूजा की व्यापकता एवं उनके महिषमर्दिनी स्वरूप का प्रबल समर्थन करता है।

देवी तां तुष्टुवुर्दुर्गांमेवं सप्तापिमातरः।
योगनिद्रेति रूपेण विष्णोर्नयनपद्मयोः।

त्वया निलीयते देवि मधुकार्येव लीलया।।

अमूमुहुस्तं न तथा मातरच मधुकैटभौ।
कथं जघान तौ विष्णु तयोरेवाभ्यनुज्ञया।।

त्वं कौशिकी न चेज्जाता मृत्युः शुम्भनिशुम्भयोः।
कथं तु लोकपालानामैश्वर्यं देवि एष्यति।।

विन्ध्यवासिनि विन्ध्येन किमबन्ध्यं तपः कृतं।

यत्र मैत्री किरातीभिरपि लभ्या त्वया समम्।।

कापिशायनमापीतं धनदोपायनी कृतम्।
त्वयाम्ब नीतं दैत्यानां रसैर्नियतमानवैः।।

ब्रह्मणः सृष्टिशक्तिस्त्वं स्थितिशक्तिर्मधुद्विषः।
अम्ब संहार शक्तिश्च रुद्रस्यापि प्रगल्भसे।

यशोदानन्दजाता त्वमेकानंशेति नामतः।
कंसाद्यसुरसंहारे हरेः साह्यं करिष्यसि।

त्वं विद्या त्वं महामाया त्वं लक्ष्मीस्त्वं सरस्वती।।

त्वं देवि पार्वतीशाऽपि दुर्गे किं वा न जायसे।

(माहे० अरु० १९/५२-६०)

मातृकाओं की यह प्रार्थना सुन कर दुर्गा ने स्वयं महिषासुर से युद्ध करने का वर दिया। इसके बाद विन्ध्यवसिनी ने चामर को भिण्डिपाल से महा मौलि को छुरिका से, उग्रवस्त्र को कुठार से विकट चक्षुको शक्ति से मार दिया इसी प्रकार अन्य दैत्यों का संहार कर दिया। तदनन्तर महिषासुर से युद्ध करने लगीं। महिष अनेक प्रकार का रूप धारण करके युद्ध करने लगा (**क्षणं सिंहः क्षणं क्रोडः क्षणं व्याघ्रः क्षणं गणः। क्षणं च महिषी भूत्वा दैत्योदुर्गां अयोधयत्।**) कभी वह आकाश में चला जाता कभी धरतीपर कभी दिशाओं में घूमता हुआ एवं कभी अदृश्य होकर युद्ध करता था।

मातृकाओं की प्रार्थना पर दुर्गा ने उसे अमोघ त्रिशूल से मार कर धराशायी कर दिया। स्कंद पुराण की इस कथा में देवी को दुर्गा भद्रकाली विन्ध्यवासिनी एवं कात्यायनी नामों से सम्बोधित किया गया है। (अरु० अ० १०-११)

५.स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड में ही एक कथा और आई है। यह कथा उपक्रम की दृष्टि से सप्तशती (अ०२) की कथा से समानता रखती है।

६. देवगण महिषासुर से त्रस्त होकर तपश्चार्य में लीन देवी के पास पहुंचे। सभी देवताओं ने देवी को बताया कि महिषासुर ने स्वर्ग एवं वस्तुओं पर अधिकार कर लिया हैं। देवताओं ने दीन होकर देवी से प्रार्थना की देवी ने कहा कि आप लोग निश्चिन्त रहें

मै उस दैत्य को किसी बहाने आकृष्ट करके समाप्त कर दूँगी,

> **उपायेन समाकृष्य हनिष्यामि महासुरम्।**
> **निरागसस्तु हननमद्य मे न हि युज्यते।।**
>
> **धर्मगे धर्मभेत्तारः शलभत्वं व्रजन्ति हि।। १०/१९-२०**

देवताओं के चले जाने पर देवी ने मोहिनी शक्तिः का रूप धारण किया। एवं ४ दिशाओं में ४ बटुकों को स्थापित किया। एवं अपनी परिचर्या में ४ देवियों दुन्दुभि सत्यवती, नवमी एवं सुन्दरी को रखा। स्वयं गिरिजा गौतम के आश्रम के निकट तप करने लगी। महिषासुर अपने सैनिकों के साथ उसी वन में मृगया के लिए गया था। बटुकों ने उसे रोका एवं बताया कि यह देवी की तपस्या का वन है। इस वन के सभी जन्तु उनकी शरण में है। यहाँ किसी पशु की हिंसा नहीं होगी। महिषासुर देवी के विषय में सुनकर छल से पक्षी का रूप धारण करके आश्रम में गया एवं देवी से विवाह का प्रस्ताव किया।

देवी ने कहा मै बलवान का वरण करुँगी यदि तुम बली हो तो मुझे अपना बल दिखाओ। महिषासुर क्रुद्ध होकर देवी को मारने को उद्यत हुआ। देवी तत्क्षण कन्या रूपिणी तेजस्विनी-दुर्गा रूप में आ गईं। सभी देवताओं ने उस कालाग्नि रूपिणी दुर्गा की पूजा की सभी देवताओं, पर्वतों, समुद्रों ने उन्हें आभरण एवं शस्त्र प्रदान किए। सिंहवाहना दुर्गा के उस घोर रूप को देखकर महिषासुर पलायन कर गया। देवी ने पुनः उसे आकृष्ट करने के लिए शुक्राचार्य को बुलाया उनका मुख वानर का बनाकर दौत्य के लिए असुर के पास भेजा। उन्होंने जाकर कन्या के रूप का वर्णन किया अधर्मबुद्धि महिषासुर पुनः देवी को प्राप्त करने के लिए सेना लेकर आया एवं देवी ने अपने तेज से अनेक भूतों को उत्पन्न करके दैत्य सेना का नाश करना आरम्भ कर दिया। महिषासुर का देवी के साथ घोर युद्ध हुआ एवं देवी ने अपने त्रिशूल से उसका बध कर दिया एवं खड्ग से उसका सिर काट दिया। असुरबध से सभी देवता प्रसन्न हुए एवं अपने अधिकारों पर पुनः प्रतिष्ठित हुए।

७. मुख्यतः विन्ध्यवासिनी एवं उनकी अंशभूता अन्य देवियों जया, अपराजिता, भद्रकाली आदि ने महिषासुर एवं उसकी सेना तथा शुम्भ निशुम्भ एवं उसकी सेना का बध किया था। इन दैत्यों से युद्ध का स्थल कहाँ था इस सम्बन्ध में सभी पुराणों ने विन्ध्याचल ही बताया है। पार्जिटर ने युद्धस्थल भोपाल से पूर्व या आसपास का प्रदेश माना है। इसी प्रकार के विचार शान्तिलाल नागर ने भी व्यक्त किया है (Mahishmardini in Indian Art P.) वामन पुराण (अ० १८-२८, ९०) विन्ध्याचल को युद्धस्थल घोषित करता है वराह पुराण मन्दार पर्वत को युद्धस्थल मानता है। मन्दार का प्रत्यभिज्ञान विन्ध्य का झारखण्ड प्रान्त तक विस्तृत क्षेत्र के रूप में किया जाता है।

इस देवी का विन्ध्याचल पर अवतरण के मिश्रणों में इस प्रकार की अवधारणाएँ प्राप्त होती है।

१. देवी पुराण, मत्स्य पुराण, वामन पुराण के वर्णनों में देवी का अवतरण दानवों के नाश के लिए बताया गया है। देवी पुराण (अ०७) का कथन है कि घोर के अत्याचार से पीड़ित होकर सभी देवता विष्णु एवं ब्रह्मा के साथ शिव की शरण में गए शिव ने देवताओं को यह सूचना दी कि आद्या शक्ति भगवती योगनिद्रा सिंह पर सवार होकर विन्ध्याचल में अवतरित हो चुकी हैं।

या सा आद्या वराशक्तिर्योगनिद्रामहात्मनाम्।

सा तु सिंहं समारुह्य विन्ध्ये क्रीडनतां ययौ।

(देवी० ७/२०)

ब्रह्मा एवं विष्णु को इनमें सेवक के रूप में तथा चारों वेदों को ४ कन्यायों के रूप में बताया गया हैं जोकि इस देवी की सेवा करते हैं (७/२१-२४)। देवी पुराण स्पष्ट रूप से देवी का अवरण दानवों से युद्ध करने के लिए बताता है-

या सा घोर बधार्थाय सर्वदेवनमस्कृता।

विन्ध्याद्रौ संस्थिता देवी सा च पूज्या यथाविधि।।

देवी० ९२/९

२. मत्स्य पुराण (अ० १५७) का कथन है कि आडि बध का वृत्तान्त सुनकर देवी के अत्यन्त क्रोध की अवस्था में उनके मुख से एक भयानक सिंह उत्पन्न हुआ एवं पार्वती (उमा) का मुख श्यामवर्ण का हो गया। अपनी श्यामलता को दूर करने के लिए उन्होंने पुनः तपश्चर्या किया। ब्रह्मा ने प्रसन्नता होकर वर मांगने के लिए कहा ब्रह्मा ने उन्हें पुनः कांचनवर्ण प्राप्त करने का वर दिया। इसके पश्चात् उमा के शरीर से भ्रमर एवं नीलकमल के समान कृष्णवर्ण की देदीप्य मान, पीले रेशमी वस्त्र को धारण की हुई, अनेक आभूषणों से सुसज्जित हाथ में घण्टा लिए हुए त्रिनेत्रा देवी उत्पन्न हुईं। ब्रह्मा ने उस देवी से कहा हे निशे! तुम पार्वती के देह के सम्पर्क से कृत- कृत्य हो गईं। उमा के क्रोध से उत्पन्न यह सिंह तुम्हारा वाहन होगा। प्राचीन काल में तुम्ही एकानंशा कही गई हो। तुम विन्ध्याचल जाओ एवं वहीं स्थित होकर देवताओं का कार्य करोगी। मै पाञ्चाल नामक यक्ष को तुम्हारी सेवा में समर्पित कर रहा हूँ। यह यक्ष सैकड़ों प्रकार की मायावी विद्या का

ज्ञाता है। इस प्रकार कौशिकी (पार्वती के कोश से उत्पन्न देवी) विन्ध्यपर्वत पर चली गईं। (१५७/१-१८)

यद्यपि इस कथा में दानववध को हेतु नहीं बताया गया है। किन्तु **गच्छ विन्ध्याचलं तत्र सुर कार्यं करिष्यति** १५७/१७ से देवशत्रु दानवों के विनाश का संकेत अवश्य प्राप्त होता है।

वामन पुराण विन्ध्यवासिनी की २ कथाएँ देता है–

१. महिषासुर अग्नि के वरदान के रूप में उत्पन्न हुआ। अग्नि के वरदान के कारण ही वह महाप्रतापी एवं अजेय था (अ०१७)। उसने सभी देवताओं को जीत लिया देवताओं ने शिव एवं विष्णु से त्राण की प्रार्थना की। इस अवसर पर सभी देवता शिव एवं विष्णु के साथ कात्यायन ऋषि के आश्रम में एकत्र हुए थे। विष्णु शिव एवं ब्रह्मा महिषासुर के दानवी अत्याचार को सुन कर क्रुद्ध हो गए। उनके एवं इन्द्र आदि सभी देवताओं के वदन (एकीकरण) से महान् तेज निकला वह तेज पुञ्ज का महर्षि कात्यायन ने उपाकरण किया। उस उपाकृत तेज से योग विशुद्ध देहा कात्यायनी उत्पन्न हुईं। सभी देवताओं ने उस देवी की प्रार्थना की देवी ने सिंह पर आरूढ़ होकर महिषासुर को समाप्त करने के लिए विन्ध्याचल को प्रस्थान किया। (अ०१८) दुर्गा के विन्ध्याचल में स्थित हो जाने पर देव सिद्ध नाग विद्या धर भूतगण अप्सराएँ सभी निश्चिन्त भाव से उनकी पूजा करने लगे। (अ०१८)

महिषासुर के दूत चण्ड मुण्ड ने उस सुन्दरी कन्या को विन्ध्याचल में देखा अपने राजा से उसके सौन्दर्य की चर्चा की।

तत्रास्ति देवी सुमहानुभावा कन्या सुरूपा सुरसुन्दरीणाम्।
जितस्तया तोयधरोऽलकैर्हि जितः शशांको वदनेन तन्व्या।।

नेत्रैस्त्रिभिस्त्रीणि हुताशनानि जितानि कण्ठेन जितस्तु शंखः।
स्तनौ सुवृत्तावथ निम्नचूचुकौ स्थितौ विजित्यैव गजस्य कुम्भौ।।

त्वां सर्व जेतारमिति प्रतर्क्य कुचौ स्मरेणैव कृतौ सुदुर्गौ।
पीनाः सशस्त्राः परिघोपमाश्चभुजास्तथाऽष्टादश भान्ति तस्याः।।

(अ० १८/३-६)

महिषासुर उस सुन्दरी कन्या को पाने की लालसा से विन्ध्य के मूल में अपना शिविर बनाकर। उस देवी के पास अपना दूत भेजा। देवी ने उत्तर दिया कि मेरे कुल में यह रीति के अनुसार शुल्क देना होगा। इसके अनुसार यदि दामवेन्द्र मुझे युद्ध में परास्त कर दें। तब मैं उन्हें पति के रूप में वरण करुँगी।

कुलेऽस्मदीये शृणु दैत्य शुल्कं कृतं हि यत्पूर्वतरैः प्रसह्य।
यो जेष्यतेऽस्मत् कुलजां रणाग्रे तस्या पतिः सोऽपि भविष्यतीति।

वामन० १९/३३

यह सुनकर महिषासुर ने उस विन्ध्य शिखर को घेर लिया। एवं उन पर आक्रमण कर दिया। देवताओं ने भयभीत होकर देवी से कवच धारण करने के लिए कहा देवी ने देवताओं को आश्वस्त किया कि कवच की कोई आवश्यकता नहीं हैं ये अधमदानव मेरे सामने टिक नहीं सकते।

अथोवाच सुरान् दुर्गा न बध्नामि च देवताः।
कवचं कोऽत्र संतिष्ठेन्ममाग्रे दानवाधमः। अ०२०/३९

घोर संग्राम हुआ। इस संग्राम का बहुत सुन्दर एवं जीवन्त वर्णन इस पुराण ने किया है। अन्ततः महिषासुर का वध हुआ।

उमा के शरीरकोश से उत्पन्न कौशिकी ने शुम्भ निशुम्भ का वध इसी विन्ध्य वन में किया था। इस पौराणिक घटना का वर्णन भी पुराणकार विस्तार से करते हैं।

या सा हिमवतः पुत्री भवेनोढा तपोधन।
उमा नाम्ना च तस्याः कोशाज्जाता तु कौशिकी
संभ्मूय विन्ध्यं गत्वा च भूयो भूतगणैर्वृता।
शुम्भं चैव निशुम्भं च बधिष्यति वरायुधैः।। २१/३-४

चण्ड-मुण्ड महिषासुर के मारे जाने पर भाग कर शुम्भ निशुम्भ नामक महाप्रतापी दानवों से सन्धि कर लिया एवं उन्हें बताया कि उसके राजा महिषासुर को विन्ध्यचल में देवी ने मार डाला था।

यस्त्वासीत् प्रभुरस्माकं महिषो नाम दानवः।
निहतः स महादेव्या विन्ध्यशैले सुविस्तृते।। ५५/१८-१९

शुम्भ निशुम्भ ने दानवों का प्रतिशोध लेने के लिए एवं देवी का गर्व चूर्ण करने के लिए आक्रमण की योजना बनाई। सुग्रीव को विन्ध्यवासिनी के पास भेजा विन्ध्यवासिनी ने पुनः कहा कि जो मुझे जीतेगा वहीं मेरा पति होगा।

यो मां विजयते युद्धे स भर्ता स्यान्यमहासुरः। ५५/३६ युद्ध हुआ। देवी के क्रोध से करालवदना काली उत्पन्न हुई एवं सभी दानवों का भक्षण करना आरम्भ कर दिया। इसी देवी ने चण्ड मुण्ड को पकड़ा पुराण इस देवी को 'चण्डमारी' कहता है

तस्या नाम तदा चक्रे चण्डमारीतिविश्रुतम्।। ५५/६५

चण्डमारी का वाहन पुराणकार रासभ बताते है। (**साधिरुह्य महावेगं रासभं गरुडोपमम् ५५/६८**) इस महा भयानक देवी चण्डमुण्ड को कर्कोटक नाग से बांध कर विन्ध्याचल देवी के पास लाई-

बद्धो कर्कोटकेनैव बद्धवा विन्ध्यमुपागमत्। ५५/७५

दुर्गा ने उन दानवों का वध कर दिया। एव उनके मुण्डों को माला के रूप में धारण कर लिया। इस कारण इस देवी को चामुण्डा कहा गया। (५५/८२-८३) इसी प्रकार दैत्य सेना को मारने के लिए देवी के मुख से सभी देवताओं की शक्तियाँ निकलीं एवं शुम्भनिशुम्भ तथा रक्तबीज को ससैन्य मार डाला। देवी की स्तुति देवताओं ने की एवं कहा कि के यशोदा गर्भ से उत्पन्न होकर पुनः दानवों का नाश करुगीं। इस कथा में दुर्गा का सम्बन्ध विन्ध्यपर्वत से दानव नाश के लिए है।

इस प्रकार विन्ध्याचल पर विन्ध्यवासिनी दुर्गा की प्रतिष्ठा की सुदीर्घ परम्परा पुराण उपस्थापित करते हैं।

षष्ठ अध्याय

विन्ध्याचल शक्ति पीठ का पवित्र परिसर

सामान्य रूप से प्रमुख एवं प्राचीन तीर्थों अथवा देवस्थानों के धार्मिक परिसर का वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। काशी, पुष्कर, प्रयाग गया आदि पौराणिक महत्त्व के तीर्थों द्वारका, रामेश्वरम्, पुरी आदि अति प्रसिद्ध देवस्थलियों का सम्यक् वर्णन विभिन्न प्रकार के साहित्यों में प्राप्त होता है। किन्तु भारतीय धार्मिक इतिहास में कुछ ऐसी देवी-देवता भी उल्लिखित है जो प्राचीन एवं प्रसिद्ध हैं। उनकी महिमा का गुणगान भी पौराणिक एवं अन्य तन्त्र आदि धार्मिक साहित्य करते हैं। किन्तु उनके किसी नियत स्थल की धार्मिकयात्रा करने पर धार्मिक साहित्यों में कम बल दिया गया है। विन्ध्याचल शक्ति पीठ इसी प्रकार का धार्मिक स्थल हैं।

पुराणों में जिन तीर्थों की यात्रा पर बल दिया गया है, उन सभी तीर्थों में किसी न किसी धार्मिक क्रिया का विशेष रूप से सम्पादन होता है। जैसे गया में श्राद्ध प्रयाग में मुण्डन आदि। वह तीर्थ जिस धार्मिक धारा का प्रतिनिधित्व करता है उससे किसी न किसी रूप में सम्बद्ध देवी देवताओं की पूजा स्थलियाँ भी उस तीर्थ में होती है। उस तीर्थ के यात्री उन देवी देवताओं की पूजा अर्चना करते हैं तथा वह तीर्थ मन्दिरों का नगर बन जाता है।

विन्ध्यवासिनी देवी के स्वरूप विवेचन में देखा जा चुका है कि विन्ध्यवासिनी का सम्बन्ध शैव एवं वैष्णव दोनों धार्मिक सम्प्रदायों से है। यह शक्तिपीठ दोनों प्रमुख धार्मिक धाराओं के शाक्त-करण का सुन्दरतम उदाहरण है।

विन्ध्याचल शक्तिपीठ का धार्मिक परिसर शाक्त संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण प्रतीक त्रिकोण के रूप में प्रकल्पित है। इस त्रिकोण के तीनों विन्दुओं की देवियाँ विन्ध्य माहात्म्य (अ० २७) में विन्ध्यवासिनी नाम से ही सम्बोधित हुई हैं। इन देवियों का सम्बन्ध शिव एवं विष्णु दोनों से है। अतः इस क्षेत्र के आसपास शिव एवं विष्णु दोनों अवतारों एवं स्वरूपों से सम्बद्ध अनेक धार्मिक केन्द्र हैं। यह क्षेत्र प्राचीनतम धार्मिक नगरी काशी के

निकट है। अतः काशी पर विन्ध्याचल की एवं विन्ध्याचल पर काशी की धार्मिक परम्पराओं का प्रभाव है।

विन्ध्याचल का धार्मिक परिसर में विन्ध्यवासिनी देवी प्रधान हैं। तथापि इस क्षेत्र में अनेक प्रकार के धार्मिक केन्द्रों का संशिलष्ट रूप देखने को मिलता है। १८वीं १९वीं शती में इस क्षेत्र का धार्मिक भूगोल राजनैतिक परिवर्तनों के कारण परिवर्तित हुआ है। कुछ धार्मिक केन्द्र लुप्त हो गए कुछ इस परिक्षेत्र की सीमा से पृथक् हो गए।

विन्ध्यमाहात्म्य एक मात्र ग्रन्थ है जो विन्ध्य क्षेत्र के धार्मिक भूगोल का व्यवस्थित ज्ञान देता है। इस ग्रन्थ में दो प्रकार के धार्मिक परिसर का प्रकल्पन हुआ है।

१. पञ्चक्रोशी परिक्रमा– विन्ध्यमाहात्म्य में ३८ से ४१ अध्यायों में काशी की तरह विन्ध्यक्षेत्र की पञ्चक्रोशी परिक्रमा विन्ध्यवासिनी पूजा के साथ सम्पन्न होती है; तथापि इस परिक्रमा परिपथ में त्रिकोण के सभी देवता नहीं आते महाकाली (कालीखोह) का वर्णन भी इस परिक्रमा क्षेत्र की देव स्थलियों में नही मिलता। इस परिक्रमा क्षेत्र में शिव मन्दिरों की प्रधानता है। पञ्चक्रोशी परिक्रमा की परिकल्पना स्वयं ही शैवप्रभाव को प्रमाणित करती है। विन्ध्यमाहात्म्य ३२/२८ में तारकेश्वर से वीरभद्रपुर तक के विस्तृत क्षेत्र को पञ्चक्रोशी की संज्ञा देता है।

२. विन्ध्यवासिनी यन्त्र एवं त्रिकोण क्षेत्र– इस ग्रन्थ ने विन्ध्यवासिनी के मूल क्षेत्र को एक यन्त्र के रूप में वर्णित किया है। इस यन्त्र का प्रारम्भिक स्वरूप त्रिकोण एवं अन्तिम चतुरस्त है। इस यन्त्र के प्रत्येक भाग में देवी देवताओं की स्थिति बताई गई है। यद्यपि इस यन्त्र के त्रिकोण क्षेत्र के अतिरिक्त शेष भाग एवं उनके देवी देवताओं के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं मिलता। ग्रन्थकार भी इस पूरे यन्त्र क्षेत्र के देवी देवताओं की स्थिति के विषय में आश्वस्त नहीं थे[1]।

पञ्चक्रोशी यात्रा के वर्णन के पूर्व विन्ध्यक्षेत्र के देवी देवताओं कुण्डों सरोवरो नदी संगमों का वर्णन करते हुए वर्तमान विन्ध्यवासिनी धाम एवं त्रिकोणी क्षेत्र को विन्ध्यक्षेत्र की संज्ञा दी है। नागकुण्ड (कन्तित) से पश्चिम अष्टभुजा तक के त्रिकोण क्षेत्र को विन्ध्यक्षेत्र मानते है[2]।

इस प्रकार इस पुराण ने विन्ध्यक्षेत्र को शैव एवं शाक्त दो दृष्टियों से दो प्रकार की सीमाओं में वर्णित किया है।

---

१. वि०म० २७।
२. वि०म० २६।

किसी भी पवित्र क्षेत्र को निर्धारित करने में दो तत्त्व प्रधान होते हे १. पौराणिक या धार्मिक साक्ष्य जोकि उस क्षेत्र की प्रसिद्धि के आधार पर लिखे जाते है। २. जितनी परिसीमा के धार्मिक केन्द्र यात्रियों भक्तों पूजकों को नियमितरूप से आकर्षित करते हैं उसे उस क्षेत्र का व्यावहारिक धार्मिक परिसर माना जाता है। इस दृष्टि से विन्ध्य क्षेत्र का व्यावहारिक परिसर में त्रिकोण एवं उसके आसपास के क्षेत्रीय महत्त्व के क्षेत्र परिगणित किए जा सकते हैं।

व्यावहारिक धार्मिक परिसर

विन्ध्यक्षेत्र धार्मिक परिसर को ३ पवित्र क्षेत्रों (Sacred Zones) में बाँटा जा सकता है। १. त्रिकोण क्षेत्र २. श्राद्ध क्षेत्र ३. क्षेत्रीय महत्त्व के क्षेत्र।

त्रिकोण क्षेत्र

यह क्षेत्र मीरजापुर नगरपालिका के वार्ड १-२ एवं वन्यक्षेत्र में विस्तृत है। इस क्षेत्र के धार्मिक केन्द्रों पर व्यवस्था की दृष्टि से विन्ध्यपण्डा समाज एवं विन्ध्यविकास परिषद् का नियन्त्रण है। इस परिसर का क्षेत्र लगभग ७ किलोमीटर में विस्तृत है।

पूरे क्षेत्र के दो भाग है। १. विन्ध्याचल कस्बा (इसके पूर्व में कन्तित ग्राम, पश्चिम में प्रत्यंगिरा (पटिंगरा) उत्तर में गंगा नदी दक्षिण में मीरजापुर शिवपुर सड़क। यह क्षेत्र सम्पूर्ण त्रिकोण क्षेत्र का लगभग १/५ भाग हैं। इसे विन्ध्यवासिनी धाम कहा जाता है। इस क्षेत्र का सर्वाधिक धार्मिक महत्त्व है। तीर्थ यात्रियों के अधिकांश भाग के सभी धार्मिक कृत्य इसी क्षेत्र के प्रमुख केन्द्र विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर सम्पन्न होते हैं। विन्ध्यवासिनी मन्दिर उक्त सीमा के मध्योत्तर प्रभाग में स्थिति है। सम्पूर्ण पवित्र क्षेत्र का यह भाग सर्वाधिक जन संकुल है। पण्डों के मकान, धर्मशालाएँ, दूकाने पुलिस स्टेशन, अनेक धार्मिक केन्द्र इसी क्षेत्र में हैं। दिन प्रतिदिन इस क्षेत्र की सघनता बढ़ती जा रही है। क्षेत्र का दूसरा भाग ४/५ क्षेत्र में स्थित है। इसमें वार्ड १,२ में पड़ने वाले मीरजापुर शिवपुर सड़क एवं मीरजापुर इलाहाबाद सड़क के दक्षिणपश्चिमी भू भाग एवं वन्य प्रदेश है। यह भाग अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्यों का केन्द्र होने के साथ साथ 'यात्रा वनस्थली' है। त्रिकोण क्षेत्र के दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र महाकाली एवं अष्टभुजा इसी क्षेत्र में हैं।

इस भू-भाग में मीरजापुर, शिवपुर सड़क से दक्षिण मीरजापुर-इलाहाबाद सड़क तक बस्ती है। उसके दक्षिण में. केवल वन प्रदेश है। मीरजापुर-शिवपुर सड़क से दक्षिण

में रहायशी मकानों की सघनता विरलता में बदलती जाती है। मीरजापुर इलाहाबाद सड़क एवं मीरजापुर शिवपुर सड़क के बीच की ९८% भाग में अनुसूचित जातियों की बस्ती, अस्पताल, रेलवेस्टेशन, सरकारी आवास, खेत, खेतिहर मजदूर, राजाओं के बनाए हुए ध्वस्त बाग एवं देवताओं के मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में कुछ ध्वस्त है। कुछ उपेक्षित हैं। जबकि इनमें धार्मिक कृत्य अब भी होते हैं।

मीरजापुर-इलाहाबाद सड़क के दक्षिणपश्चिमी प्रखण्ड में विन्ध्यवासिनी मन्दिर से ३ कि०मी० दूर वन में काली खोह नामक स्थल हैं इस स्थल में कोई बस्ती नहीं हें कुछ साधकों उपासको द्वारा बनाए हुए साधना स्थल है जो निर्जन रहते हैं। उनमें कभी कभी साधकगण निवास किया करते हैं।

काली खोह में काली मन्दिर पवित्र कूप काली कुण्ड; पवित्र बावड़ी (कर्णगिरि द्वारा निर्मित) एवं साधना गुफाएँ हैं। इस धार्मिक केन्द्र का स्वतन्त्र धार्मिक महत्त्व है। किन्तु विन्ध्यवासिंनी मन्दिर से घनिष्ठतया सम्बद्ध है। विन्ध्याचल नियमित आने वाले हर वर्ग के य़ात्रियों एवं क्षेत्रीय निवासियों के धार्मिक आकर्षण का केन्द्र है। यह विन्ध्याचल धाम का अनुपूरक क्षेत्र है। पिछले वर्षों में यहाँ तक पहुंचने के सड़क मार्गों को अधिक सुविधाजनक बना दिया गया है। अतः इस स्थल में यात्रियों की संख्या में वृद्धि हो रही है। पूजा सामग्री आदि की दूकानें भी स्थाई है। यहाँ की प्रमुख देवी महाकाली पुराकथा शास्त्रीय दृष्टि से विन्ध्यवासिनी की सेनानी कही गई हैं तथा उन्हीं का एक रूप भेद मानी जातीं हैं। महाकाली मन्दिर के आस पास अनेक देव मन्दिर है जिनका स्वतन्त्र महत्त्व हैं।

काली मन्दिर के दक्षिण एकदम निकट ही **भूतनाथ** का स्थान है। ये प्रेतदेवता है तथा महाकाली से सम्बद्ध हैं। यह स्थान प्रेतोपचार के मान्त्रिकों एवं रोगियों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

इसी स्थल से पश्चिम ओर पर्वत पर चढ़ने के लिए १०२ सीढ़ियाँ हैं। इसके निर्माता का कोई ज्ञान नहीं है। ये ४-४, ५-५ के खण्डों में बनी हैं जिससे यात्रियों को चढ़कर ऊपर जाने में सुविधा होती है। इसके ऊपर पश्चिमोत्तर दिशा की ओर सड़क जाती है। यह सड़क त्रिकोण के तृतीय विन्दु **अष्टभुजा मन्दिर** तक के लिए बनी हैं। इस मार्ग से अष्टभुजा एवं काली खोह की दूरी लगभग २ कि०मी० है। विन्ध्यवासिनी एवं महाकाली मन्दिर से सड़क मार्ग से अष्टभुजा जाने के लिए ७ कि०मी० की दूरी तय करनी होती हैं इन सड़कों का उपयोग वाहनों से यात्रा करने वाले यात्री करते है। धार्मिक दृष्टि से त्रिकोण यात्रा करने वाले भक्तगण सीढ़ियाँ चढ़कर वन मार्ग से ही यात्रा करते हैं।

इस मार्ग के मध्य में गेरुआ तालाब नामक पवित्र सरोवर एवं कुछ धार्मिक केन्द्र हैं इसमें श्रीकृष्ण का मन्दिर प्रमुख है। इसके आस पास का क्षेत्र अब वन विभाग द्वारा पर्यटन की दृष्टि से विकसित किया जा रहा है।

इस स्थान से सड़क उत्तर की ओर मुड़ती है एवं अष्टभुजा मन्दिर तक जाती है। अष्टभुजा मन्दिर परिसर में साधना मठ, पवित्र कुण्ड एवं देवी देवताओं के मन्दिर हैं। इस क्षेत्र में स्थित **भैरव कुण्ड** का तान्त्रिक मठ अपनी साधना परम्परा के लिए प्रसिद्ध है। इस मठ मे काली उपासकों की परम्परा रही है। आज भी वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से वर्तमान है।

विन्ध्यवासिनी मन्दिर महाकाली मन्दिर एवं **अष्टभुजा मन्दिर** के क्षेत्र को **त्रिकोण** क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। ये तीनों मन्दिर इस क्षेत्र के ३ सीमा बिन्दु हैं। इस त्रिकोण के पूर्वी बिन्दु पर पश्चिमाभिमुख विन्ध्यवासिनी दक्षिणी बिन्दु पर ऊर्ध्वमुखी महाकाली एवं पश्चिमी विन्दु पर उत्तराभिमुखी अष्टभुजा स्थित हैं। अष्टभुजा मन्दिर भी विन्ध्यवासिनी से घनिष्ठतया सम्बद्ध है।

प्रमुख उपासना स्थल : विन्ध्यवासिनी मन्दिर

यद्यपि सामान्य रूप से किसी भी तीर्थ क्षेत्र में पवित्र भूगोल के अन्तर्गत कुछ पूर्ण मान्यता प्राप्त केन्द्र होते हैं जिनकी सीमा पूर्ण एवं स्पष्ट रूप से परिभाषित होती है। (विद्यार्थी१९६१ एवं चक्रवर्ती १९८४) इस भूमि में देवमन्दिर का निर्माण होता है तथा उस देवता के लिए सम्पादित होने वाले धार्मिक कृत्यों, उत्सवों आदि के लिए आवश्यक निर्मितियाँ की जाती हैं। इन निर्मितियों के लिए आवश्यक स्थापत्य की अनेक विधियाँ हिन्दू पुराणों एवं शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है। इसप्रकार की सम्पूर्ण भूमि एवं निर्माण मन्दिर की सम्पत्ति मानी जाती है। इस पर किसी भी व्यक्ति का एकाधिकार या अंशाधिकार नहीं रहता। किसी राजा समुदाय या न्यास का अधिकार उसकी सुरक्षा, सुव्यवस्था, पवित्रता की रक्षा, विकास, पुनर्निर्माण, जीर्णोद्वार, सुन्दरीकरण आदि रचनात्मक कार्यों तक ही सीमित रहता है। उसके ध्वंस, संकोचन, अधिग्रहण, निजहित में क्रयविक्रय आदि का अधिकार नहीं होता किन्तु विन्ध्याचल के प्रमुख पवित्र केन्द्रों के विषय में कुछ भिन्न अवधारणा दिखाई देती है। प्रस्तुत पृष्ठों में उससे सम्बद्ध तथ्यों की प्रस्तुति के साथ इस पवित्र केन्द्र का स्वरूप परिचय, प्रमुख देवस्थान परिचय, अप्रधान देव स्थान परिचय, देवविग्रह परिचय दिया गया है।

प्रधान मन्दिर का विभाग– गर्भगृह[१]-विन्ध्यवासिनी का वर्तमान गर्भगृह कितना प्राचीन होगा इसके प्रमाण नहीं मिलते। यह गर्भगृह आयताकार है। इसके दक्षिणी पूर्वी कोने में विन्ध्यवासिनी देवी का विग्रह स्थित है जो दो स्तम्भों के बीच में है। विन्ध्यवासिनी का मन्दिर-वस्तुत: स्तम्भों के दो आयताकार परिसर के रूप में है। इसके छोटे परिसर के चारों ओर दीवाल बनाकर गर्भगृह के रूप में परिवर्तन कर दिया गया था। इस गर्भ गृह में प्रवेश के लिए पूर्व एवं पश्चिम की ओर से दो द्वार हैं। इन द्वारों के ऊपर गणेश की प्रतिमाएँ हैं। इसी प्रकार दो निकास मार्ग हैं जो क्रमश: पूर्व एवं दक्षिण की ओर खुलते हैं चारों द्वारों पर पीतल के ठोस दरवाजे है जो विन्ध्यवासिनी के भक्त हैहय वंशीयों द्वारा लगाए गए हैं।

गर्भ गृह मे देवी जी के विग्रह के निकट वर्गाकार पीतल का कटघर बना है, इसमें पूर्वद्वार से आने वालों के लिए उत्तराभिमुख एवं पश्चिमद्वार से आने वालों के लिए पश्चिमाभिमुख ३'×२.५' के छोटे उपद्वार बने है इनके माध्यम से पण्डे अन्दर जाकर यात्रियों का पूजा प्रसाद देवी को समर्पित करते हैं। गर्भगृह के पश्चिमी उत्तरी कोने पर बड़ा खजाना है। यह एक कम ऊँची छत वाली छोटी कोठरी है। जिसमें मंगला आरती एवं रात्रिकालीन प्रधान शृंगार की सामग्री रखी जाती है। यह कोठरी इस हेतु के लिए उसीकाल में बनाई गई होगी जब भगवती के गर्भ गृह की प्राचीरें बनी थीं। गर्भ गृह का एक प्रमुख हिस्सा है- झाँकी। देवी जी के विग्रह के ठीक सामने पश्चिमी दीवाल पर बाहर से दर्शन करने के लिए वातायन बनाया गया था। इसके सामने पंक्तिबद्ध खड़े होने के लिए लोहे के क्षैतिज दण्ड भी बने हैं

परिक्रमा – मुख्यदेवी के गर्भ गृह के बाहर उसी प्रकार आयताकार परिक्रमा क्षेत्र बना हुआ है जो द्वितीय स्तम्भ क्षेत्र में सीमित है। यात्रियों की अधिकता के कारण परिक्रमा क्षेत्र में पश्चिमी द्वार से चौक तक परिक्रमा क्षेत्र को अवरुद्ध करते हुए रेलिङ् बनाई गई है। परिक्रमा क्षेत्र अब महाकाली एवं सरस्वती मन्दिर के सामने से होकर जाता है।

चौक – पुराने परिक्रमा क्षेत्र के पश्चिमी भाग में एक वर्गाकार प्राङ्गण है। इसे चौक कहा जाता है। आजकल चौक के बीचोबीच यात्रियों पंक्तिमार्ग बना हुआ है। इसका

---

१. कुछ पण्डों का कथन है कि मन्दिर का निर्माण छत्रसाल बुन्देला ने कराया था। कल्याण के बालक अंक में विन्ध्यवासिनी मन्दिर तोड़ने के लिए आए हुए मुग़लों के साथ दर्शनार्थी यात्री के रूप में आए छत्रसाल के युद्ध की कहानी है। कुछ पण्डे छत्रसाल हाड़ा एवं बुन्देला दोनों के पण्डा होने एवं उनका हस्तलेख रखने का दावा भी करते है। यह निश्चित है कि मुग़लों ने विन्ध्यनगरी को ध्वस्त किया था। अत: हो सकता है कि छत्रसाल बुन्देला ने मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया हो। ऐसा भी बताया जाता है कि रीवाँ नरेश ने इस मन्दिर का पुनर्निर्माण या जीर्णोद्धार कराया था। सम्भव है जीर्णोद्धार के काल में ही गर्भ गृह के वर्तमान स्वरूप का निर्माण हुआ हो।

फर्श परिसर से नीचा है। यात्रियों का 'पंक्ति-मार्ग' इस चौक को बीच से दो भागों में बाँट देता है। दक्षिणी भाग में बलिवेदी है। उत्तरी भाग में मुण्डनस्थल है। यद्यपि मुण्डन स्थल निश्चित नहीं है। नाई लोग मन्दिर के गर्भ गृह एवं शृंगारिया के 'खजानों' के चबूतरों मन्दिर पर बने उपमन्दिरों के भीतरी भाग के अतिरिक्त कहीं भी बैठकर मुण्डन कर देते हैं। किन्तु सामान्यत: ऐसा तभी होता है जब मुण्डन के ज्यौतिषीय मुहूर्तों पर मुण्डन कराने वाले यात्रियों की संख्या अधिक हो। **बलिवेदी में महिषासुर के कटे हुए सर की मूर्ति है।**

महाकाली मन्दिर – बलिवेदी के दक्षिण महाकाली का वर्गाकार गर्भ गृह है। इसमें महाकाली की मूर्ति १.२५'×२' के पत्थर पर बनी हुई है। मूर्ति के दाहिने भाग में एक बड़ा सिन्दूर चर्चित खड्ग भूमि पर गड़ा है उसी के पास दीप स्तम्भ है बाएँ भाग में पुजारी के बैठने का स्थान है। इस मन्दिर की पूजन सामग्री एवं शैया आदि सम्भार इसी गर्भ गृह में ही रखा रहता है विन्ध्यवासिनी का दर्शन करने वाला प्रत्येक यात्री नियमत: इस मन्दिर में भी जाता है।

दुर्गा जी एवं कृष्ण मन्दिर – महाकाली मन्दिर से बाहर निकलने के लिए पश्चिम ओर एक द्वारा बनाया गया है। इस द्वार से निकलने पर सामने सामे छोटे मन्दिर दिखाई देते है इनमें प्रथम राधाकृष्ण मन्दिर एवं द्वितीय दुर्गा जी का मन्दिर है। दोनों मन्दिर दो अलग-अलग व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति मानी जाती है। राधा कृष्ण मन्दिर एक बड़े वर्गाकार प्रकोष्ठ के रूप में है। इसमें पश्चिम ओर प्रकोष्ठ के बीच के भाग में राधाकृष्ण के लिए छोटा गर्भ गृह बनाया गया है। इसमें राधाकृष्ण के साथ अन्य देवताओं की मूर्तियाँ भी हैं। इस मन्दिर में कुछ स्थानीय पण्डागण पाठपूजा किया करते हैं। इसका निर्माता कोई बंगाल का रहने वाला साधक था ऐसा बताया जाता है। दुर्गा मन्दिर एक बहुत छोटे कमरे के रूप में है। इसमें श्वेत संगमरमर की दुर्गा की प्रतिमा हैं।

खर्परेश्वर, भैरव, फूलमती एवं सिंह

मन्दिर के पश्चिमी सीमा पर कई छोटे-छोटे महत्त्वपूर्ण मन्दिर हैं।

बटुक भैरव की सिन्दूर चर्चित प्रतिमा पश्चिदक्षिणी दीवाल में स्थित है। इस मूर्ति में बटुक भैरव चतुर्भुज एवं पारम्परिक वाहन श्वान पर स्थित दिखाई देते है।

बटुक भैरव के पश्चिम खर्परेश्वर महादेव का मन्दिर है। इस मन्दिर के पुजारी विन्ध्याचल के गोस्वामी वर्ग के पण्डे हैं। यह मन्दिर भी अन्य उपमन्दिरों की भाँति एक प्रकोष्ठ के आकर का है। इस प्रकोष्ठ का द्वार इसके दक्षिणी अर्धभाग में है। उत्तरी भाग में ठोस पीतल का बहुभुजक्षेत्र है। इसी बहुभुज क्षेत्र के मध्य में शंकर का लिंग है। इस

बहुभुज क्षेत्र की भीतरी दीवालों पर विष्णु के अवतारों का विभिन्न स्वरूप पीतल की मूर्तियों के रूप में बना हुआ है। इस मन्दिर के दक्षिणी अर्धभाग के दक्षिणी दीवाल के पास दण्डधारी कालभैरव की मूर्ति है। इनकी पूजा जन्माष्टमी को भण्डारी परिवार द्वारा अर्धरात्रि में किया जाता है। प्रकोष्ठ के दक्षिणी पश्चिमी कोने पर एक कोठरी बनी हुई है जो सामान्यत: आम यजमानों के लिए नहीं खोली जाती। केवल प्रेतबाधा से पीड़ित यात्रियों के उपचार के लिए इसका द्वार खोला जाता है। इस कमरे में पश्चिमी ओर बीच में एक देवी की प्रतिमा है। इन्हें फूलमती कहा जाता है। इसके बाएँ पार्श्व में बुद्ध की किसी प्रतिमा का शिर रखा हुआ है।

शंकर जी के मन्दिर के बाहर विन्ध्यवासिनी के वाहन सिंह की मूर्ति विराजमान है। सिंह की मूर्ति सिन्दूर चर्चित है। इसकी ऊंचाई ४', चौड़ाई २.५' तथा लम्बाई ५.५' के लगभग है। इस मूर्ति को भी यात्री गण नियमित रूप से प्रणाम करते है तथा कुछ दक्षिणाभी चढ़ाते हैं।

सरस्वती, धाधा, हवन कुण्ड, शिव एवं हनुमान

पश्चिमी भाग में खर्परेश्वर शंकर के उत्तर सरस्वती की प्रतिमा है। इनका मन्दिर भी प्रकोष्ठ रूप में है। मूर्ति का स्वरूप अष्टभुजा है मूर्ति के पास एक छोटा सा कुण्ड है। इस कुण्ड से यात्री चरणामृत ग्रहण करते हैं।

इस प्रकोष्ठ के उत्तरी दीवाल के सहारे कुछ भग्न मूर्तियाँ स्थित है। इन मूर्तियों में दो मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। पश्चिमी ओर लक्ष्मीनारायण की मूर्ति है। जिसमें लक्ष्मी एवं विष्णु खड़े हैं तथा ऊपर शेष की छाया है। पूर्वी ओर महिषमर्दिनी की मूर्ति है। यह मूर्ति लगभग १.२५' ऊँची एवं १' चौड़ी है। इसमें पशु रूप महिषासुर को देवी द्वारा खड्ग से वध करते हुए दिखाया गया है। इन दोनों मूर्तियों का पुरातात्त्विक महत्त्व है। इन दोनों मूर्तियों की निर्मिति मथुरा कला की शैली में है।

खर्परेश्वर एवं सरस्वती मन्दिर के पीछे एक चौड़ी दालान है। इसके उत्तरी भाग में **धाधा देवी** का प्रकोष्ठ है। इसमें उत्तर ओर की दीवाल में एक अव्यक्त-विग्रह वाली मृण्मयी प्रतिमा है। यह कमरा भी हमेशा बन्द रहता है। केवल प्रेतोपचार के लिए खोला जाता है।

उक्त दालान के उत्तरी पश्चिमी भाग में प्रधान हवन कुण्ड है। यह हवन कुण्ड १०' गहरा ६' की भुजाओं वाला वर्गाकार क्षेत्र है। पूर्व की भुजा के मध्य में योनि बनाया गया है। इस कुण्ड का निर्माण कुछ वर्षों पूर्व ही किया जाता गया है। प्राचीन हवन स्थल विन्ध्यवासिनी के दक्षिणी भाग में बना था।

सरस्वती मन्दिर के बाहर एक ३′ ऊँचा शिवलिंग है उसके निकट हनुमान की मूर्ति उत्तरी दीवाल में स्थित है। इस मंदिर से दक्षिण पानी की टंकी के नीचे भैरव का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण स्थल है। यहीं से विन्ध्यवासिनी वाटिका का आरम्भ होता था।

ध्वजस्थल

चौक में मुण्डनस्थल के उत्तर में एक चबूतरा है। इस पर पीपल एवं नीम के वृक्ष एक साथ एक ही जड़ से उत्पन्न हुए है। ऊपर इनकी शाखाएँ एकदम पृथक् पृथक् बढ़ी है। सभी पण्डा एवं यात्री इस स्थल एवं वृक्ष को अत्यन्त पवित्र मानते हैं। इस के सहारे देवी जी की पताकाएँ बाँधी जाती है। इस चबूतरे के पास भी शंकर का एक छोटा सा मन्दिर है। यात्री इस चबूतरे के पास खड़े होकर पताकरा एवं वृक्ष को प्रणाम करते हैं।

पण्डोहा

विन्ध्यवासिनी की मूर्ति के पीछे एक कुण्ड बना हुआ है यह कुण्ड गोलाकार है। इसके ऊपर आच्छादन है। उसपर लगभग ९″ की काले पत्थर की बनी हुई भैरव की प्रतिमा है। इस कुण्ड में विन्ध्यवासिनी के चरणों में चढ़ाया हुआ पवित्रा जल सीधे पहुंचता है। उस कुण्ड तक प्रणालिका विन्ध्यवासिनी के विग्रह के पास से ही भूमि के अन्दर ही बनाई हुई है। जिससे पवित्र चरणामृत में अन्य किसी प्रकार का जल आदि द्रव्य मिल सके। कुण्ड से जल लेने के लिए दक्षिण उत्तर एवं पूर्व की ओर हाथ मात्र जाने लायक छिद्र हैं। कुछ यात्रीगण इस कुण्ड के चरणामृत को अमोघ औषधि मानते है तथा अनेक रोगों की एकमात्र दवा मानकर शीशी में भरकर साथ ले जाते हैं। कुण्ड के पूर्वी छिद्र से एक ढकी हुई प्रणाली सीढ़ियों तक गई है सीढ़ी के पास भी एक कुण्ड बना हुआ है। यह कुण्ड पत्थर को काटकर बनाया हुआ है। इस कुण्ड में पश्चिमी दीवाल में ब्रह्मा विष्णु एवं शिव की छोटी मूर्तियाँ अंकित है। जो धार्मिक मान्यतानुसार त्रिगुणात्मिका शक्ति विन्ध्यवासिनी के चरणामृत के स्नान से स्वयं को धन्य मानते हैं। इन दोनों कुण्ड को सम्मिलित रूप से पण्डोहा कहा जाता है। पण्डोहा यात्रियों के लिए विशेष धार्मिक महत्त्व का स्थल है। बड़ी आरती के शृङ्गारिया बड़ी आरती करने के बाद पण्डोहा के भैरव की भी पूजा एवं आरती करते है।

ये सभी स्थल परिक्रमा क्षेत्र में होने कारण यात्रियों के लिए स्वाभाविक रूप से आकर्षण के केन्द्र है।

मन्दिर के उक्त भाग के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण भाग है– **सप्तशती भवन।** यह महाकाली मन्दिर के पूर्व एवं विन्ध्यवासिनी गर्भगृह के दक्षिण में एक बड़े आयताकार

प्रकोष्ठ के रूप में स्थित हैं इसको महाराजकुमार विज़यनगरम् ने यज्ञ स्थल के रूप में बनवाया था। श्री विन्ध्य प्रसाद द्वारा घटित मन्दिर जीर्णोद्धार समिति ने १९८० से १९८२ ई० के मध्य इस भवन की ऊपरी दीवालों पर क्रमबद्ध रीति से कवच अर्गला कीलक रात्रिसूक्त पूर्वक दुर्गा सप्तशती का १३ अध्याय तथा देवीसूक्त एवं रहस्य त्रय लिखवाया था।

वस्तुतः १९७० ई० तक इस भवन में यज्ञ वेदिकाएँ बनी हुई थी। जिसमें अनुष्ठान करने वाले पण्डित एवं यात्रीगण हवन किया करते थे। १९७० ई० के पश्चात् यज्ञ वेदिकाएँ मन्दिर क्षेत्र से हटा दी गई। पूर्वोक्त यज्ञ स्थली हवन के लिए बनाई गई। यज्ञवेदिकाएँ हटाए जाने के पश्चात् यहाँपर पण्डित गण पाठ करने लगे। यद्यपि नवरात्र के दिनों में यज्ञ वेदिकाओं के धूम्रपुञ्जों से व्याप्त वातावरण में भी पण्डित गण बचे हुए स्थल का उपयोग पाठ करने के लिए करते ही थे। किन्तु यज्ञ वेदिकाएँ हटने के बाद यह बृहत्प्रकोष्ठक सम्पूर्ण रूप से पाठ स्थली के रूप में परिवर्तित हो गई। नवरात्र के दिनों में पण्डितों से भरे रहने के कारण यात्रियों के आवागमन में असुविधा के कारण अब नवरात्र में यह दर्शनार्थियों के लिए किया जाने लगा है। १९८९ ई० से विरला धर्मार्थ न्यास विन्ध्यवासिनी मन्दिर का पुनर्निर्माण कर रहा है। निर्माण की इस प्रक्रिया में सप्तशती भवन में लगे सप्तशती के मन्त्र लिए हुए संगमरमर के पट्ट उतार दिए गए हैं। विजयानगरम् हॉल कहा जाने वाला यह स्थल १९८० ई० से सप्तशती भवन संज्ञा पा चुका है। आज सप्तशती इस भवन में उट्टंकित नहीं है। पण्डितों द्वारा सप्तशती पाठ भी नहीं होता फिर भी यह सप्तशती भवन ही कहा जाता।

इस प्रकोष्ठक के दक्षिण में एक स्थान है इसमें १९१७ में पण्डा विश्वनाथ प्रसाद पाण्डेय ने अखिल भारत वर्षीय संस्कार समिति की स्थापना की थी जो अब भी चल रही है। इन समितियों में यात्री गण अपने बच्चों का सामूहिक उपनयन स्थानीय पण्डितों द्वारा कराते हैं। इस दालान के पूर्व में एवं दक्षिण में क्रमशः शिव, गणेश एवं पुनः शिव के मन्दिर है। परिक्रमा क्षेत्र से दूर होने के कारण इस पवित्र केन्द्र का व्यावहारिक महत्त्व अधिक नहीं है।

श्राद्धक्षेत्र-रामगया

विन्ध्याचल के पश्चिम में शिवपुर ग्राम के गंगा तट श्राद्ध स्थली के रूप में प्रसिद्ध है। आश्विन कृष्ण पक्ष (पितृ पक्ष) में इस स्थल पर श्राद्ध करने वालों की यात्रा होती है। पितृविसर्जिनी अमावास्या को राम गया में ५० हजार से अधिक श्राद्ध यात्रियों का आगमन होता है। इस घाट पर प्रेतशिला एवं धर्मशिला है।

प्रथम सहस्त्राब्दी में विन्ध्यवासिनी मन्दिर का स्वरूप

वाक्पतिराज ने विन्ध्यवासिनी मन्दिर को ७ वीं शती मे इस रूप में देखा था- विन्ध्यवासिनी के आसपास एक विस्तृत पुष्पवाटिका है (२९९)। उस वाटिका मे मयूर नृत्य करते हुए विचरण करते रहते हैं। मन्दिर भवन के समक्ष एक आँगन या चौक था उस चौक में सहस्त्रों भ्रमर लोटते रहते हैं (२८७)।

मन्दिर भवन में कौलों की पत्नियों ने (३१९) विलास वश हंसों के पैरों में नूपुर बाध कर छोड़ दिया है। ये हंस समूह मन्दिर में विचरण किया करते हैं (२८१)।

नित्य प्रति भक्तों द्वारा हवन किया जाता है उसके धूम के पुञ्ज मन्दिर में चारों ओर छाए रहते हैं। इसी प्रकार धूपोपचारदान के धूम भी मन्दिर को व्याप्त करके दिन में भी अन्धकार कर देते हैं (३००)। मन्दिर में पशुबलि के पूर्व पशुमुण्डोपहार के पूर्व बलि के चावल बिखरे रहते हैं (३०७)। मन्दिर में बलिस्थली में लाल पताका एवं योगिनियों की प्रतिमाएँ शिलाओं पर उत्कीर्ण रहा करतीं उन प्रतिमाओं को शृगालियाँ रक्तप्रवाह के भ्रम से चाटा करती (३१०)। सन्ध्या काल में अनेक सिद्धों एवं उपासकों द्वारा विविध प्रकार के सुगन्धित धूपों का समर्पण देवी के प्रति होता। इसकारण मन्दिर के आसपास चलने वाली हवाएँ सुगन्धित रहा करती (३१५)। मन्दिर के चारों ओर अनेकों लालरंग के ध्वजों के झुण्ड फहराते रहते। ये ध्वज पताकाएँ ऐसी प्रतीत होती मानों प्रतिदिन होने वाले पशुओं के शिरश्छेदन से उत्पन्न रक्तधारा को पीकर उसी का उद्वमन कर रही हों (३२२)। स्वभावत: शुष्कशरीर वाली महामारियों की अधिष्ठात्री देवता आपके निकट रहने वाले महाप्रेत (भैरव) के भय से क्षीणमांस वाली दिखाई देती है। भगवती के मन्दिर के निकट वृक्षों की विशाल शाखाएँ रहा करतीं हैं। उनकी शाखाओं के फरसे के प्रहार से छिल जाने से लालरंग का कषायरस निकलता है। वह रस वृक्ष की शाखाओं में रक्तरंजित भुजाओं वाले पूजक का भ्रम उत्पन्न करती है (३३०)।

भगवती का तोरणद्वार घंटों की शृंखलाओं से सुशोभित रहता है। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों महिषासुर के परिवार के कण्ठों से उसे छीन कर यहाँ लगाया गया हो (२८५)। देवी के द्वार पर स्थान स्थान पर रुधिर का उपहार दिए रहते हैं। उन उपहारों के रक्ताभ लक्ष्य भगवान शिव के प्रणय में रुष्ट होने पर विखण्डित संध्या की अरुणिमा के टुकड़ों की भाँति शोभित होते हैं (२९४)। मन्दिर के स्तम्भों पर पावक महावर लगे होते हैं (३३२)।

भगवती का गर्भ गृह बड़ा है उसमें प्रकाश का अभाव रहता है। उस गर्भ गृह में अनेकों दीपक जलते रहते हैं। तथा बलिपशुओं के अनेकों मुण्डोपहार रखे रहते हैं।

(३१८)। गर्भगृह के भीतर अनेको वीरों द्वारा विजय के उपलक्ष्य में भगवती को समर्पित अनेक खड्ग धनुष एवं तलवार सुशोभित होते रहते हैं। ये शस्त्र इतनी अधिक मात्रा में हैं कि इन शस्त्रों से घना अन्धकार उत्पन्न हो जाता है तथा दिन में भी इस अन्धकार में उलूक निवास किया करते हैं। (३०६)। भगवती के समक्ष महिषासुर का मुण्ड स्थापित था। एवं भगवती के चरण नख की कान्ति से धवलित हिमखण्ड सा लगता है। (२८६)।''

विन्ध्यवासिनी मन्दिर
(गउडवहो के अनुसार)

१. वन्दीकृत महिषासुर कुल कण्ठोन्मोचितैरिव त्वया।
माधवि घण्टादामभिर्मण्डितं तोरणद्वारम्॥ (२८५)

२. दृष्टं साहाय्यारूढं तुहिनगिरिखण्डदत्तपीठमिव।
महिषासुरस्य शीर्षं तव चरणनखप्रभामण्डितम्॥ (२८६)

३. भ्रमरावलयो भैरवि तव भवनाजिरे सामोदे।
स्तुतिमात्रोन्मोचितजन्तुनिगडमाला इव लुठन्ति॥ (२८७)

४. शोभसे नारायणि रणन-शील-नूपुरारावमिलितहंसकुले।
भवने कपालाविलश्मशानरागेणेव भ्रमन्ती॥ (२९१)

५. तव द्वारं स्थान स्थान दत्त रुधिरोपहारमाभाति।
हरप्रणयरोषविशंसित संध्या शकलावतीर्णमिव॥ (२९४)

६. तव वदनच्छविभिद्यमानविकटतमोमण्डलाः सदा विभान्ति।
कैरपि दीयमान महामहिषा इव भगवति प्रदोषाः॥ (२९५)

७. निमेषमपि नैव मुच्यते आयतोपवनमण्डलं तव।
सन्निहितकुमारमयूरस्नेहरसिकैरिव शिखिभिः॥ (२९९)

८. पीत्वेव उपहारादरेषु धूमधूपपटलानि।
उद्वमसि बहुलरजनी भविषु निरन्तरम् तिमिरम्॥ (३००)

९. वीरवितीर्णविकोशासिधनुकरवालकान्तिरुज्जलितम्।
दिवसेऽपि देवि अशङ्ककौशिकं गर्भभवनं ते।। (३०६)

१०. त्वमस्तारुणरविमण्डलेन मुण्डोपहार पूर्वमिव।
तारानिभकृतबलितण्डुलया पूज्यसे निशया।। (३०७)

११. सुलभोपहार रुधिरप्रवाह संभावनया लिह्यन्ते।
अरुणपताका प्रतिमागर्भाः शिला इह शिवाभिः।। (३१०)

१२. सदा सिद्धसिद्धिमण्डलप्रदीपपरिकम्पिनः प्रदोषेषु।।
तवोत्सव गन्धसुखाः सुखयन्ति समीरणोद्गाराः।। (३१५)

१३. गम्भीरगर्भमन्दप्रभास्तव देवि दीपमालाः।
उपहारमुण्डकेशान्धकारमूढा इव स्खलन्ति।। (३१८)

१४. विशस्यमान महापशुदर्शनसंभ्रमपरस्परारूढाः।
गमन एव गन्धकुटीं कुर्वन्ति तव कौलनार्यः।। (३१९)

१५. ध्वजपटधारानिवहैर्मन्दिरं ते नवारुणाभैः।
प्रतिदिवसपशुशिरश्छेदपीतमामुञ्चति रुधिरमिव।। (३२२)

१६. मेधायमानं तव तृतीयनयनशिखिधूममण्डलं शोभते।।
वासुकि जिह्वालभन्ते तडिल्लताविभ्रमं यत्र।। (३२३)

१७. प्रकृतिपरिशुष्ककाया पुरतः संचरति रेवती तव।।
इह सदा संनिहित महाप्रेतभयमुक्तमांसेव।। (३२९)

१८. पूज्यसे भिन्नभुजवितीर्णरुधिरमिव पादपैरपि।।
परशुप्रहार विगलित कषायरसशोणशाखैः।। (३३०)

१९. अन्योन्यकलहविगलितकेसरकीलालकलित द्वाराः।।
वृकवाकवोऽपि तव देवि शासनमनुसरन्तीव।। (३३१)

२०. उपहारतुडितमांसमण्डलाडम्बरोद्भटैरिव॥

डिम्बं यावकपटमण्डनैः स्तम्भैर्विविधास्ते॥ (३३२)

२१. इति विन्ध्यगुहानिलयाः वस्त्रदलशबरशिष्टमार्गायाः।

प्रभुणासपरिकरं भगवत्यै विहितो नमस्कारः॥ (३३८)

पवित्र केन्द्र (काली खोह क्षेत्र)

कालीमन्दिर

'काली खोह' विन्ध्याचल नगर के दक्षिण में ४ कि०मी० दूर वन्य प्रान्त में स्थित एक छोटे पवित्र क्षेत्र को कहते है। इस परिसर में काली, भद्रकाली, पवित्रकूप, शिव, भूतनाथ पवित्रकुण्ड स्थित है। इन सभी स्थलों के (शिव को छोड़कर) नियमित दर्शनार्थी भक्त आते है। त्रिकोण यात्रा का द्वितीय बिन्दु होने के कारण यह क्षेत्र प्रथम पवित्र केन्द्र से सम्बद्ध है। इस केन्द्र की अधिष्ठात्री को भी विन्ध्यवासिनी नाम से ही विन्ध्यमाहात्म्य ने सम्बोधित किया है।

विन्ध्याचल नियमित रूप से या नवरात्र के अवसरों पर आने वाले अधिकांश यात्री इस धार्मिक स्थली पर आते हैं। १९८२ ई० के पूर्व इस स्थली तक जाने का मार्ग कच्चा था।

वर्तमान 'कालीखोह' में खोह या कन्दरा जैसी कोई स्थली नही है। यह स्थल एक मन्दिर के रूप में है। यह मन्दिर एक आयताकार क्षेत्र दीवालों से घेर कर बनाया गया है। इस मन्दिर के दो विभाग है– १. महाकाली का मन्दिर, २. कालीकूप परिसर, महाकाली के मन्दिर का प्रवेश द्वार पूर्व एवं पशिचम दोनों ओर लगभग आमने सामने बना हुआ है। पूर्वी द्वार के दक्षिणी पार्श्व में हवन कुण्ड एवं उत्तरी पार्श्व में प्रसाद की दुकानें हैं। अतः प्रकोष्ठ में ३ प्रमुख धार्मिक स्थल हैं। तीनों एक ही पंक्ति में दक्षिण से उत्तर की ओर छोटे-छोटे गर्भगृहों के रूप में है। दक्षिण में महाकाली का गर्भगृह है। इस छोटे गर्भगृह में ३ द्वार हैं जो पूर्व दक्षिण एवं उत्तर की ओर खुलते है। दर्शनार्थी पूर्वी द्वार से प्रवेश करके दक्षिणीद्वार से बाहर निकलकर परिक्रमा क्षेत्र में पहुंचते है।

महाकाली के गर्भगृह के मध्य में महाकाली की मूर्ति हैं। आपाततः देखने से यह मूर्ति पूर्वाभिमुख लगती है। किन्तु वस्तुतः यह उत्तराभिमुख स्थापित है। मूर्ति ऊर्ध्वमुखी है

किन्तु धड़ के भाग से दिशा का ज्ञान होता है कि उत्तर दिशा की ओर इस मूर्ति का अग्रभाग प्रतिष्ठित है। महाकाली के दाएँ भाग में प्रस्तर की बनी हुई मानव खोपड़ी एवं बटुक भैरव की छोटी मूर्ति भी है। बाएँ भाग में पुजारी का स्थान है। महाकाली के उत्तर में शिव का स्थान है। शिव के उत्तर में भद्रकाली का मन्दिर है। भद्रकाली एवं काली दोनों का इस केन्द्र में समान महत्त्व है। भद्रकाली के प्रकोष्ठ में एक ही द्वार है जो पूर्व की ओर है भद्रकाली के दक्षिणी भाग में हनुमान की मूर्ति भी प्रतिष्ठित है। इन तीनों प्रकोष्ठों के चारों ओर दालान है जो परिक्रमा क्षेत्र कहा जाता है। परिक्रमा क्षेत्र के बाहर उत्तरपूर्वी एवं दक्षिणपूर्वी कोणों पर पुजारियों का कक्ष है। मन्दिर के पश्चिम में एक वर्गाकार खुला क्षेत्र है। इसके मध्य में कालीकूप नामक प्रसिद्ध कुआँ है। इस कुएँ का जल अत्यन्त पौष्टिक एवं पवित्र माना जाता है। मन्दिर में पूजन आदि की व्यवस्था इसी कूप के जल से होती है। जाड़े के दिनों में बंगाल से सैकड़ों परिवार विन्ध्याचल आकर किराए के मकानों में रहते हैं तथा कालीकूप के जल का ही सेवन करते हैं। इन यात्रियों की मान्यता है कि इस कूप के जल में क्षयरोग, उदर रोग एवं मूत्र प्रणाली सम्बन्धी रोगों को समाप्त कर देने की औषधीय क्षमता है। बताया जाता है कि १९६८ ई० में किसी ने इस जल का प्रयोगशाला में परीक्षण किया था। परीक्षण में यह ज्ञात हुआ था कि इस जल में अभ्र (Mica) एवं स्वर्ण का अंश है। सम्भवत: जिन स्रोतों से यह जल इस कूप तक पहुंचता है वे स्रोत स्वर्ण एवं अभ्र की चट्टानों को घर्षित करते हुए इस कूप तक जलाहरण करते हों। इस कूप का धार्मिक महत्त्व तो है ही सामाजिक महत्त्व उससे कहीं अधिक है। विन्ध्याचल मीरजापुर क्षेत्र के नागरिक भी बहुधा इस कूप के जल की गुणवत्ता से आकर्षित होकर कालीखोह आया करते हैं। महाकाली मन्दिर के बाहर पूर्व की ओर महाकाली की मूर्ति के ठीक सामने बलिवेदी है।

इस परिसर का दूसरा भाग मन्दिर के बाहर पश्चिमी भाग है। इस भाग का पौराणिक दृष्टि से महत्त्व नहीं है किन्तु जो यात्री किसी कामना से महाकाली के मन्दिर में आते हैं उनके लिए इस क्षेत्र का महत्त्व है। महाकाली मन्दिर के बाहर पश्चिम में 'भूतनाथ' नाम से एक देवता का स्थान है। मन्दिर अधिक पुराना नहीं प्रतीत होता है। सम्भव है कभी इस देवता का स्थान खुले क्षेत्र में रहा हो। कुछ लोगों के अनुसार यह भैरव का स्थान है। कुछ का कथन है कि यह स्थान महाकाली के एक साधक का है। इस स्थान पर प्रेतबाधा से पीड़ित यात्रीगण आते हैं तथा प्रेतोपचार कराते है। भूतनाथ की मूर्ति के बाईं ओर एक छिद्र है। प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्ति भूतनाथ से प्रेत से मुक्ति की प्रार्थना करने के पश्चात् लौंग २ नीबू, फूल, सुपारी, जायफल हाथ में लेकर पीड़ित व्यक्ति इस छिद्र

में हाथ डालता है तथा सारी सामग्री उसी में छोड़ देता है। यह क्रिया प्रेतोपचार के रूप मे की जाती है। काली खोह आने वाले अथवा त्रिकोण यात्रा करने वाले यात्रीगण भी इस स्थान पर श्रद्धा सुमन चढ़ाते हैं।

भूतनाथ के दाई ओर एक छोटा मार्ग है इस मार्ग पर १०० कदम चलने पर **कालीकुण्ड** नामक स्थान है। यह स्थान एक पहाड़ी झरने के रूप में है। इस झरने में बरसात के अतिरिक्त दिनों में भी पत्थरों के बीच से अत्यन्त धीमी गति से पानी आता है। इस सोते के पास एक चट्टान है इस चट्टान को काट कर ७" गहरा तीन त्रिकोणात्मक एवं एक वर्गाकार कुण्ड है। शाक्तपीठों में त्रिकोण आकृति का अत्यधिक महत्त्व है। ऐसा भी कहा जाता है कि ३०० वर्षों पूर्व कालीकुण्ड के पास ही महाकाली की मूर्ति स्थापित थी। यात्री इस कुण्ड का दर्शन करने जाते हैं।

इस क्षेत्र के आसपास पर्वतीय क्षेत्र में छोटे-छोटे मकान भी बने हैं। बताया जाता है कि इन मकानों में कभी साधकगण निवास करते थे। अब ये मकान निर्जन ही रहते हैं। कभी-कभी साधु सन्यासी इनमें वास किया करते हैं।

अष्टभुजाक्षेत्र

विन्ध्याचल से लगभग ४ किलोमीटर दूर अष्टभुजा देवी का परिसर स्थित है। अष्टभुजा के मन्दिर क्षेत्र का अधिकांश भाग खुला है। मन्दिर में परिक्रमा क्षेत्र नहीं बना हुआ है। देवी की प्रतिमा पत्थर की गुफा मे स्थापित है।

अष्टभुजा देवी के गर्भगृह का द्वार उत्तर की ओर खुलता है। देवी की मूर्ति भी उत्तराभिमुख है। यह गर्भगृह पत्थर के दो चट्टानों के बीच में बने अवकाश में स्थित है। देवी के दाएँ भाग में पुजारी बैठता है। दाएँ भाग से ही बाहर निकालने का मार्ग कुछ वर्षों पूर्व बना दिया गया है।

इस परिसर के बाएँ भाग में काली का स्थान है। काली की यह मूर्ति एक गुफा में भूमिगत मार्ग से जाने पर दृष्टिगोचर होती है। इस स्थान को **पातालकाली** का स्थान कहा जाता है। कुछ लोग अष्टभुजा के वर्तमान स्थान के पीछे अष्टभुजा देवी का मूल स्थान होने की किंवदन्ती सुनाते हैं किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस पवित्र क्षेत्र में भैरव, शिव, हनुमान के छोटे छोटे मन्दिर है। इस स्थल की महिमा का गान विन्ध्यमाहात्म्य अध्याय ३२ में किया गया है। विन्ध्य माहात्म्य (३२/२) के अनुसार यह क्षेत्र एक योजन विस्तृत है। इसी क्षेत्र में रामकुण्ड रामेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, भरतेश्वर, लाङ्गूलेश्वर सीताकुण्ड सीतेश्वर की स्थिति मानी गई है (वि० महा० ३२)।

विन्ध्य माहात्म्य (३२/३-४) का कथन है कि राम ने करणावती-गंगा संगम पर एक शिला स्थापित की थी। इस शिला पर श्राद्ध करना चाहिए। यह धर्मशिला ऋषियों ने शिवपुर के बाहर स्थापित की थी (वि० महा० ३३/७) वर्तमान में ये दोनों शिलाएँ रामगया घाट पर कही जाती है। धर्मशिला की भी स्थापना करणावती-गंगा संगम पर राम की आज्ञा से श्राद्ध के लिए स्थापित की गई थी। इसी स्थल को रामगया कहा जाता है (वि० महा० ३३/८-१३)। रामगया घाट करणावती-गंगा संगम के निकट ही है।

इस श्राद्ध क्षेत्र से कालीखोह के भूतनाथ मन्दिर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक यात्री अपने पितरों को प्रेतयोनि से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना भूतनाथ मन्दिर में करने के पश्चात् रामगया जाकर उनका श्राद्ध करते है। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार के पितर पूर्ण मुक्त हो जाते है।

क्षेत्रीय महत्त्व का धार्मिक परिसर

इस परिसर में त्रिकोण क्षेत्र के बाहर स्थित शिव एवं विष्णु के पूजास्थल कुछ पवित्र सरोवर आदि धार्मिक केन्द्र परिगणित हैं इनमें कुछ त्रिकोण की परिधि के अन्तर्गत है किन्तु त्रिकोण यात्रा के धार्मिक केन्द्रों में इनकी गणना नहीं की जाती। ये धार्मिक स्थल संख्या में २५ है। इनमें से अधिकांश त्रिकोण यात्रा के बाह्य परिसर में स्थित हैं। इन सभी धार्मिक स्थलों का क्षेत्रीय महत्त्व है।

सप्तसागर के गणेश से मुक्तिसरोवर (मोतियातारा) सीताकुण्ड, रामेश्वर - दूधनाथ, वामन मन्दिर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र एक मण्डल के रूप में है। सभी २५ धार्मिक केन्द्र इस मण्डल के अन्तर्गत है। त्रिकोण यात्रा परिसर भी इसी मण्डल के अन्तर्गत है।

इन केन्द्रों में कन्तित ग्राम स्थित लाल भैरव नाथ अलख सम्प्रदाय के द्वारा स्थापित है एवं एक मठ के रूप में विकसित है। भैरवाष्टमी इनके विशेष पूजन का पर्व होता है धार्मिक केन्द्र को सिद्ध स्थल माना जाता है।

रामगया घाट पर स्थित तारा मन्दिर बहुत प्राचीन नहीं है। विन्ध्यमाहात्म्य में इसका उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार रामेश्वर मन्दिर (शिवपुर) में शिवलिंग के दाहिनी ओर स्थित गणेश की, स्त्री मूर्ति, गणेश्वरी एवं गणेश्वर की चर्चा भी विन्ध्यमाहात्म्य में नहीं है। किन्तु मूर्तियाँ प्राचीन हैं।

शिवपुर में स्थित संकठादेवी की मूर्ति पुरातत्त्वविदों ने प्राचीन माना है। षष्ठी देवी की एक मूर्ति डाकबंगले के निकट स्थित हैं। मन्दिर नहीं है। मूर्ति भग्न है किन्तु प्रतिवर्ष

स्कंद षष्ठी को इस स्थान पर क्षेत्रीय भक्तजन सपरिवार आते हैं तथा पूजन करते हैं। दोनों स्थल विन्ध्यमाहात्म्य में नहीं उल्लिखित हैं।

शिवपुर का रामेश्वर मन्दिर प्राचीन माना जाता है। इस पर एवं इसके निकटवर्ती 'लक्ष्मणेश्वर' एवं 'भरतेश्वर' शिव मन्दिरों पर विन्ध्याचल के गोसाइयों का अधिकार है। यह मन्दिर इस सम्पूर्ण क्षेत्र का अपेक्षाकृत बृहदाकार मन्दिर कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त प्रत्येक प्रमुख केन्द्रों के निकट उनेक उपकेन्द्र हैं जो आधुनिक काल में व्यावहारिक उपासना केन्द्र है। इन स्थलों पर विन्ध्याचल के नागरिक एवं यात्री दोनों ही पूजनार्थ जाते है इन केन्द्रों की वर्गीकृत सूची इस प्रकार है–

विन्ध्यक्षेत्र के अन्य केन्द्र (क्षेत्रीय महत्त्व के)

१. लाल भैरव , २. नाग कूप, ३. कपाल भैरव (टोकिया), ४. संकटा देवी, ५. शायरी देवी (रेहड़ा), ६. शायरी देवी (पटिंगरा), ७. शीतला (पटिंगरा), ८. रामेश्वर, ९. लक्ष्मणेश्वर, १०. भरतेश्वर, ११. तारा, १२. दूधनाथ, १३. वामन विष्णु, १४. वन खण्डेश्वर, १५. मंगला गौरी, १६. सीता कुण्ड, १७. सीता, १८. मच्छन्दरा कुण्ड, १९. षष्ठी देवी, २०. मुक्तेश्वर, २१. मोतिया तालाब (मुक्तिसर), २२. प्रत्यंगिरा, २३. कजरहवा तालाब, २४. सप्त सागर सरोवर, २५. सप्तसागर गणपति, २६. गणेश्वरी (रामेश्वर मन्दिर), २७. गणेश्वर (राम गया), २८. संकट मोचन (बिरोही), २९. कंकाल काली (बिरोही)

विन्ध्याचल के पवित्र केन्द्र (एक दृष्टि में)

प्रधान केन्द्र

१. विन्ध्यवासिनी, २. महाकाली, ३. अष्ट भुजा, ४. रामगया,

विन्ध्यवासिनी दरबार

१. महाकाली, २. महासरस्वती, ३. विन्ध्यवासिनी का वाहन सिंह, ४. विन्ध्यवासिनी ध्वज, ५. पीपल एवं नीम का युग्मवृक्षा-निशान, ६. हवन कुण्ड, ७. पण्डोहा (चरणामृत कुण्ड), ८. खर्परेश्वर, ९. धाधा (प्रेत देवी), १०. फूलमती (प्रेत देवी), ११. भैरव (सर्परेश्वर मन्दिर में), १२. शीतला, १३. बलिदेवी, १४. महिषासुर, १५. योगिनी

विन्ध्यवासिनी दरबार के अन्य केन्द्र

१. विन्ध्येश्वर शिव, २. हनुमान (विन्ध्येश्वर), ३. क्षेत्रपाल भैरव (थाने के निकट), ४. शीतला, ५. सुगन्धी देवी, ६. गङ्गेश्वर शिव, ७. लक्ष्मीकुण्ड (पक्का घाट), ८. विष्णु (पक्काघाट),९. भैरव (पक्का घाट), १०. हनुमान (बस्तर), ११. हनुमान (निहुट), १२. हनुमान (बान्धव बाँधवा)

महाकाली (कालीखोह) क्षेत्र के केन्द्र

१. महाकाली, २. भद्रकाली, ३. भूतनाथ, ४. प्रेत विवर, ५. काली कुण्ड, ६. सिद्ध गुफा, ७. शिव (तारकेश्वर), ८. पातालपुरी हनुमान, ९. कर्णगिरि की पवित्र बावड़ी, १०. काली कूप

अष्ट भुजा क्षेत्र के केन्द्र

१. अष्ट भुजा, २. पाताल काली, ३. भैरव कुण्ड, ४. भैरव, ५. काली, ६. श्री यन्त्र, ७. गेरुआ तालाब, ८. कृष्ण मन्दिर (गेरुआ)

राम गया

१. प्रेत शिला, २. धर्म शिला ३. तारा मन्दिर।

विन्ध्य माहात्म्य सम्पूर्ण क्षेत्र मे प्रतिष्ठित शिवलिंगों की नामावली एवं स्थिति की सूचना देता है। इसे इस सूची द्वारा जाना जा सकता है।

विन्ध्यमाहात्म्य के अनुसार विन्ध्य क्षेत्र के शिवलिंग

क्रम	शिवलिङ्ग	स्थिति	विं. मा.
१.	तारकेश्वर	विन्ध्याचल से पूर्व	६।२४
२.	१. भृंगीश्वर २. चतुर्वेदेश्वर ३. सारस्वत ४. तीर्थेश्वर ५. धर्मशास्त्रेश्वर ६. शैलेश्वर ७. क्षीरसागर ८. मन्त्रेश्वर ९. त्रिपुरेश १०. बागेश्वर ११. वैरोचनेश्वर १२. भीष्मेश्वर	पूर्व सभी तारकेश्वर के आस पास स्थित है	६।३१-४१

३.	नारायणेश्वर	तारकेश्वर से पश्चिम	११।२३
४.	धर्मेश्वर	सनकादि कुण्ड से पश्चिम	२०।२
५.	गोकर्णेश	सनकादि कुण्ड से पश्चिम	२०।४६
६.	रामेश्वर	विन्ध्याचल से पश्चिम	
७.	लक्ष्मणेश्वर		
८.	भरतेश्वर		
९.	सीतेश्वर		३२।४६-५०
१०.	लांगूलेश्वर		
११.	अक्रोधेश्वर		३६।४८
१२.	मुक्तेश्वर		३६।४८

विन्ध्यवासिनी यन्त्र के केन्द्र

नाम	स्थिति	उद्धरण
त्रिरूपा विन्ध्यवासिनी	नाग कुण्ड से पश्चिम विन्ध्यक्षेत्र	२६।३
१. महालक्ष्मी	विन्ध्यक्षेत्र का पूर्वीभाग	२६।३
२. महाकाली	विन्ध्यक्षेत्र का दक्षिणी भाग	२६ एवं २७
३. महासरस्वती	विन्ध्यक्षेत्र का पश्चिमी भाग	
४. अग्नि देवी	महाकाली के पूर्व कोण में	२७।३६-३७
५. प्रेत देवी	महाकाली के पूर्व दक्षिण	
६. महाशक्ति	महाकाली के पश्चिम	
७. विजया	महासरस्वती के निकट	२७।३७
	त्रिकोण के बाहर	२७।३९
१. डाकिनी		
२. शकिनी		
३. लाकिनी		
४. काकिनी		

५. शकिनी

६. हाकिनी

१. ब्राह्मी, २. माहेश्वरी, ३. कौमारी, ४. वैष्णवी, ५. वाराही, ६. माहेन्द्री, ७. चामुण्डा
वृत्तके आगे अष्टदल में २७।४०-४१

षट्कोण एवं वृत्त के बाहर २७।४४-४७

१. पश्चिमी, २. कामिनी, ३. मोदिनी, ४. विमला, ५. अरुणा, ६. जयिनी, ७. सर्वा, ८. ईश्वरी, ९. अनंगकुसुमा, १०. अनङ्ग मेखला, ११. मदना, १२. अनंगवेदिनी, १३. अनङ्गमदनातुरा, १४. अनंगाङ्कुशा, १५. अनंग मातंगा,

चतुर्विंशद दल २७।५०-५४

१. विष्णुमाया, २. चेतना, ३. महाबलवती, ४. बुद्धि, ५. निद्रा, ६. क्षुधा, ७. छायाशक्ति, ८. तृष्णा, ९. क्षान्ति, १०. जाति, ११. लज्जा, १२. शान्ति, १३. श्रद्धा, १४. कान्ति, १५. लक्ष्मी, १६. वृत्ति, १७. धृति, १८. स्मृति, १९. दया, २०. तुष्टि, २१. पुष्टि, २२. मातृरूपाभ्रान्ति, २३. इन्द्रियाणामधिष्ठातृ, २४. चित्तरूपा,

२७।५४१-५५

अन्य देवता

१. गणेश यन्त्र का चतुर्द्वार

२. कीर्तिकेय (पूर्व क्रम से)

३. पुष्पदन्त

४. विकर्तन

आनन्दभैरव यन्त्र का पूर्वभाग २७।५५

सिद्धिनाथ यन्त्र का पश्चिम

पवित्र कुण्ड (विं माहा. के अनुसार)

कुण्ड नाम	निर्माता	स्थिति	उद्धरण
१. तारक	तारक	विन्ध्याचल से पश्चिम	६।२६
२. त्रैपुर	त्रिपुर	तारक कुण्ड के निकट	६।३९
३. भीष्म	त्रिपुर	तारक कुण्ड के निकट	६।४१
४. नारायण सर	विष्णु	तारक कुण्ड से पश्चिम	९।४-५; ११।२०
५. लक्ष्मी कुण्ड	विष्णु	तारक कुण्ड से पश्चिम	११।६०

६. ब्रह्मा	ब्रह्मा	महालक्ष्मी कुण्ड से पूर्व ५० धनुष	१५।६
७. सप्तर्षि	ब्रह्मा	ब्रह्मा कुण्ड से पश्चिम २० धनुष	१६।१
८. सनकादि	ब्रह्मा	सप्तर्षि कुण्ड के पूर्व	१७।१६
९. मरीच्यादि	ब्रह्मा	सनकादि के पश्चिम	१८।२३-२७
१०. धर्मकुण्ड	ब्रह्मा	(अदृश्य)	२०।१
११. गोकर्ण	गोकर्ण	(अदृश्य)	२।४५
१२. योगीश्वर	अधोरनाथ	विन्ध्याचल से पूर्व गोकर्ण के पश्चिम	२१।१३
१३. नाग	नाग	पुण्यौघानदी से पश्चिम	२५।२९
१४. राम	राम	विन्ध्याचल से पश्चिम	३२।४६-५०
१५. लक्ष्मण	लक्ष्मण	विन्ध्याचल से पश्चिम	
१६. भरत	भरत	विन्ध्याचल से पश्चिम	
१७. सीता	सीता	विन्ध्याचल से पश्चिम	
१८. मुक्ति	मुक्ति ऋषि	संकट मोचन से पूर्व	३६।४६

अन्य धार्मिक स्थल

पुण्यौघा गंगा संगम	विन्ध्याचल से पूर्व	२४।२७
वामन विष्णु	पुण्यौधा गंगा संगम के निकट	२५।१
रामगया, धर्मशिला	विन्ध्याचल से पश्चिम	३२।१
अक्रोध नगर	विन्ध्याचल से पश्चिम तपः भूमि	३६।३५
मणिद्वीप का मार्ग	मुक्तिकुण्ड से दो हाथ	३७।१-२२
विवर	दूर	

भैरव

कपाल भैरव	यन्त्र का दक्षिणी भाग	२७।५६
रूरू भैरव	यन्त्र का उत्तरी भाग	

सप्तम अध्याय

धार्मिक कृत्य

यह अध्याय विन्ध्यक्षेत्र में प्रायोगिक रूप से किए जाने वाले धार्मिक एवं उपासना परक कृत्यों को समर्पित है।

धरना

विन्ध्याचल में धरना का वह स्वरूप नही है जिस प्रकार का स्वरूप अन्य तीर्थों में पाया जाता है। मुख्यत: बिहार एवं बंगाल के शैवमन्दिरों में धरना के अत्यधिक महत्त्व हैं। देवघर के बैद्यनाथ मन्दिर में (दे० Tribes and castes of Bengal, Culcutta, 1891,–H. H. Risley पृ० ३६२) बंगाल के तारकेश्वर (दे० Social Profil of Tarakeswar, culcutta, 1984, Prafiulla Chakrabarti पृ० ७१-७३) पश्चिम बंगाल के जगन्नाथ, एवं तारकेश्वर तथा उड़ीसा के चन्दनेश्वर के मन्दिरों में (दे० बँगलाकार तीर्थ - कलकत्ता १९६८, ए० सी० ब्रह्मचारी द्वारा प्रदत्तविवरण) यह सर्वाधिक प्रधान कृत्य हैं। इन मन्दिरों में यह कृत्य कामना विशेष से सात्त्विक आचार पूर्वक पुजारी से निर्देशित होते हुए यात्रीगण देवता के समक्ष कई-दिनों का पूर्ण उपवास व्रत धारणा करते हुए अपनी कामना की पूर्ति करने के लिए शिव के समक्ष हठ करते हैं। इस काल में ये यात्री पूर्णरूप से शिव को समर्पित होकर उनकी आराधना में तल्लीन रहते है। हापकिंस ने (Journal of the American Orienlal Society, भाग २१, पृ० १४६-१५९) अपने लेख में धरना से सम्बन्धित कुछ प्रमाण संस्कृत साहित्य से उपस्थापित किए है। इसीप्रकार के हठात्मक कृत्यों का वर्णन यूनान एवं मिस्र के प्राचीन मन्दिरों के विषय में भी पाया जाता है (दे० Medicimagic and Mythology, London, I. Precope, पृ० २६०)। मध्यकालीन यूरोप भी इसप्रकार की कृत्य से अछूता नही था (दे० Pilgrimage : An image of medieval religion, Ionathan Semption, London 1975) पारम्परिक घटना कृत्य के मूल में भक्ति है। भक्त अपने देवता से अपने किसी पुर्निवार आपत्ति को दूर करने के लिए हठ कराता है। देवता के स्थानविशेष अथवा तीर्थ विशेष पर जाकर उनके विग्रह के समक्ष अपनी कामना को मानसिक अथवा वाचिक रूप से व्यक्त करके उसे पूरा करने

की प्रार्थना करता हैं। इसप्रकार के भक्त अन्नजल त्यागकर अपने आपको पूर्णरूप से अपने इष्ट को समर्पित करके वहीं पड़ा रहता है। इस कृत्य में कोई भी पारम्परिक या पौराणिक कृत्य का कोई बन्धन नहीं होता। धरना पर बैठने वाला व्यक्ति स्वेच्छा से अथवा अपने धार्मिक गुरु के निर्देश पर इष्ट की स्तुतियाँ किया करता है। किसी किसी तीर्थ में स्थानीय पुजारियों के निर्देश पर कुछ निश्चित काल या दिन तक धरना देने के विवरण भी मिलते हैं। आरम्भ में यह धार्मिक कृत्य भक्तों ने स्वतः प्रेरणा से किया होगा किन्तु आगे चलकर जिन देवताओं के मन्दिरों का महत्त्व समाज में व्यापक रूप से सिद्ध था तथा जहाँ बहुधा धरना देने वाले भक्त आया करते थे उन स्थानों के लिए यह कृत्य एक नियमित धार्मिक कृत्य में सम्मिलित होगा। उन स्थानों के पुजारियों ने शुद्ध रूप से भावात्मक स्तर से अभिव्यक्त होने वाले इस कृत्य में कुछ औपचारिक नियम भी लगा दिए।

विन्ध्याचल में धरना कृत्य का वह स्वरूप नहीं है जो पारम्परिक रूप से प्रसिद्ध है, एवं जिसकी प्रथा कुछ शैव वैष्णव मन्दिरों में है एवं जिसके सामाजिक एवं राजनीतिक महत्त्व को समझकर सत्याग्रह के एक प्रभेद के रूप में प्रयोग किया जाता है।

पारम्परिक 'धरना' के लिए यात्री विन्ध्याचल में कम आते हैं। प्राचीन विवरणों में ऐसा अवश्य बताया जाता है कि विन्ध्यवासिनी देवी की झाँकी के सामने कभी कभी भक्तगण अपनी आपत्तियों के निवारण के लिए हठ करके बैठ जाया करते थे जब उन्हें अपने किसी सूचक से अनुकूल सूचना मिलती थी तब वे अन्न जल ग्रहण करते थे। कुछ उपासक अपनी उपासना की सिद्धि के लिए विन्ध्यवासिनी मन्दिर में धरना दिया करते है। ऐसे समय वे किसी प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड या पुरश्चरण आदि का आयोजन नही करते अपितु केवल देवी के समक्ष उन्हीं के ध्यान में लीन रहा करते है।

हमारी जानकारी में ३ व्यक्ति पारम्परिक धरना के लिए विन्ध्याचल आए थे। २ नवयुवक थे उनमें से एक जबलपुर (मध्यप्रदेश) का था उसकी कामना माता के साक्षात्कार का था। यह नवयुवक ब्राह्मण परिवार का था। देवी जी के झाँकी के सामने के फर्श पर भूखा प्यासा ३ दिनों तक अनवरत बैठा रहा। स्थानीय पण्डालोग उसे अनेक प्रकार से समझते रहे किन्तु वह नहीं माना। कुछ पण्डे विन्ध्याचल में नियमित रूप से आने वाले एक राजस्थान वासी तान्त्रिक उपासक पं० रवि प्रकाश ब्रह्मचारी जी के पास ले गए। उनकी वाणी से उस तार्किक युवक की जिज्ञासा शान्त हुई एवं उसने अन्नजल ग्रहण किया दूसरा युवक जौनपुर का बी०एस०-सी० छात्र था। उसने २४ घण्टों तक अनशन किया लोगों के समझाने पर वापस गया। तीसरा व्यक्ति एक गृहस्थ था जो अपने परिवार की दरिद्रता एवं रोग से व्याकुल होकर विन्ध्याचल आया। उसने अपनी जिह्वा काट कर देवी के चरणों में

चढ़ा दी तथा महीनों मन्दिर में झाँकी के सामने पड़ा रहा। मुँह के घाव के लिए कोई दवा नहीं की। पण्डा लोग उसपर कृपाकर के उसे यजमानों द्वारा चढ़ाये गए पूड़ी आदि के प्रसाद को खाने के लिए दे देते थे। वह व्यक्ति आज भी विन्ध्यवासिनी मन्दिर में ही रहता है। कमशिक्षित है। जिह्वा काटने के ८ महीने बाद से बोलने में समर्थ हो गया था। मन्दिर पर पाठ करने वाले पण्डितों के साथ बैठता है। यजमानों के लिए चण्डी-पाठ, सत्यनारायण की कथा आदि करके अपनी जीविका चलाता है। इसके लिए भी विन्ध्याचल के पण्डों ने ही उसे उत्साहित किया था। उसका कथन है-"मै अपने परिवार भर के चेचक के प्रकोप में मरणासन्न स्थिति में छोड़कर यहाँ आया था। किन्तु वे सभी जीवित बच गए एवं अब आवयक आवश्यकताओं के लिए पैसे की भी कोई कमी नहीं है।'

किन्तु ये तीनों व्यक्ति धरना देने के नाम पर नहीं आए थे। इन लोगों ने जो कुछ भी किया उसे विन्ध्याचल के पण्डों या पण्डितों ने धरना नाम से सम्बोधित भी नहीं किया। विन्ध्याचल में धरना से जिस धार्मिक कृत्य का बोध होता है वह मुख्य रूप से वाराणसी, गोरखपुर, इलाहाबाद मण्डल, पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों एवं बिहार के कुछ यात्रियों में प्रसिद्ध है। कुछ यात्री जो अपनी कामनाएँ बताकर पण्डों से कुछ धार्मिक सलाह लेते हैं। उन्हें भी पण्डा धरना रखने की सलाह देता है तथा उसका महत्त्व बताता है। धरना देने वाले अधिकतर किसी भौतिक उपलब्धि के लिए धरना रखते हैं जैसे-न्यायलय में विजय, पदोन्नति, पुत्र की प्राप्ति, राजनीति में सफलता किसी भयानक रोग से मुक्ति आदि।

विन्ध्याचल में धरनाकृत्य का दो भाग होता है १. 'धरना देना' २. 'धरना उठाना'।

धरना देना :- पण्डोंहा के पास धरना देने वाले यात्री को बिठाया जाता है। पण्डोहे के भैरव को साक्षी बनाकर दीवाल पर हल्दी एवं पिसे हुए चावल में हाथ डुबो कर ५ छापा लगवाया जाता है। ततः यात्री अपने हाथ में रक्षासूत्र बंधा हुआ नारियल, सुपारी पत्थर का एक टुकड़ा कुछ द्रव्य लेकर भगवती से अपनी कामना को व्यक्त करता है। यह भी प्रतिज्ञा करता है कि, 'मै अमुक कामनापूर्ण होने पर अपना धरना उठाऊँगा।' इसके पश्चात् यात्री सारी सामग्री वहीं भूमि पर छोड़ देता है।

धरना उठाना:- धरना उठाने वाला यात्री भगवती विन्ध्यवासिनी का पूजन करने के पश्चात् पण्डोहे के भैरव के पास जाकर कहता है- 'हे माता आपकी कृपा से मेरी मनोकामना पूरी हुयी अब मै अपना धरना उठा रहा हूँ। मुझे क्षमा कर दीजिए।'

इस प्रकार यह धार्मिक कृत्य धरना की पारम्परिक परिभाषा में ठीक नहीं बैठता है। इस क्रिया की तुलना ज्वालादेवी (काँगड़ा) या वैष्णवदेवी (जम्मू) में वृक्षपर किसी कामना से बाँधे जाने वाले रक्षा सूत्र से किया जा सकता है। इस रक्षा सूत्र को कामनापूर्ति पर यात्रीगण स्वयं जाकर खोलते है। यद्यपि यह पहचान असम्भव होती है कि कौन सा

रक्षा सूत्र बाँधा था। अतः एक नया रक्षासूत्र पुनः पण्डा या पुरोहित द्वारा बँधवा कर उसी को खोल कर प्रक्रिया पूरी की जाती है।

कुमारी पूजा

मावन माह की अष्टमी एवं एकादशी को, नवरात्र की नवमी को, किसी भी मंगलवार को, मास की पूर्णिमा को, किसी यज्ञ की पूर्णाहुति के दिन विन्ध्याचल में कुमारियों का पूजन किया जाना अनिवार्य धार्मिक कृत्य है। कुमारियों को बुलाकर उनके चरणों को जल से धोकर उन्हें नवीन वस्त्र आभूषण एवं भोजन दिया जाता है।

कुछ यात्री ऐसे भी है जो अपने आय में से कुछ भाग कुमारी पूजा के नाम पर निकालते है तथा साल में एक बार विन्ध्याचल आकर कुमारियों की पूजा में व्यय करते हैं। उदाहरणार्थ उरई (जालौन, यू०पी०) के डा० दीनदयाल मिश्र पिछले १५-१७ वर्षों से अपने आप में से प्रतिदिन १ रु० अलग रख देते है। साल में एक बार वह सारा पैसा (३६५ रु०) या स्वयं आकर अथवा किसी के द्वारा अपने पण्डा के पास कुमारी पूजन के लिए भेज देते है। उनका कथन है कि इस कार्य से उन्हें अत्मिक शान्ति मिलती है। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण हैं।

श्रावण में आने वाले खत्रियों एवं अग्रवालों के लिए 'कन्या जिमाना' एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक यात्री परिवार पूरी विधि से (वस्त्राभूषण सहित) कुमारी पूंजा करें। कुछ लोग ५ पूडियाँ हला एवं द्रव्य देकर भी कुमारी पूजा करते है। किसी भी यात्री की कोई मनौती पूरी होने पर वह अन्य हवन पूजन आदि कार्यों के साथ-साथ कुमारी पूजा भी करता है।

नवरात्र में व्रत रहनेवाले पण्डे भी नवमी को कुमारी पूजा करके ही भोजन करते है।

दैनिक पूजा

विन्ध्यवासिनी के ४ प्रकार के दैनिक पूजन को शृंगार या आरती कहा जाता है। इन्हें क्रमशः मङ्गला आरती, दोपहर का शृंगार, छोटी आरती (या छोटकासिंगार), बड़ा शृंगार कहा जाता है मङ्गला आरती एवं बड़ा-शृंगार एक शृंगारिया परिवार करता है। इस पूजा की सामग्री जहाँ रखी जाती है वह बड़ा-खजाना कहा जाता है। दोपहर का शृंगार एवं छोटी आरती दूसरा शृंगारिया-परिवार करता है, तथा इसकी सारी सामग्री छोटे खजानें में रखी जाती है। इसप्रकार की व्यवस्था का व्यावहारिक कारण बताया जाता है। बड़ा शृंगार

या बड़की आरती में चढ़े आभूषण सुबह मंगला आरती के समय वही शृंगारिया उतारता है। इसी प्रकार दोपहर की आरती में चढ़े आभूषणों को वही शृंगारिया शाम की छोटी आरती में उतारता है। अत: गहनों वस्त्रों के संरक्षण के प्रति एक ही शृंगारिया का उत्तरदायित्व होता है।

इन चारों आरतियों का समय क्रमश: ६ बजे सुबह, १२ बजे दोपहर, ८ बजे रात एवं १०.३० रात निर्धारित है।

मंगलवार, पूर्णिमा, अक्षयतृतीया आदि पर्वों एवं नवरात्र के मेलों में इसके समय में, विशेषत: मंगला आरती एवं दोपहर के शृंगार के समयों में कुछ अन्तर आता है।

शृंगार सामग्री जुटाने एवं उसे शृंगारिया के साथ ले जाने के लिए विन्ध्यपण्डा समाज की नियमावली (अधिकरण ६/छ/१४) में 'मन्दिर व्यवस्था प्रमुख' के लिए निर्देश दिया गया था कि वह चारों शृंगारियों के सहायतार्थ; मन्दिर परिक्रमा में माला एवं रक्षासूक्त पहना कर यात्रियों से दान मांगने वालों की क्रमश: नियुक्ति करे। उसे यह भी निर्देश है कि यदि नियुक्त व्यक्ति शृंगारिया की सहायता न करे तो उसकी शिकायत व्यवस्थापिका समिति के समक्ष करके उसके लिये दण्डनिर्धारित कराए और उसका पालन कराए। अत: मन्दिर परिक्रमा में यजमानों को माला कलाई पहना कर कमाई करने वाले शृंगारिया की मदद करते थे। अब भी करते है यद्यपि उनकी नियुक्ति नहीं की जाती है। कुछ भक्त या अन्य व्यक्ति भी इस कार्य के लिए स्वयं ही श्रम दान किया करते हैं।

आरती के ३० मिनट पूर्व शृंगारिया अपने खजाने पर आकर बैठ जाते हैं। खजाना खोलकर पूजन के पात्र चन्दन का मूठा, चन्दन घिसने की चौकी एवं रुई आदि सामग्री बाहर निकालते हैं। सहायक गण पूजा के थाल कटोरियाँ, आरती आदि साफ करते हैं। पर्याप्त मात्रा में चन्दन घिसते है अक्षत धोते हैं तथा आरती की बत्तियाँ बनाते हैं। मन्दिर के आसपास के मालियों से देवी जी के लिए एक-एक माला माँग कर इकट्ठा करते है। निर्धारित दूकान से ३०० ग्रा० मिटाई एवं कपूर, रोली, गुग्गुल, धूप, पान आदि पूजन सामग्री लाते हैं। वस्त्र किसी न किसी यात्री अथवा पण्डा द्वारा दिया हुआ होता हैं। सारी तैयारी करने के पश्चात् पूजन की सामग्री लेकर सहायकगण तथा चँवर एवं जल से भरा पञ्चपात्र लेकर शृंगारिया पश्चिम ओर के द्वार से प्रवेश के लिए जाते हैं। प्रत्येक शृंगारिया सर्वप्रथम पश्चिम द्वार पर ऊपर की देहली पर स्थित गणपति का पञ्चोपचार (पूजन करके ही प्रवेश करता है। गणेश का पञ्चोपचम् पूजन करके अन्त में आचमनीय जल प्रदान कर के उन्हें चँवर डुलाता है। तदनन्तर मन्दिर की देहली को प्रणाम करके शृंगारिया एवं सहायक गण प्रवेश करते है। शृंगारिया के प्रवेश के पश्चात् कोई भी दर्शनार्थी प्रवेश नहीं करे ऐसा नियम है।

मङ्गला आरती– हमने मङ्गला आरती एवं बड़ी आरती के शृंगारिया श्री कृष्णमोहन मिश्र से शृंगार एवं आरती की विधि के विषय में जानकारी प्राप्त की है। सुबह ५ या ६ बजे सामग्री के साथ शृंगारिया के प्रवेश करने के पूर्व फाटक खुलता नहीं है। शृंगारिया ही प्रथम बार प्रत्येक सुबह मन्दिर में प्रवेश करते हैं। मंगला आरती के समय के एक घंटे पहरेदार उस दिन के पारीवाल को एवं शृंगारिया को जगाने के लिए जाता है। दोनों लोग स्नानादि करके समय से मन्दिर पर पहुंचते है। मन्दिर की चाबी उस दिन के पारीवाल के पास होती है। पारीवाल मन्दिर खोल कर शृंगारिया को मन्दिर में प्रवेश कराता है तथा स्वयं बाहर ही रहता है। उनके प्रवेश के पश्चात् पुनः फाटक बन्द कर दिया जाता है। कुछ वर्षों पूर्व जब कृष्णमोहन शृंगारिया के मामा सोहन एवं उनके पिता शृंगार करते थे तब यह प्रथा भी थी कि सुबह फाटकखुलने के बाद शृंगारिया के साथ स्थानीय पण्डा परिवार की कुछ बृद्धमहिलाएँ प्रवेश करती थीं तथा देवजी का चरण पूजन करती थीं उनके द्वारा चढ़ाया हुआ चढ़ोत्तरी फल आदि शृंगारिया लेते थे। किन्तु श्री कृष्ण मोहन ने यह प्रथा बन्द कर दी। उनका कथन है कि 'भगवती की आरती के पूर्व किसी को भी अन्दर प्रवेश करना उचित नहीं है'।

फाटक बन्द होने के बाद सर्वप्रथम सहायक झाँकी के सामने पर्दा लगाता है। जल के पात्र में केसर मिश्रित चन्दन डालता है। शृंगारिया रात्रि शयन के लिए .लगे पंलग के बगल से भगवती के चरणों में जल चढ़ाकर प्रणाम करता है। इसके बाद सामने लगे हुए २'×३.५०' के पंलग पर से विस्तर हटा कर पंलग हटाता है। पलंग एवं विस्तर को सहायकगण एक ओर सुरक्षित रख दैते है। इस पंलग एवं विस्तर को अत्यन्त पवित्र माना जाता है। पंलग हटाने के बाद शृंगारिया ३ बार अर्ध्य देता हैं। फिर देवी जी के सामने खड़े होकर रात्रि के शृंगार के आभूषणों, माला, वस्त्र आदि उतार कर अलग रखता है तथा पीले रंग का उत्तरीय जैसा स्नानीयवस्त्र पहनाता है। यह वस्त्र स्नान कराने इसके पश्चात् देवी को स्नान कराने के लिए सहायक गण बड़े घड़े से छोटे घड़े में जल निकाल कर देते है तथा शृंगारिया स्नान कराता है। इसके बाद पञ्चामृत स्नान पुनः गंगाजल से स्नान कराता है। इसके बाद फुलेल (सुगन्धित तेल) का अभ्यंग कर के पुनः गंगाजल से स्नान कराकर प्रोक्षणीय वस्त्र (पीले रंग का दुपट्टा) से श्री विग्रह का प्रोक्षण करता है। स्वानीय वस्त्र बदल कर पुनः उसी प्रकार का दूसरा वस्त्र पहनाता हैं इसके बाद चारों भुजाओं ग्रीवा, मस्तक एवं हृदय में चन्दन का अनुलेप करता है उसी के साथ दोनों पार्श्वो में स्थित योगिनियों को भी चन्दन का अनुलेप लगाता है। पुनः देवी जी के गुल्फों में एवं सिंह को चन्दन का अनुलेप लगाकर वस्त्र धारण कराता है। विन्ध्यवासिनी के विग्रह पर साड़ी पहनाने की विशेष विधि होती है। इस विधि की शिक्षा केवल शृंगार करने वालों को ही उनके परिवार से प्राप्त होती है। ये लोग २०-२० साड़ियाँ एक साथ इस खूबसूरती से पहना

देते है कि प्रत्येक साड़ी का आँचल दिखाई पड़ता है। साड़ी पहनाने के पश्चात् गले के पास एक उपवस्त्र रख कर मस्तक पर कुंकुम चन्दन लगाकर नेत्र धारण कराता है। तत्पश्चात् मालाएँ धारण करा कर चरण पूजन के लिए बैठता है। चरणों एवं सिंह को चन्दन, रोली, अक्षत, पुष्प चढ़ाकर शृंगारियां नौ बत्तियों वाली आरती से आरात्रिक करता हैं पुनः आचमनीय देकर नैवेद्य अर्पण करके पुनः आचमनीय प्रदान करता है तथा ध्यान करता है। इसके बाद शृंगारिया सारी सामग्री एवं पलंग के साथ बाहर आ जाता है। पारीवाल गण अन्दर जाकर अपने स्थान पर बैठ जाते है तथा फाटक यात्रियों के लिए खोल दिए जाते हैं। इसके बाद विग्रह के ठीक पीछे स्थित चरणोदक कुण्ड (इसे स्थानीय लोग पण्डोहा कहते है।) परस्थित बटुक भैरव का चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य एवं जल से पूजन करके खजाने पर वापस आ जाते हैं।

मध्याह्न शृंगार

सारी सामग्री पूर्ववत् जुटाकर शृंगारिया १२ बजे दोपहर के आस पास मन्दिर में प्रवेश करता है।

इस शृंगार में देवी को आभूषण भी चढ़ाए जाते हैं तथा ७ बत्तियों की आरती के पूर्व धूप एवं गुग्गुल को निर्धूम अग्नि में सुलगाकर धूप दिया जाता है। धातु की बनी धूप दानी सामने आते ही सहायक गण झाँझ एवं घण्टा बजाने लगते हैं। शृंगारिया के बाएँ हाथ में घण्टी एवं दाएँ हाथ में मूर्छल या चँवर होता है उसे हिला कर वह धूप को फैलाता है। उसके बाद धूपदानी को भी आरती की भाँति विग्रह के पास घुमाता है। धूपदानी रखकर बत्तियों की आरती करता है। इस आरती को रखने के बाद घंटा बजना बन्द हो जाता है। पुनः नैवेद्य आदि अर्पण करके कपूर की आरती करता है तब फिर घण्टावादन होता है।

मङ्गला आरती के अतिरिक्त सभी आरतियों में इसी प्रकार दो बार आरती की जाती है।

सान्ध्य (छोटी) आरती

दोपहर का शृंगार करने के समय के आभूषणों को हटाकर पुनः केवल फूल, माला पहनाया जाता है। दोपहर एवं छोटी आरतियों में स्नान द्रव्यों में दूध एवं शहद भी होता है।

रात्रि (बड़ा) शृंगार

बड़ी आरती में शृंगारिया कुछ विशेष द्रव्य भी चढ़ाते हैं। इसमें चन्दन घिसा हुआ

१५० ग्रा० दूध २ लिटर, दही ५०० ग्राम, २५० ग्रा० चीनी, २५ ग्रा० मधु, २० ग्रा० घी, मेवे, केशर, गुलाबजल, विल्बपत्र, दूवी। इस आरती में विविध आभूषण पहनाए जाते है जिनमें सोने के हार, सोने की नथ, चाँदी की मुण्डमाला मुकुट किरीट आदि नियमित रूप से अर्पित किए जाते है। बड़ी आरती में गणपति को दूर्वा, चन्दन रोली वस्त्र नैवेद्य, ताम्बूल आचमनीय आदि उपचारों से पूजा करके कपूर से आरती भी की जाती हैं। देवी जी को आरती के बाद एक नारिकेल की बलि भी दी जाती है। यह परम्परा पहले नहीं थी। इसे वर्तमान शृंगारिया श्री कृष्ण मोहन ने आरम्भ की है।

बड़ी आरती होने के १.३० घन्टे बाद मन्दिर धोकर देवी जी के लिए शायिका लगाकर मन्दिर बन्द कर दिया जाता है तथा चाबी अगले दिन के पारीवाल को दे दी जाती है।

दोपहर एवं रात्रि की आभूषण युक्त आरतियों में भगवती के प्रस्तर मय सिंह को उसी आकार के बने चाँदी के सिंह से आवृत कर दिया जाता है तथा चाँदी के दो चरण अलग से लगाए जाते है।

मन्दिर पर स्थित अन्य मन्दिरों में एवं त्रिकोण यात्रा में स्थित काली एवं अष्टभुजी मन्दिरों में भी इसी प्रकार ४ आरती होती है। किन्तु वहाँ पूजन सामग्री कम होती है। काली खोह के पुजारी काली के पूजन के लिए भी मालाएँ एवं नैवेद्य विन्ध्याचल के मालियों एवं हलवाइयों से ही माँगकर ले जाते है। इसी प्रकार अष्टभुजी मन्दिर के पुजारी भी आस पास के दूकानदारों से मालाएँ लेते हैं। अन्य सामग्री पारीवाल दिया करते है।

विन्ध्यवासिनी मन्दिर में चैत्र नवरात्र में चतुर्थी की रात से मन्दिर अहर्निश खुला रहता है अतः शृंगारिया केवल चरण का ही पूजन करते है। एकादशी के वार्षिक शृंगार के पश्चात् पुनः पूर्ववत् ४ आरती होती है।

आरती का खर्च देने का दायित्व उस दिन के पारीवाल का होता है। वि० पं० स० नियमा० अधिक० ५/५ में व्यवस्था दी गई थी कि 'प्रत्येक पारीवाल को...अपनी पारी के दिन श्री विन्ध्यवासिनी देवी जी के शृंगार पूजन तथा मन्दिर के दैनिक व्यय के निमित्त ६ रुपए प्रतिदिन........देना होगा।' (यह शाशि १९५३ ई० में निर्धारित की गई थी)। वर्तमान में विन्ध्यविकास परिषद ने इस नियम में संशोधन किया कि पारीवाल प्रतिदिन १०० रु० विकास परिषद को दें तथा विकास परिषद मन्दिर के समस्त खर्च को वहन करेगा। तारकेश्वर मन्दिर का १९७७ में एक दिन की पूजा प़र ९२० रु० व्यय होते थे। (चक्रवर्ती १९८४ P. ६२)

पण्डों द्वारा सामूहिक वार्षिक पूजा

प्रतिवर्ष चैत्र नवरात्र के बाद एकादशवेंदिन रात्री कालीन बड़ी आरती विन्ध्याचल के सभी पण्डों के सामूहिक व्यय से होता है। इस आरती का प्रबन्धन करने का दायित्व 'विन्ध्य पण्डा समाज' संस्था के पदाधिकारीगण निर्वाह करते है। सभी पण्डों का अंश दान एकत्र करके संस्था के स्थाई लिपिक ठाकुरप्रसाद दीक्षित सामग्री जुटा कर शृंगारिया को देते हैं। वार्षिक पूजा त्रिकोण यात्रा के सभी प्रधान केन्द्रों के अधिष्ठातृ देवताओं के साथ विन्ध्याचल क्षेत्र की ग्राम देवी का भी किया जाता है।

इस वार्षिक पूजा का सम्पूर्ण पण्डा समुदाय के लिए अत्यधिक महत्त्व होता है। सभी लोग इसमें एक यज्ञ की भावना से सहभागिता करते हैं। सामूहिक रूप से यजमान बनकर नौ पण्डितों का वरण किया जाता है। वे सभी पण्डित दुर्गा सप्तशती का षडङ्गो[1] के साथ पाठ करते हैं। पाठ के पश्चात् सप्तशती के मन्त्रों से हवन किया जाता हैं। इसके लिए प्रत्येक पाठकर्ता पण्डित को दक्षिणा पण्डों द्वारा दिया जाता है। प्रत्येक पण्डित को पाठ आरम्भ करने के पूर्व सप्तशतीमन्त्रों की अधिष्ठातृ देवी विन्ध्यवासिनी दुर्गा के लघु पूजन एवं आरती के लिए पूजन सामग्री दी जाती है। यह लघु पूजन सभी पण्डित गण अपने आसनों पर बैठे बैठे ही करते हैं। पाठ समाप्त होने के पश्चात् कपूर की आरती विन्ध्यवासिनी देवी की झाँकी के सामने खड़े होकर करते हैं। आरती के पश्चात् सभी ९ पण्डित सामूहिक रूप से शंकराचार्यकृत देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र का पाठ उच्चैः स्वर में देवीजी के सम्मुख खड़े होकर ही करते हैं। तत्पश्चात् हवन सामग्री के साथ हवनकुण्ड पर जाकर हवन करते है इस सम्पूर्ण अनुष्ठान का यजमान पण्डों का प्रतिनिधि वि०प०स०का अध्यक्ष बनता है।

पाठ एवं हवन के पश्चात् विन्ध्यवासिनी मन्दिरपर स्थित सिन्दूर चर्चित प्रतिमाओं के विग्रहों में सिन्दूर एवं घी के मिश्रण का अनुलेप किया जाता है एवं अन्य जितने भी देवताओं के विग्रह विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर प्रतिष्ठित है उन सभी देव विग्रहों का पञ्चोपचार पूजन किया जाता है। इस पूजा में इसका विचार नहीं किया जाता कि देव विग्रह खण्डित है अथवा नहीं तीर्थ यात्रियों के लिए इसका धार्मिक महत्त्व है या नहीं उस देव विग्रह के पुजारी के रूप में कुछ अर्थागम हो जाता है अथवा नहीं। बल्कि उन सभी देव विग्रहों को प्राचीन एवं प्रतिष्ठित मानकर उनकी पूजा परम्परानुसार कर दी जाती है।

---

१. सप्तशती पाठ के ६ अंग इस प्रकार बताए गए है–१. कवच अर्गला एवं कीलक स्तोत्रों का पाठ २. रात्रिसूक्त (सप्तशती के प्रथम अध्याय में ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुति) का पाठ। ३. १०८ नवार्ण मन्त्र का जप न्यास एवं ध्यान के साथ ४. १०८ नवार्ण मत्र का जय (सप्तशती ५वें अध्याय में देवताओं द्वारा की गई स्तुति) देवी सूक्त का पाठ। ६. वैकृतिक प्राधानिक एवं मूर्ति रहस्य स्तोत्रों का पाठ। सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र का पाठ यद्यपि अंग नहीं है तथापि पाठान्त में किया जाता है।

विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर पूजा करने के पश्चात् कुछ लोग प्रसाद वितरण करना आरम्भ कर देते है। अन्य लोग महत्त्वपूर्ण देवताओं का पूजन करना आरम्भ कर देते हैं इन देवताओं में ५ प्रमुख रूप से पूजित होते है।

१. भैरव – विन्ध्यवासिनी के श्रीविग्रह के पीछे पण्डोहे पर प्रतिष्ठित मूर्ति।

२. भैरव – विन्ध्यवासिनी मन्दिर से पूर्व पुलिस चौकी के निकट प्रतिष्ठित मूर्ति।

३. काली खोह की महाकाली देवी।

४. अष्टभुजी देवी।

५. ग्रामदेवी (सायरी)।

पण्डोहे के भैरव के लिए विशेष सामग्री का प्रयोग होता है। उसमें १. मिट्टी का घोड़ा एक। २. एक लालध्वज (छोटा) अन्य देवताओं की भाँति उपचारों से भैरव का पूजन करने के पश्चात् मद्य घोड़ा एवं ध्वज का समर्पण किया जाता है

वार्षिक पूजन हेतु सामग्री तालिका

विन्ध्यवासिनी पूजा एवं आरती की सामग्री

	१	२	३
	सामग्री नाम	**परिमाण**	**प्रयोगविवरण**
१.	दूध (गाय का विनाउवाला)	५ लिटर	श्रीविग्रह स्नानोपचार
२.	दही	१/२ कि०ग्रा०	
३.	चीनी	३/४ कि०ग्रा०	
४.	शहद	१०० ग्रा०	
५.	गुलाबजल	२०० मि०ली०	
६.	घी	५० ग्रा०	
७.	लालरंग की ५मी० की चुन्दरी	१	श्रीविग्रह शृंगारोपचार
८.	केशर	५ ग्रा०	
९.	फुलेल या चमेली का सुवासित तैल	१०० मि०ली०	" "

१०. रोली (हल्दी एवं चूने का सम्मिश्रण)	५० ग्रा०	
११. सुगान्धित धूपबत्ती	१ पै०	श्रीविग्रह धूपोपचार
१२. गुग्गुल	४० ग्रा०	
१३. चन्दन का बुरादा	५० ग्रा०	" " "
१४. घी का दीपक	७५ ग्रा० घी का	" दीपोपचार
१५. घी का हलुआ	२५ कि०ग्रा० (दो थालों में)	" नैवेद्योपचार
१६. नमकीन सेव बेसन का बना हुआ	२ कि०ग्रा०	" " "
१७. सामयिक फल	५ कि०ग्रा०	" " "
१८. चाँदी के वर्क सहित पान बीड़ा	१२ जोड़े	" नैवेद्याङ्गोपचार
१९. नारियल (जलदार)	१	बलि उपचार
२०. इत्र (गुलाब या खस)	१ छोटी शीशी	चरणपूजा
२१. दक्षिणा द्रव्य		दक्षिणा उपचार
२२. मिट्टी का घोड़ा	१	स्नानार्थ गंगा-जल
एवं मिट्टी का पात्र	१	आनयनार्थ तथा घड़ा ढकने के लिए

उक्त सामग्रियों में १ से १३ तक की सामग्री शृंगारिया को दे दी जाती है[1]। शृंगारिया उन सामग्रियों का उपयोग करके भगवती विन्ध्यवासिनी का शृंगार करते है। १५, १६ एवं १८ का एक भाग भी शृंगारिया में अर्पित करते हैं। २२ को शृंगारियाका कोई सहयोगी ब्राह्मण स्वयं गंगाजी से जाकर भरता है। शेष १४ से २१ तक की सामग्री पण्डों का प्रतिनिधि हवन के पश्चात् स्वयं अपने सहयोगियों के साथ मंदिर के गर्भगृह में लेकर जाता है एवं अपने हाथों से अर्पित करता है। पण्डों का प्रतिनिधि साथ में बड़ी एक बड़ी माला एवं फूल भी ले जाता हैं माला देवी जी को पहना दी जाती है। शेष सामग्री के माध्यम से चरणपूजा की जाती है। पूजा के अन्त में नारियल तोड़ कर उसके जल से चरणों का सिंचन एवं तत्पश्चात् कपूर की आरती करके दक्षिणा समर्पित की जाती है।

इस समय कई अन्य पण्डे भी पूजन के समय उपस्थित रहते है। सभी लोग मिलकर देवी जी का जयघोष करते है।

थाने के निकट के भैरव के लिए पूजन के बाद एक अज की बलि एवं मद्य समर्पित की जाती है। काली खोह की महाकाली एवं अष्टभुजा का पूजन पर्याप्त पञ्चोपचारों द्वारा किया जाता है।

ग्रामदेवी सायरी की कोई मूर्ति नहीं है बल्कि मन्दिर के दक्षिण दिशा में एक स्थान मात्र है। यह स्थान मिर्जापुर शिवपुर सड़क के दक्षिण में बंगाली के चौराहें से लगभग १५०′ दूर है। इसी स्थान पर देवी की सत्तामान कर उनकी पूजा की जाती है। उनके लिए ३०० जलधारा की सामग्री, माला दीपक आदि पञ्चोपचार सामग्री, एक सुअर का बच्चा (इसे विन्ध्याचल में छौना कहा जाता है।); एक भेड़ का प्रबन्ध किया जाता है पूजन के बाद छौने एवं भेड़ की बलि देकर कपूर की आरती करके जलधारा सामग्री घड़े के जल में मिला कर उससे अजस्र धन के रूप में देवी के स्थान पर गिरा कर देवी को प्रणाम करके पण्डागण वापस विन्ध्यवासिनी मन्दिर चले आते हैं।

सम्पूर्ण पूजा के पश्चात् यजमान ९ कुमारियों एवं एक बटुक (१२वर्ष तक का लड़का) का चरणपूजा करके उन्हें भोजन करता है तथा एक-एक रुपए दक्षिणा देता है।

सिन्दूर-चर्चा की जाने वाली प्रतिमाएँ

देवता	स्थान	स्थिति
सिंह	खर्परेश्वर मन्दिर का द्वार	पश्चिम

१. उक्त सामग्री में आभूषण इसलिए परिगणित नहीं है क्योंकि वे सभी आभूषण बड़ी आरती में दैनिक चढ़ाए जाते है। कुछ आभूषण पण्डों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित हैं उन्हें वे स्वेच्छा से इस दिन की पूजा के लिए दे दिया करते है। इन आभूषणों में मुकुट; किरीट हार एवं सिंह प्रमुख हैं।

महिषमुण्ड	बलिवेदी	"
धाधा देवी	सरस्वती मन्दिर के पीछे	"
फूलमती देवी	खर्परेश्वर मन्दिर के पीछे	"
गणपति	१. पश्चिमी प्रवेशद्वार	"
	२. काली, सरस्वती एवं सभी शिवालयों के द्वार पर	दक्षिण, पश्चिम, उत्तर
	३. काली प्रतिमा के दाएँ स्थित	दक्षिण
	४. सरस्वती प्रतिमा के बाएँ	पश्चिम
भैरव	१. खर्परेश्वर मन्दिर के द्वार पर	पश्चिम
	२. खर्परेश्वर मन्दिर के भीतर बाएँ	"
	३. हवनकुण्ड के पीछे पानी की बड़ी टंकी के नीचे	"
	४. महाकाली मन्दिर में दाएँ	दक्षिण
	५. थाने के निकट	पूर्व
हनुमान	१. निशान ध्वज के पास।	पश्चिमोत्तर
	२. सरस्वती मन्दिर के पास उत्तरी दीवाल में।	पश्चिम
दत्तात्रेय	सरस्वती प्रतिमा के बाएँ	पश्चिम
खड्ग	महाकाली मन्दिर में दाई ओर	दक्षिण
त्रिशूल	१. महाकाली मन्दिर में दाई ओर	दक्षिण
	२. निशानध्वज के पास	पश्चिमोत्तर
योगिनी	बलि स्थान के एकदम पश्चिमी ओर पत्थर की पट्टियों से आवृत वर्तमान यात्री मार्ग के नीचे	पश्चिम

मङ्गला आरती एवं छोटी आरती के समय कुछ वर्षों पूर्व तक जब तक कि फाटक बन्द रहता था तथा उसके १५ मि० बाद तक दो शहनाई दुक्कड़ के संगत पर बजाई जाती थी। इस सांगीतिक कार्यक्रम को नौबत बजाना कहा जाता था। नौबत मन्दिर के ठीक सामने बने हुए पत्थर के नौबत खाने में बजाई जाती थी। वादक विन्ध्याचल के ही होते थे। इन्हें नौबत बजाने के लिए पारिश्रामिक कशिराज धर्मार्थ न्यास की ओर से दिया जाता था। नौबत खाना भी काशिराज द्वारा ही बनवाया गया था। अब नौबत नहीं बजाई जाती है।

जीवदान – बलि प्रदान का यह अहिंसात्मक स्वरूप है। वस्तुतः विन्ध्याचल में अधिकतर यात्री प्राणसंकट उपस्थित होने पर भगवती के लिए बलि प्रदान की मनौती करते हैं। किन्तु कुछ यजमान बलि पशु खरीद-कर संकल्प करके उसे मन्दिर पर छोड़ देते है। उस छोड़े हुये पशु पर यजमान के पण्डा का अधिकार होता है। पण्डे अधिकतर यात्रियों के बलि प्रदान न करके जीवदान करने की सलाह देते हैं। वे उन्हें समझाते हैं कि "जिस प्रकार देवी जी ने आप के प्राणों की रक्षा की है उसी प्रकार आप इस पशु के प्राणों का दान करें तथा उसे भगवती के नाम पर छोड़ दें।'' बहुत से यात्री इस से सहमत हो जाते हैं।

जीवदान की क्रिया में पशु मन्दिर पर बलि स्थल पर लाया जाता है तथा यात्री उसका कान पकड़ कर फूल अक्षत लेता है पण्डा जीवदान का संकल्प बोलता है। तत्पश्चात् जिस खड्ग से बलि किया जाता है उसी खड्ग को बलिकर्ता बकरे की कान पर स्पर्श कराता है जो इस बात का प्रतीक होता है कि पशु की बलि चढ़ा दी गई। अब धैकार बलि को उठा कर यजमान के सिर के चारों ओर घुमाता है तथा यजमान से कहता है कि अब इसे देवी जी की ओर हल्के से धकेल कर उन्हें समर्पित कर दे। यजमान वैसा ही करता है। इस पूरी प्रक्रिया को खसी छोड़ना या जीवदान कहा जाता है।

दण्डवत्

यात्रीगण गंगा स्नान करके वहीं से भगवती के मन्दिर तक पेट के बल लेट साष्टांग प्रणाम करते हुए आता है। इस क्रिया को दण्डवत् करना कहते हैं। यह क्रिया किसी विशिष्ट कामना की पूर्ति के पश्चात् की जाती है। यात्री दण्डत् करते हुये मन्दिर तक आकर झाँकी के समक्ष या पण्डोहे पर उसकी समाप्ति करता है। कुछ यात्री दण्डवत् करते हुए मन्दिर के भीतर तक भी जाते हैं।

कभी कभी दण्डवत् करते हुए त्रिकोण करने वाले श्रद्धालु भी दिखाई देते हैं।

भीखमांगना

यह विचित्र प्रकार का उद्यापन है। यात्री किसी कामना की पूर्ति के लिए यह संकल्प करता है कि 'इसकी पूर्ति के पश्चात् मै माता के दरबार में भीख मागूँगा' अतः उस कामना की पूर्ति के बाद गंगा स्नान करके देवीज़ी के दर्शन करके बिना कुछ खाए ७ घरों या दुकानों से भीख मागँता हैं जो कुछ उसे भीख में प्राप्त होता है वही उसका उस दिन का आहार होता है। विन्ध्याचल के सभी पण्ड़ों एवं पुराने दुकानदारों को इस मनौती का ज्ञान है। अतः वे कभी इस प्रकार के व्यक्तियों को भीख देने से मना नहीं करते। अत्यन्त सभ्रान्त जमींदार के घर की मालकिन को भी पुत्र प्राप्ति के कारण भीख माँगते देखा गया है। यह 'पवित्रभिक्षाटन' बहुधा देखने को नहीं मिलता।

चमरुआ नाच

यह भी इसी प्रकार का धार्मिक कृत्य है जो केवल विन्ध्याचल में सम्पादित होता है। यात्री विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर, नगाड़ा बजाने वाले चमार को नचाते है। नगाड़ा बजाने वाले चमारों में जिसकी 'पारी' उस दिन मन्दिर पर होती है वही नाचता है। इसके लिए वह विशेष प्रकार की लँहगा जैसी पोशाक पहनता है। यात्री अपना आँचल या दुपट्टा भूमि पर बिछा देता है तथा चमार उस पर सात बार चक्कर लगाता है इस काल में उसका साथी नगाड़े पर नाच की धुन बजाता रहता है। इस नाच को कराने वाले सभी वर्गों एवं वर्णों के यात्री होते हैं। यह भी किसी कामना पूर्ति पर ही कराया जाता है। नाच करने के लिए चमार पर्याप्त शुल्क मांगता है। क्योंकि यात्री अपनी मनौती उतारने के लिए यह कार्य कराता है। अतः वह प्रसन्नता से देता भी है।

आजकल चमरुआ नाच के यात्री कम दिखाई देते हैं। चैत्र नवरात्र में इस प्रकार के यात्री अधिक देखे जाते है। वैशाख माह में भी 'चमरुआ नाच' कराने वाले यात्री गण आते हैं। इस मनौती के यात्री बहुधा वाराणसी गोरखपुर इलाहाबाद, कानपुर एवं झाँसी मण्डलों में आने वाले जिलों के होते है।

प्रेतोपचार

शरीर पर दिखाई देने वाले उन्माद के लक्षणों के कुछ रोगी जिनकी चिकित्सा चिकित्सकों द्वारा नहीं हो पाती या जिन्हें मनोकाय चिकित्सा में निपुण वैद्य नहीं मिल पाते बहुधा उन्हें 'प्रेत पीड़ित रोगी' की संज्ञा दे दी जाती है। इनमें विचित्र लक्षणों वाले रोगी

भी होते है जिनका निदान करना चिकित्साशास्त्र के लिए कठिन होता है। अधिकतर धार्मिक वृत्ति के व्यक्तियों में आसानी से न समझ में आने वाले रोगियों को भी प्रेतपीड़ित मान लिया जाता है। गाँव गाँव में प्रेतबाधा दूर करने वाले लोग रहते हैं। उन्हें ओझा सोखा गुनिया या भगत कहा जाता है। इन लोगों से रोगी का निदान कराकर उन्हें प्रेतपीड़ित मानकर लोग उनके बताए स्थानों पर जाकर संकट से मुक्ति के लिए पूजा किया करते हैं।

'प्रेतबाधा' के स्वरूप एवं प्रामाणिकता पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत भी नहीं है तथा विषय के पराभौतिक जगत् से सम्बद्ध होने से गम्भीर एवं श्रम साध्य होने से प्रस्तुत ग्रन्थ में कोई स्थान न हीं दिया जा रहा है। यहाँ हम यात्रियों के धार्मिक मान्यता को ही आधार मान कर विवरण दे रहे है।

प्रेतोपचार के लिए भारत में अनेक स्थानों पर लोग जाते है। कहीं हनुमान का दरबार है (मेंहदी घाटमपुर, राज०) कहीं ब्रह्मदेव हैं (हरषूब्रह्म् यू०पी०) कहीं मुस्लिम औलिया हैं (मीरादातार-ऊँझा, गुज०)। इस प्रकार के सैकड़ों स्थान भारत भर मे हैं। विन्ध्याचल भी उनमें से एक है। यद्यपि विन्ध्याचल में यात्रीगण मुख्यत: प्रेतोपचार के ही लिए नहीं आते किन्तु आश्विन कृष्णपक्ष की अमावास्या को विन्ध्याचल आने वाले यात्री परिवारों में ८०% ९०% तक इसी उद्देश्य से आते हैं कि उन्हें प्रेतबाधा से मुक्ति मिल जाएगी।

प्रेतोपचार के लिए मुख्य विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर दो मुख्य स्थल है—१. फूलमती – खर्परेश्वर शंकर जी के मन्दिर में पश्चिम भाग में एक कमरा है जो सदा बन्द रहता है। उसमें देवी की मूर्ति एवं कुछ बौद्ध मूर्तियों के शिर स्थापित हैं। २. धाधा देवी – सरस्वती की मूर्ति के पीछे दक्षिण भाग में एक कमरा है वह भी सदा बन्द रहता है। उसमें भी देवी की अव्यक्त मूर्ति हैं। ये दोनों कमरे केवल प्रेतबाधा से पीड़ित लोगों के लिए खोले जाते है।

प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्ति अपने साथ ओझा लाता है ओझाओं को यह विश्वास होता है कि विन्ध्याचल में धाधा/फूलमती के स्थान पर चलने से रोगी ठीक हो सकता है। वे अपने पण्डा से इस सम्बन्ध में बात करते है। पण्डा उन्हें धाधा के लिए सरस्वती मन्दिर के पुजारी के पास तथा फूलमती के लिए शंकर जी के पुजारी के पास लेकर जाता है। पुजारी कमरा खोलने का शुल्क माँगता है कमरा खोलने का शुल्क यात्री के आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। कम से कम ५ रु० अधिक से अधिक जितना यात्री दे सके लेकर पुजारी कमरा खोलता है।

प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्ति को पहले धाधा या फूलमती के कमरे के बाहर बैठा दिया जाता है तत्पश्चात् ओझा सामने २ लौंग रखकर कपूर जलाकर भूत प्रेत का आवाहन करता है। रोगी का शरीर हिलने लगता है। रोगी सिर घुमाने लगता है। ओझा उसके बगल में या सामने बैठ कर 'पचरा' गाता है (पचरा प्रेतों को पूर्ण आवेश में लाने के लिए गाए जाने वाले जनजातीय गीत को कहा जाता है)। कभी-कभी घंटों तक ओझा 'पचरा' गाता ही रहता है। पचरा सुना कर ओझा प्रेतबाधा ग्रस्त रोगी से प्रश्न पूछता है (इसे 'कबुलाना' कहते हैं। ओझा प्रेत से पूछताछ के दौरान यह सुनिश्चित करता है कि धाधा/फूलमती के धाम में बैठने के बाद वह प्रेत पुनः उस रोगी को नहीं सतायेगा। प्रेत इसे स्वीकार कर लेता हैं तब दरवाजा खोला जाता है। ओझा, पुजारी, रोगी एवं पण्डा तथा रोगी के परिवारजन कमरे में जाते हैं। वहाँ जाकर देवी से रोगी की मुक्ति की प्रार्था करते हुए नींबू काटते हैं, तथा फूल माला कपूर आदि चढ़ाते हैं। इसके बाद रोगी को देवी के सामने प्रणाम कराते हैं। इस समय पुजारी उसे प्रेतबाधा से पूर्ण मुक्ति का आशीर्वाद देता है। रोगी सामान्य अवस्था में आ जाता है। सभी बाहर आ जाते हैं। कभी कभी प्रेत अन्दर बैठने से मना करता है तब भी उसे अन्दर ले जाया जाता है और वह सामान्य होकर बाहर आता है।

यह क्रिया काली खोह में महाकाली मन्दिर के पीछे स्थित 'भूतनाथ' के मन्दिर में भी होता है। किन्तु वहाँ का मन्दिर हमेशा खुला रहता है। वहाँ प्रेत बैठाने की विधि कुछ दूसरे तरह से है। प्रेत रोगी को पचरा या मन्त्र द्वारा पूर्ण उत्तेजित अवस्था में लाकर उसकी मर्जी से या बलात् उसकी दाहिनी मुट्ठी में लौंग का जोड़ा रखकर भूतनाथ की मूर्ति के दाहिी ओर बने गोलाकार छिद्र में हाथ डलवाते है। रोगी उसी में लौंग आदि छोड़ देता है। वह जब हाथ बाहर करता है तब यह मान लिया जाता है कि वह अब प्रेतों से पूर्णरूप से मुक्त हो गया।

आश्विन कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी एवं अमावस्या विन्ध्याचल में प्रेतोपचार के लिए सर्वोत्तम माना जाता है। इस दिन सम्पूर्ण त्रिकोण क्षेत्र प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्तियों से भरा रहता है। महाकाली मंदिर के ३०० गज त्रिज्या के वृत्ताकार क्षेत्र में हर १० गज पर कम से कम एक रोगी ओझा द्वारा उपचरित होता हुआ दिखाई देता है अन्ततः ये सभी महाकाली एवं भूतनाथ के दरबार में जाकर बैठाया जाते हैं। यह क्रम चतुर्दशी के दिन एवं रातभर तथा अमावस्या को दिनभर चलता है।

विन्ध्यवासिनी मन्दिर के धाधा/फूलमती के मन्दिरों में नवरात्र के दिनों में अधिक रोगी देखे जाते है। उक्त अवसरों पर रोगियों की अधिकता अवश्य दिखाई देते है यद्यपि सामान्य दिनों में भी प्रतिदिन २-४ रोगी इन स्थलों पर पहुँचते है।

पिण्डदान/अस्थिउत्सर्ग

आश्विन कृष्ण १५ पितृविसर्जिनी अमावस्या को विन्ध्याचल क्षेत्र के शिवपुर ग्राम में गंगातट पर 'रामगया' घाट पर सामूहिक पिण्डदान होता है। विन्ध्याचल क्षेत्र एवं आस पास के नागरिक एवं कुछ यात्रीगण पितृविसर्जिनी अमावस्या को यहाँ पिण्डदान देते है। ऐसी मान्यता है कि इस स्थल पर पिण्डदान देने से पितरगण अनन्त काल तक तृप्त रहते हैं। इसी दिन इस घाट पर मृतकों के परिवार के लोग अस्थि विसर्जन भी करते हैं। रामगया में पिण्डदान करने एवं उसके फल का वर्णन केवल विन्ध्यमाहात्म्य में ही प्राप्त होता है।

कराही चढ़ाना

यह एक लोक प्रथा है जो उत्तर भारत के सभी देवीमन्दिरों मे समान रूप से देखी जाती है। यात्री स्नानादि से निवृत्त होकर देशी घी की पूड़ियाँ तलता है तथा गेहूँ के आटे की लपसी (कम घी का हलुआ) यवागू बनाता है। इस पुड़ी एवं यवागू को अन्य पूजन सामग्रियों के साथ ही भागवती विन्ध्यवासिनी को अर्पित कर प्रसाद ग्रहण किया जाता है। क्योंकि पूड़ियाँ कड़ाही में ही बनती है। इसी कारण पूड़ी-लपसी के चढ़ावे को कड़ाही चढ़ाना कहा जाता है।

नवरात्र का विशाल जनसम्मर्द हो या पौष मास का अत्यल्प भीड़ वाला महीना हो विन्ध्याचल आने वाला यात्री यदि सरिवार है एवं नियमित यात्री है तो वह कड़ाही अवश्य चढ़ाता है। कुछ यात्रीगण पूजा के पश्चात् अपने पण्डा को संपरिवार भोजन भी कराते हैं। इसमें वे पूड़ी एवं लपसी के साथ सब्जी भी मिला देते हैं जबकि सब्जी देवी को चढ़ाने नहीं ले जाते। इस कृत्य में सभी वर्गों एवं वर्णों के यात्री समान रूप से भाग लेते है।

इसी प्रकार श्रावण में आने वाले खत्री-अग्रवाल जाति के लोग पूड़ी सूजी का हलवा एवं नमकीन चने स्वयं बनाकर भगवती को चढ़ाते है। प्रत्येक यात्री कम से कम ५ या सात पूड़ियाँ एव लगभग २०० ग्रा० लपसी या हलवा चढावे के लिए ले जाता है।

पूजनाङ्ग कृत्य

विन्ध्यवासिनी मन्दिर या मन्दिर क्षेत्र में अनेक पूजनाङ्ग धार्मिक कृत्य किये जाते है। इनमें से सामान्यतया कियेजाने वाले कृत्य निम्नवत् हैं-

१. हवन – यात्रीगण दर्शन करने के बाद देवी जी के हवनकुण्ड पर जाकर शाकल्य सामग्री से हवन करते हैं। यह २ प्रकार का होता है–१. चण्डीपाठ कराने वाले यात्री पाठ के अङ्ग के रूप में हवन करते है। ऐसे यात्री पंडितों का सहयोग लेकर हवन करते है तथा उनकी सामग्री भी विशेष होती है।

२. केवल दर्शन करने के पश्चात् हवन करते वाले यात्रीगण बहुधा सामग्री साथ लाते हैं जिसमें घी एवं तिल की प्रधानता होती है। प्रसाद की दुकानों पर बिकने वाली हवन सामग्री से भी कुछ यात्री हवन कर लेते हैं। इन यात्रियों के साथ पण्डे ही हवन स्थल जाते हैं तथा हवन कराते है। कभी कभी बिना पण्डों के भी यात्रीगण स्वयं ही जाकर हवन कर लेते हैं। नवरात्र के दिनों में हवन करने वाले यात्रियों की अनवरत शृंखला देखने में आती है। बिना पाठ किये हवन करने वाले यात्रियों में बिहार प्रांत के यात्री अधिसंख्य होते है।

२. बाह्मण-भोजन

वहुधा सभी वर्ग वर्ण एवं जाति के यात्रीगण। देवी पूजनोपरान्त ब्राह्मण भोजन कराते हैं। इसके ३ प्रकार हैं–

१. यात्री स्वयं भोजन बनाकर ब्राह्मणों को खिलाये।

२. अन्नसामग्री दानकर दे जो अपनी रुचि के अनुसार पका कर खाएँ।

३. किसी हलवाई के दुकान पर बिठाकर उसकी रुचि के अनुसार भोजना।

दीपदान

यह कृत्य नित्य एव नैमित्तिक दो प्रकार का होता है। नित्य दीपदान भी दो प्रकार का है–.

१. अखण्ड दीपक जलाया – नित्य अखण्ड दीप दान केवल पारीवाल एवं काशिराजधर्मार्थ ने ५ वर्षों पूर्व नित्य अखण्ड दीपदान करना बन्द कर दिया है। किन्तु पारीवाल प्रतिदिन अखण्ड दीपक जलाते है।

काशिराज धर्मार्थन्यास का दीपक मन्दिर के पूर्वी निकासद्वार के अन्दर वाले ऊपरी भाग की देहली के ऊपर बीच में बने ताखे में रखा जाता था। इस दीपक के लिए

काशिराजन्यास द्वारा प्रतिदिन ७५० ग्रा० शुद्ध घी दिया जाता था। इसे जलाने एवं उसकी अखण्डता की रक्षा करने की जिम्मेदारी उसदिन के पारीवाल की होती थी।

पारीवाल द्वारा यह अखण्डदीप दो बार जलाया जाता है प्रथम-मंगला आरती के पश्चात्। यह दीपक लगभग ३०० ग्राम घी का होता है तथा रात की छोटी आरती के लगभग जलता है दूसरा छोटी आरती के बाद जलाया जाता है जो सुबह मंगला आरती तक जलता है। यह क्रम प्रतिदिन के पारीवाल गण द्वारा निभाया जाना उनका कर्त्तव्य समझा जाता है।

१. सामान्य दीपदान यह भी दो प्रकार का होता है–१. पण्डागण एवं पवित्रक्षेत्र के निवासी प्रतिदिन सूर्यास्त के पश्चात् देवी के दर्शनार्थ आते हैं तथा मन्दिर के पासकी दूकानों से दीपक खरीद कर झाँकी के सामने जलाते हैं।

२. कुछ यात्री गण अपनी भक्तिभाव से प्रेरित होकर प्रतिदिन अपने पण्डा द्वारा सामान्य दीपक जलवाते है। इस कार्य के लिए वे अपने पण्डा को धनादेश द्वारा प्रतिमाह या प्रतिवर्ष धन भेज दिया करते है।

यह दीपक भी घी का होता है। किन्तु इसका पात्र बहुत छोटा होता हे तथा ५ से ८ मिनट तक जलता है। कुछ लोग दीपक के स्थान पर कपूर जला देते है।

नैमित्तिक दीपदान २ प्रकार का है–

१. संकट से रक्षा के लिए – विन्ध्याचल के पवित्र क्षेत्र में रहने वाले वे सभी नागरिक जो विन्ध्यवासिनी पर श्रद्धा करते हैं। चाहे किसी भी जाति या आर्थिक समुदाय के हो अपने या अपने किसी भी प्रिय के संकट काल में तत्काल देवी जी के मन्दिर में दीपक जला करर संकट से मुक्ति की प्रार्थना करते हैं। यह दीपक अधिकतर ३०० ग्रा० या कम से कम ७५ ग्राम घी का होता है।

सन् १९ में विन्ध्याचल क्षेत्र में भयानक चेचक (बड़ी) का प्रकोप हुआ था शताधिक लोग पीड़ित थे एवं मर रहे थे। उस समय सभी पण्डों ने लगातार २१ दिनों तक अखण्ड दीपक जलाकर कीर्तन किया था। इस अखण्ड दीपदान का नेतृत्व श्री विन्ध्यप्रसाद मिश्र ने किया था। संकट के अतिरिक्त हर्ष के अवसरों पर भी स्थानीय लोगों द्वारा दीपदान किया जाता है। किसी ने भूमि खरीदी, किसी की नौकरी लगी, कोई

साक्षात्कार के लिए जा रहा है। किसी को देर से पुत्र प्राप्ति हुयी किसी को मुकदमे में विजय मिली, वह मन्दिर पर देवी जी को दीपक अवश्य जलाता है।

२. पण्डा लोग किसी कामना की पूर्ति के इच्छुक यात्रीगण को दीपक जलवाने की सलाह देते हैं। मध्यप्रदेश, बिहार एवं उत्तरप्रदेश के अनेक यात्रियों की कामनाओं की पूर्ति के लिए उन के पण्डागण दीपक जलाते है। कामना की पूर्ति के पश्चात् यात्रीगण स्वयं आकर भगवती का पूजन करते हैं।

हवन

विन्ध्याचल में हवन का दो स्वरूप दिखाई देता है। १. पाठ, अनुष्ठान एवं कथा के पश्चात् २. बिना कोई धार्मिक अनुष्ठान किए।

१. विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर नवरात्र में एवं बिशेष पर्वों पर अथवा पौष को छोड़कर किसी भी माह में यात्रीगण चण्डी पाठ अथवा अन्य अनुष्ठान आदि कराते हैं। इसप्रकार के हवन की सामग्री अनुष्ठान की विधि पर निर्भर होती है। अनुष्ठान करने वाला पण्डित मन्त्र बोलता है एवं यात्री द्रव्य अग्नि में डालते है।

प्रत्येक मङ्गलवार एवं पूर्णिमा के दिन आने वाले ५० कि०मी० दूर तक के गाँवों के नियमित यात्रियों में से अनेक विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर बैठने वाले पण्डितों से सत्यनारायण की कथा सुनते हैं। कथा के पश्चात् दुकानों पर बिकने वाले सामान्य शाकल्य से हवन कराते है। इस शाकल्य में देवदारु का बुरादा, देवदारु की लकड़ी कुछ चावल एवं तिल होता है जिस में यात्री गण थोड़ा सा घी मिला लेते है।

२. कुछ यात्रीगण दर्शन पूजन के पश्चात् हवन अवश्य करते हैं। आवश्यक नहीं हैं। आवश्यक नहीं हैं कि उन्होंने अनुष्ठान किया हो। हवन के लिए ऐसे यात्रीगण सामग्री बहुधा अपने साथ लाते हैं। इसमें तिल, गुड़ एवं घी प्रमुख है। इस प्रकार के यात्री अधिक संख्या में आश्विन के नवरात्र में देखे जाते है।

इसप्रकार के यात्री बहुधा स्वयं ही हवनकुण्ड में जाकर हवन कर लिया करते है।

इनमें ऐसे ३४% ऐसे यात्री भी रहते है जो अपना अनुष्ठान घर पर करके केवल हवन के लिए विन्ध्याचल आते है।

मन्दिर धोना

यह कृत्य धार्मिक कम सांस्कृतिक अधिक है। चैत्र नवरात्र मेला की समाप्ति के बाद पूर्णिमा के दूसरे दिन सम्पूर्ण पण्डा समाज मिलकर मन्दिर का प्रत्येक भाग अच्छी प्रकार से धोकर साफ करते हैं। इस कृत्य में सभी पण्डा परिवार का कम से कम एक सदस्य सहभागिता करता है।

इस दिन सुबह मंगला आरती के पश्चात् मन्दिर धोने का क्रम आरम्भ होता है। प्रत्येक व्यक्ति पहले ५ घड़े गंगा जी से भर कर लाता है तथा मन्दिर का गर्भ गृह धोता है। उसके बाद गंगा जल से ही मन्दिर क्षेत्र के अन्य देवी देवताओं की मूर्तियों को स्नान कराता है। तत्पश्चात् जनजलवितरण के टंकी के भरणनाल को खोल दिया जाता है तथा सभी व्यक्ति वहाँ से नलकूप का जल लेकर मन्दिर का प्रत्येक कोना धोते हैं।

यह विन्ध्याचल के उन कुछ कार्यों में एक है जिसमें पण्डों के सामाजिक संगठन का दर्शन होता है। सभी लोग विन्ध्यवासिनी देवी के प्रति भक्ति भाव से मिलकर मन्दिर धोते हुए दिखाई देते हैं। यह पूरा क्रम लगभग ३ घंटे तक लगातार चलता रहा है तथा देखने में अत्यन्त कौतूहलपूर्ण एवं पवित्र लगता है। बच्चे, नौजवान, वृद्ध पण्डे पानी में भीगे हुए पूरे लगन एवं निष्ठा से मन्दिर की सफाई करते हैं। इसके पूर्व चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को भागीरथी पण्डा परिवार अपनी ओर से मन्दिर धुलवाता है। उनके पानी-भरवा मज़दूर मिट्टी के ११ घड़ों में पानी भर-भर के गंगा जी से लाते है तथा भागीरथी के परिवार के सदस्य गण मन्दिर को सामान्य रीति से धोते हैं। यह इस परिवार की अपनी व्यक्तिगत परम्परा हैं यद्यपि मन्दिर नवरात्र को छोड़ कर प्रतिदिन दोपहर की आरती के बाद धोया जाता है। किन्तु सभी पण्डों द्वारा सामूहिक रूप से मन्दिर की धुलाई का एक पृथक सामाजिक-धार्मिक महत्त्व है।

वैशाख कृष्ण १ को मन्दिर पर नगाड़ा वादन

मन्दिर धोने के पश्चात् शाम को सभी पण्डों द्वारा सामूहिक रूप से एवं व्यक्तिगत रूप से भगवती की बड़ी आरती का शृंगार कराया जाता है। इस शृंगार पूजा के पश्चात् एक अद्‌भुत धार्मिक धुन नगाड़े पर बजाया जाता है।

रात १०.३० पर सभी पूजन सामग्री के सथ विजयानगरम् (सप्तशती) कक्ष में पण्डागण बैठते हैं। उनसे लगभग १० फिट दूर मन्दिर पर नगाड़ा बजाने वाले जमींदार

चमारों के परिवार के सदस्य बड़े-बड़े ७ जोड़े नगाड़े ले बैठते हैं। सभी चमार गण खूब सजधज के साथ उत्साह पूर्वक भगवती विन्ध्यवासिनी के लिए नगाड़ा बजाना आरम्भ करते है। नगाड़े की यह धुन एकदम युद्धक वाद्य की भाँति उत्तेजक होता है। कोई भी आता जाता व्यक्ति वह धुन दूर से ही सुन कर बरबस खिंचा चला आता है। एक लय एक ताल में ७ नगाड़े वातावरण में १२ बजे रात तक अविच्छिन्न रूप से गूँजते रहते हैं।

यह एक अद्भुत धुन होती है जो वर्ष में एक बार ही सुनने को मिलती है। उस धुन को सुन कर ऐसी प्रतीति होती है जैसे देवी विन्ध्यवासिनी महिषासुर के बध के लिए पूरे उत्साहं में आक्रामक हो रहीं हों।

इस वादक समूह में केवल वही चमार बैठता है जिसकी पारी मन्दिर पर नगाड़ा वाले स्थल पर होती हो। भले ही वह स्वयं अपनी पारी पर मन्दिर पर न जाता हो किन्तु साल में एक बार नगाड़ा बजाने अवश्य बैठता है। केवल माता विन्ध्यवासिनी के लिए।

धार्मिक कृत्य-२

विन्ध्याचल में यात्रियों द्वारा देवीजी के दर्शन करने के सम्बन्ध कई आयाम देखने को मिलते हैं। दर्शन करने ये के वक्ष्यमाण आयाम यात्रिओं की विविधता के आधार पर दिखाई देती है। यात्री अकेला हो, पुरुष मित्रों के साथ हो, अधिक दूर से न आया हो, सपरिवार हो, किसी अभिलाषा की पूर्ति पर आया हो ये सभी तथ्य दर्शन करने के विविध विधिओं को नियन्त्रित करते हैं।

मन्दिर पर जाकर देवी जी के समक्ष अपनी धार्मिक भावनाओं को श्रद्धापूर्वक अर्पित करने को दर्शन शब्द का अर्थ समझना चाहिए। इसके ४ आयाम या विधा होते हैं ये चारो परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध भी रखते है एवं स्वयं में पूर्ण भी हैं।

१. धुरियाने पाँव – यात्री जब विन्ध्याचल आते ही पण्डा या धर्मशाला में सामान वगैरह रखकर बिना आराम किये, यात्रा के धूल भरे पैरों के साथ ही मन्दिर की सीढ़ियों पर सपरिवार माथा टेकते हैं तो इस क्रिया को 'धुरियाने पाँव गोड़ धरना' कहते है। यह क्रिया देहाती क्षेत्र के रायबरेली, सुल्तानपुर फैजाबाद, प्रतापगढ़, आजमगढ़, जौनपुर, कानपुर (देहात), गोरखपुर बस्ती, वहराइच, गोंडा आदि (उत्तरप्रदेश) के जिलों से आये यात्रियों में अधिक प्रचलित है। विशेषतः जब यात्री सपरिवार आते है तब अवश्य ही यह क्रिया करते है। बिहार एवं मध्यप्रदेश से आये यात्रियों द्वारा भी यह धार्मिक कृत्य किया

जाता है। किन्तु शहरी क्षेत्र के लोगों द्वारा, दूर के यात्रियों द्वारा अकेले यात्रियों द्वारा 'धुरियाने पाँव गोड़ धरने' की क्रिया कम होती है सिवा उनके जिनको ऐसा करने के लिए अपनी पारिवारिक परम्परा से निर्देश हो।

कुछ यात्री धुरियाने पाँव झाँकी तक भी चले जाते हैं। कुछ भगवती के पंडोहे से माथा टेक कर चरणामृत भी पीते है। सीढी से प्रणाम करने वाले यात्रियों से यह ज्ञात हुआ कि वे बिना स्नानादि किये मन्दिर पर जाकर इसलिए दर्शन नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार वे वे भगवती के धाम में आकर अपने आने की केवल हाजिरी दे रहे हैं।

झाँकी तक जाने वाले यात्रियों से वहाँ तक जाने के ३ कारण ज्ञात हुए १. सदा से ही धुरियाने पाँव झाँकी करते हैं। २. माँ बच्चों की पवित्रता को नहीं भाव को देखती है। ३. यहाँ से हाजिरी दे कर पुजापा लेकर अन्दर जाँएगे खाली हाथ नहीं।

इस क्रिया में अधिकांश यात्री फूल माला आदि नहीं चढ़ाता हैं। किन्तु झाँकी पर खड़े या यात्रियों के साथ जाने वालें पण्डों के उत्साहित करने पर कुछ यात्री कुछ पैसे दक्षिणा के रूप में चढ़ा देते है।

आनुषङ्गिक रूप से विन्ध्याचल आने वाले यात्रीगण यात्रा मार्ग में पड़ने वाले विन्ध्याचल धाम में कम समय होने के कारण इसी विधि से बिना स्नानादि किए केवल हाथ पैर माली के दुकान पर धोकर झाँकी से दर्शन कर लेते है इस प्रकार के यात्रियों के दर्शन को भी इसी विधि से दर्शन करने वालों में परिगणित किया गया है। क्योंकि इस प्रकार के यात्रीगण भी मन्दिर के भीतर प्रवेश इसी कारण नहीं करते क्योंकि वे स्वयं को मन्दिर के भीतर जाने योग्य पवित्र नहीं कर पाते।

झाँकी – पूजन सामग्री के साथ यद्यपि हर यात्री मन्दिर में प्रविष्ट होकर दर्शन करने का इच्छुक होता है। किन्तु मंगलवार, पूर्णिमा, नवरात्र आदि के अवसरों पर जब मन्दिर पर अत्यधिक भीड़ होती है तब अनेक यात्री एवं यात्री परिवार झाँकी से ही दर्शन करके तथा दूर से ही प्रसाद समर्पित करके परिक्रमा कर लेते हैं तथा दर्शन अर्थात् भगवती के मन्दिर में प्रविष्ट होकर पूजन सम्भार अर्पित करना भी दो प्रकार का होता है। १. पूजन की सामग्री लेकर भगवती के समक्ष जाना तथा समर्पित करके प्रसाद स्वरूप ग्रहण करना। इस विधि में अल्प व्यय होता है। तथा सम्पूर्ण सामग्री नारियल, चुनरी, रोली, सिन्दूर मिष्टान्न आदि यात्री को प्रसाद रूप में प्राप्त हो जाता है। २. विशेष आरती कराकर दर्शन करना। इस प्रक्रिया में भगवती के गर्भ गृह को फूलों से सजाया जाता है। भगवती

के लिए फूलों का किरीट, माला आदि भिन्न प्रकार के पुष्पाभूषण बना कर तथा साड़ी, अभिषेक सामग्री आदि पण्डा के माध्यम से शृंगारिया को दे दी जाती है। शृंगारिया उस सामग्री से भगवती का शृंगार करता है। शेष भांग आदि सामग्री लेकर यात्री उस शृंगार पूजन के बाद फाटक खुलने पर स्वयं जाकर दर्शन करता है। यह क्रिया अधिक व्यय साध्य होती है। तथा साड़ी आभूषण आदि जो सामग्री देवी जी को पहन दी जाती है। वह पुनः यात्री को वापस प्रसाद रूप में वहीं मिलती।

इस प्रकार के दर्शनार्थी वहुधा बड़ी आरती में ही अपना पूजन करा कर दर्शन करते है। श्रावण शुक्ल अष्टमी एवं एकादशी को छोटी बड़ी दोनों आरतियों में इसप्रकार का विशेष पूजन कराके दर्शन करने वाले अनेक यात्री होते है फलतः उस दिन भगवती का गर्भगृह फूलों से पूर्णतः सुसज्जित रहता है तथा उन्हें अनेकों साड़ियाँ पहनाई जाती हैं।

दर्शन के साथ पूजा

विन्ध्याचल में पूजन के भी कई रूप है। १. यात्री द्वारा पूजन कराया जाना। २. पण्डों द्वारा पूजन किया जाना। ३. विन्ध्याचल के सभी नागरिकों द्वारा पूजन किया जाता है

१. यात्रीगण द्वारा कराये जाने वाले पूजन को दर्शन में ही समाहित किया जा सकता है। किन्तु स्पष्टता के लिए अलग से इसे लिखा जा रहा है क्योंकि यात्रियों द्वारा पूजन कराये जाने की ३ स्थितियाँ होती है–

१. सामान्य – जब यात्री निष्कामभाव से कम खर्च का पूजन कराये या अपने घर से धनादेश भेजकर अपने पण्डों से पूजन करायें।

विशेष पूजन में भी दोनों उपर्युक्त विधियाँ अपनाई जाती हैं। अन्तर पूजन-सामग्री की अधिकता ही है।

वहुधा विशेष पूजन कराने वाले यात्री स्वयं उपस्थित रहते है किन्तु कुछ यात्री जो विदेशों में रहते हैं तथा नियमिंत रूप से नहीं पहुँच सकते वे अपने पण्डा के माध्यम से पूजन कराते है। जैसे इग्लैंड में रहनेवाले एक भारतीय व्यापारी श्री सुरेश श्रीवास्तव नियमित रूप से प्रत्येक नवरात्र एवं अन्य विशेष पर्वों पर कुछ द्रव्य भगवती के पूजन के लिए अपने पण्डा श्री विनोद पाण्डेय (पण्डा क्रमांक ५/२) के पास भेजते हैं तथा वे विधिवत् पूजन करके प्रसाद उन्हें लन्दन भेजते हैं।

२. मनौती का पूजन

जिस यात्री की जिस प्रकार की मनौती होती है वह उस प्रकार की सामग्री से भगवती का पूजन कराता है या उस प्रकार की सामग्री भगवती को अर्पित करता है। इसमें अखिया (चाँदी या सोने के नेत्र) धजा (चाँदी या सोने की मानवाकृति) कण्ठ (चाँदी का बेलन के आकार का टुकड़ा) खरबोट (चाँदी का पंजा या पैर) ध्वज या फरहरा एवं घण्टा (पीतल या अष्टधातु का) चढ़ाना या जीवदान या बलिप्रदान करना आदि अनेक वस्तुएँ अपने पूजन में सम्मिलित की जाती हैं।

३. निशापूजा एवं श्रावण शुक्ल ८ की पूजा

काम्य पूजन में पण्डों द्वारा दीपदान ही प्रमुख है। वे अपने किसी संकट को दूर करने के लिए दीपक जलाने की ही मनौती करते है। वैशाख कृष्ण प्रतिपदाको पण्डों द्वारा सामूहिक पूजन एवं प्रसाद वितरण होता है। नागरिकों द्वारा प्रत्येक हिन्दू त्यौहारों पर विन्ध्याचल क्षेत्र के हिन्दू नागरिक सपरिवार आकर भगवती का दर्शन पूजन करते है। उनके पूजन में प्रमुखतया साड़ी तथा घी का हलुआ (स्वयं द्वारा बनाया हुआ) प्रमुख होता है। होली दीपावली एवं कृष्ण जन्माष्टमी तथा दशहरा पर यह दृश्य अवश्य ही देखने को मिलता है।

मनौती

विन्ध्याचल में किए जाने वाले धार्मिक कृत्यों में मनौती का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान है। तथा मन्दिर से ही की जीविकोपार्जन करने वाले पण्डों पर इसका प्रभाव पड़ता है।

'मनौती' का अर्थ है किसी श्रद्धालु द्वारा अपने किसी कामना की पूर्ति या संकट निवारण के लिए भगवती विन्ध्यवासिनी से प्रार्थना करना तथा बदले में किसी व स्तुसमर्पण या क्रिया करने का संकल्प करना। 'मनौती' करने वाले यजमान का दृढ विश्वास देवी जी के प्रति होता है। वे पूरी निष्ठा से यह मानते है कि आपन्न संकट के निवारण या अमुक कामन की पूर्ति का एक मात्र मार्ग विन्ध्यवासिनी की कृपा ही है।

मनौती ३ प्रकार से की जाती है। १. भक्त अपने आवास स्थान पर ही संकट से त्राण के लिए मनौती करता है। २. दूसरी विधि में भगवती की मूर्ति के सामने खड़े

होकर मन में अपनी कामना का उल्लेख करते हुये मनौती की जाती है। ३. धरना विधि से भी मनौती की जाती है।

तीर्थ यात्रियों की ही भाँति पण्डे या विन्ध्याचल के नागरिक भी मनौती करते हैं।

मुण्डन

विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर चूड़ाकरण या मुण्डन संस्कार किया जाता है। १९८० तक मन्दिर के दक्षिण भाग में स्थित विजयनगर के राजा द्वारा बनवाये हुये सभा भवन में मुख्य रूप से मुण्डन संस्कार होता था। यद्यपि यह कोई नियत स्थान नहीं था। मन्दिर में कही भी कोई भी नाई मुण्डन करने के लिए बैठ जाया करता था। वि० वि० प० ने इसका स्थान सिंह चौक के उत्तरी हिस्से में नियत कर दिया तथा अब मुण्डन वहीं होता है। मुण्डन के लिए जल भगवती के पण्डोहे से ही लिये जाने की परम्परा है।

विन्ध्याचल के नागरिकों में से अधिकांश का मुण्डन संस्कार मन्दिर पर ही होता है। स्थान नियत होने के पूर्व श्रद्धालु व पनार्थी पण्डोहे के पास ही मुण्डन कराना पसंद करते थे। यह मुण्डन केवल चूडाकरण के ही उद्देश्य से नहीं होता अपितु किसी मनौती के कारण बढ़ायें गये बालों वाले यात्रियों का भी होता है। १९७७ में श्री राजनारायण का संकल्प था कि वे श्रीमती इन्दिरा गाँधी को चुनाव में परास्त करने पर विन्ध्याचल में अपना मुण्डन करायेंगे तथा उन्होंने चुनाव जीतकर वैसा किया भी।

जनेऊ संस्कार

विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर जनेऊ या यज्ञोपवीत संस्कार की २ प्रकार की परम्परा प्रचलित है।

१. मन्दिर पर जनेऊ संस्कार कराने के लिए सम्प्रति संस्कार समितियाँ कार्य कर है जिनमें आचार्य गण शास्त्रोक्त रीति से सामूहिक रूपसे वटुओं का यज्ञोपवीत संस्कार करते हैं। ये समितियाँ है—१. अखिल भारत वर्षीय संस्कार समिति विन्ध्याचल २. पण्डा संस्कार समिति विन्ध्याचल। इन समितियों के कारण यात्रियों का अल्पव्यय में यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हो जाता है।

२. यज्ञोपवीत की दूसरी विधि भी विन्ध्याचल में अत्यन्त प्रचलित है। यात्रीगण अपने पण्डा एवं अन्य ब्राह्मणों की सहायता से जनेऊ को पण्डोहे के पवित्र जल में भिगो

का बटु को पहना देते हैं। तथा यज्ञोपवीत के धार्मिक क्रियाओं के व्यय एवं विलम्ब से बच जाते है।

यज्ञोपवीत के लिए आये हुए वटुओं से पण्डा लोग इन दोनों विधियों का परिचय दे देते है। भगवती के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् या निर्धन या विलम्ब न चाहने वाले यात्री पण्डोहे पर ही अपना यज्ञोपवीत सम्पन्न कराते हैं।

ऐंसा भी देखा गया है कि भगवती के पण्डोहे पर जनेऊ पहना कर अत्यन्त निष्ठावान् यात्री घर जाकर उपनयन संस्कार की धार्मिक औपचारिकताएँ पूरी करते हैं। एंसे यात्री भी मिले हैं जो पुत्र के दीर्घायुष्य के लिए पण्डोहे पर जनेऊ की मनौती तक करते हैं।

बलिप्रदान

विन्ध्यवासिनी के मन्दिर पर प्रतिदिन सूर्यास्त के पूव्र कम से कम १ पशुबलि अवश्य ही कर दी जाती है।

मुख्य मन्दिर के सामने एक वर्गाकार चैक है वहीं पर पशु को लाकर महिषासुर की मूर्ति के सामने खड़ा कर दिया जाता है। तत्पश्चात् यजमान पशु का कान पकड़ कर फूल, अक्षत एवं जल तथा कुछ पैसे लेता है। पण्ड बलि के लिये संकल्प बोलत है। संकल्प के पश्चात्, यजमान हट जाता है तथा खड्ग का पूजन करता है तत्पश्चात् उसी पूजित खड्ग से गोसाईं द्वारा बलि चढ़ाई जाती है। इस कार्य में धैकार जाति के लोग उसकी सहायता करते हैं। यदि यजमान मांसभक्षी है अथवा प्रसाद रूप में बलि को ग्रहण करना चाहता है तो बलि उसे लौटा दी जाती है। बदले में यजमान कुछ द्रव्य उस दिन के पारीवाल को देता है। यदि यजमान बलि को स्वयं नहीं लेता तो उस पर पण्डा एवं पारीवाल दोनों का समान रूप से अधिकार होता है।

यद्यपि बलिप्रदान यात्री ही करवाते हैं। तथापि यदि किसी दिन यात्री द्वारा बलि न दी गई हो तो उस दिन के पारीवाल को सूर्यास्त से पूर्व बलिप्रदान करना पड़ता है। बलि न करने के अधर्म से हर पण्डा पारीवाल डरता है कि कहीं वह देवी जी के कोप का भाजन न बने; अतः प्रतिदिन कम से कम एक बलि प्रदान अवश्य ही हो जाता है।

नवरात्र

प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत में न केवल शाक्त पीठों में अपितु जहाँ भी शक्ति

उपासक होते हैं चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक तथा आश्विनशुक्ल प्रतिपदा से नवमी तिथि तक दुर्गा की विभिन्न मूर्तियों (Forms) की उपासना की जाती है। कुछ शाक्त उपासकों की पारम्परिक मान्यता है कि नवरात्र पर्व केवल चैत्र एवं आश्विन में ही नहीं होता अपितु श्रावण तथा माघ के भी शुक्ल पक्ष में नव तिथियों तक नवरात्र होता है तथा इन दिनों भी चैत्र एवं आश्विन की भाँति दुर्गोपासना फलदायी होता है इसका शास्त्रीय प्रमाण प्राप्त नहीं होता। चैत्रनवरात्र के विषय में कम प्रमाण मिलते हैं (**शरदवसंतयोस्तुल्य एव दुर्गोत्सवः कार्यः**)।

इन दोनों नवरात्रों को क्रमशः शयन तथा बोधन कहते है दो पूर्वो पर समान रूप से व्रत एवं पूजन करना चाहिए (पुरश्चर्यार्णव २.९६२) नवरात्र निर्णय–

नवशक्ति समायुक्तं नवरात्रं तदुच्यते।
एकैव देव देवेशि नवधा परिनिष्ठिता॥

शयनं बोधनाख्यं च नवरात्रं द्विधा भवेत्।
शयनं चैत्रमासीयमाश्विनस्थं च बोधनम्॥

द्वयोस्तु समुपोष्यैव सर्वसिद्धिं लभेन्नरः॥
निराहारी फलाहारी त्वेकभक्तो जलव्रतः॥

नक्तभोजी हविष्याशी यथाशक्ति समाचरेत्॥

नवरात्र शब्द के विषय में स्मृति कौस्तुम पृ० २८८ (अनन्त देव निर्णय सा० १९३१) मीमांसक शैली में विचार किया गया है ग्रन्थकार ने शास्त्रत्वेन देवीपुराण का निम्न उद्धरण दिया तथा उसमें प्रयुक्त नवरात्र शब्द को नामधेय माना तथा उसके गुण विधित्व का खण्डन किया साथ ही 'नवरात्र' को नित्यविधि के रूप में स्वीकार किया।

मासि चाश्वयुजे शुक्ले नवरात्रं विशेषतः।
सम्पूज्य नवदुर्गां च नक्तं कुर्वात् समाहितः॥

इसी के साथ ग्रन्थकार प्रतापरुद्र का भी उद्धरण देते है–

'आश्विने शुक्लपक्षे तु कर्तव्यं नवरात्रकम्।
प्रतिपदादि क्रमेणैव यावद्धिनवमी भवेत्॥'

'नवरात्र' शब्द पर ग्रन्थकार का अभिमत है कि इस शब्द में प्रयुक्त रात्रि शब्द को अहोरात्र पर न मानकर लक्षणा द्वारा तिथि परक मानना चाहिए अन्यथा उक्त शास्त्र से विरोध होगा, जिसमें नवरात्र के प्रसंग में नियततिथियों की ही गणना की गई है। अतः शास्त्र सिद्ध अथवा शास्त्रान्तर सिद्ध तिथिगत संख्या अथवा उन तिथियों में सम्पाद्यमान प्रधान कर्मगत संख्या को ध्यान में रखते हुये उसे भी नवरात्र शब्द की भाँति नामधेय ही स्वीकार करना चाहिए साथ शास्त्रों द्वारा प्रतिवर्ष 'नवरात्र' व्रत किये जाने के आदेश को नित्यविधि स्वीकार करना चाहिए-अत्र नवरात्र शब्दस्य गुणविधित्ववादिनामपि तदन्तर्गतो रात्रिशब्दोऽहर्गणनामधेयद्विरात्रान्तर्गतरात्रिशब्दवन्नसावनोहोरात्रपरः स्वीकार्यः। तत्रापि न यत् किञ्चिन्नवतिथ्यात्मक गुणविधि सम्भवः। नियत तावत्संख्यतिथि प्रापकेनानेन शास्त्रेण शास्त्रान्तरेण वा विरोधापत्तसेः, येनैवावश्यापेक्षणीयतिथिविशेषप्राप्तिस्तेनैव तावत् संख्या तिथिविशेष प्राप्तिसम्भवे पुनस्तत्प्रापणस्य प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् च। अतः शास्त्रान्तरसिद्धां तच्छास्त्रसिद्धां वा तिथिगतां तत्साध्यप्रधान कर्मगतां वा संख्यां निमित्तीकृत्याहर्गणनामधेयनवरात्रशब्दवन्नाम धेयत्वमेव स्वीकार्यम्। अन्यथा अस्मिन्काले नवरात्रं कुर्वादित्युक्तानेकवचोगतनिर्देशानुपपत्तेश्च। न च रात्रिपदे तिथ्यादिलक्षणाभ्युपगमो दोषः मीमांसकैस्तत्प्रख्यन्यायेन स्वीकृतनामत्वेषु दर्शपौर्णमासमित्यादिपदेषु लक्षणा स्वीकारदर्शनात्, गुणविधित्वादिनापि तिथिलक्षणा स्वीकारात् च। अस्ति च नामग्राहकं सामानाधिकरण्यं नवरात्रव्रतमिति। यत्रापि नवरात्रे इदं कुर्यादिति सप्तमी निर्देशतस्तत्रापि पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिकरोतीतिवत् कर्मनामैवेत्यलम्। यद्यप्युक्त देवीपुराणवाक्ये संपूज्यं नक्तं कुर्यादिति नक्तस्य विशेष्यत्वं प्रतीयते तथापि पूजनमेव प्रधानकर्म एकभक्तनक्तादिकं तु ज्योतिष्टोमे पयोव्रतादिवत् कर्तृसंस्कार द्वारा पूजनाङ्गमिति बोध्यम्। पूजाया एव नित्यकाम्याधिकारविधिम्यां प्राधान्यबोधनात्। नित्यविधिस्तावत् - वर्षे वर्षे विधातव्यं स्थापनं च विसर्जनम्।

इस प्रकार मध्यकाल में 'नवरात्र' अत्यन्त प्रतिष्ठित आनुष्ठानिक पर्व के रूप में सम्पूर्ण भारत में प्रचलित था। आज भी नवरात्र पर्व तिथियों के अनुसार ही मनाया जाता है। यदि किसी तिथि की हानि हो तथा प्रतिपदा एवं नवमी के मध्य ९ के स्थान पर ८ दिनरात का ही अन्तर हो तो सभी अनुष्ठान ८ दिन में ही पूर्ण कर लिए जाते हैं, किन्तु नाम 'नवरात्र' व्रत ही कहा जाता है। 'नवरात्र' शब्द में रात्रि शब्द के प्रयोग की सार्थकता रात्रिकाल में दुर्गा पूजन किए जाने से है। स्मार्तधर्म के व्यापक प्रभाव ने रात्रि शब्द का अर्थ विस्तार करके उसे तिथियों से जोड़ दिया।

आश्विने मासि मेघान्ते महिषासुरमर्दिनीम्।
निशासु पूजयेद्भक्त्या सोपवासादिकः क्रमात्। (स्मृ० कौ० पृ० २८९)

'नवरात्र' व्रत तथा शरद एवं वसन्त में इसका उत्सव, दुर्गोपासना, शस्त्रपूजा आदि धार्मिक कृत्यों का महत्त्वाख्यापन पुराणों ने तथा तान्त्रिक साहित्य ने अत्यन्त उत्साह पूर्वक किया है। साथ ही यह भी रोचकतथ्य हैं कि यह पर्व धार्मिक अनुष्ठानों पूजा अर्चना के लिए किसी भी वर्ण जाति लिंग वय के लिए सीमित न होकर सभी के लिए समान रूप से विहित है। देवी पूजा के लिए इतनी व्यापक लोकमान्यता सांस्कृतिक इतिहास के अध्येताओं के लिए अत्यन्त रोचक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इस सम्बन्ध में भविष्य पुराण उत्तर पर्व जिसे भविष्योत्तर पुराण भी कहा जाता हैं का निम्न उद्धरण स्मृति कौस्तुभ आदि स्मार्त निबद्धों में समान रूप से पाया जाता है–

पूजनीया जनैर्देवी स्थाने स्थाने पुरे पुरे।
गृहेगृहे भक्तिपरैर्ग्रामे ग्रामे वने वने।।

स्नातैः प्रमुदितैर्हृष्टैर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्नृपैः।
वैश्यैः शूद्रैर्भक्तियुक्तैर्म्लेच्छैरन्यैश्च मानवैः।।

स्त्रीभिश्च कुरुशार्दूल तद्विधानमिदं शृणु।।

इसी प्रकार के भाव देवीपूजाधिकारियों के प्रसंग में अथवा नवरात्र व्रत के प्रसंग में तान्त्रिक ग्रन्थों में तथा निबन्धों में बहुशः उपलब्ध होते हैं।

इस पर्व पर देवी पूजा की प्राचीनता सर्वमान्य है। सप्तशती (७७ शती ई० या उसके पूर्व) अध्याय १२ की उक्ति– **शरत् काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी।** इस बात का संकेतक है कि शरद् ऋतु में देवी पूजा लोक उत्सव के रूप में सप्तशती के अधिमान्य रूप की प्राप्ति के शताब्दियों पूर्व से प्रचलित था। इसी प्रकार देवी पुराण, जो कि निश्चित रूप से सप्तशती के प्रचार प्रसार से बहुत पहले सत्ता में आ चुका था, भी शारदीय नवरात्र का विधिवत् एवं विस्तृत वर्णन देता है तथा इस पर्व पर देवी पूजा के अधिकार के सम्बन्ध में उसी प्रकार उदार है जिस प्रकार भविष्योत्तर पुराण। इस प्रकार हम कह सकते है कि पुराणों के संकलन के प्रारंभिक काल में शारदीय नवरात्र को लोक में विधिक मान्यता प्राप्त थी।

यदि हम नवरात्र (शारदीय) के उत्पत्ति की ओर दृष्टिपात करें तो हमें आर्य एवं अनार्य जातियों के सांस्कृतिक मिलन के आधार विशेष पर भी प्रकाश पड़ता है। उत्तरवैदिक काल में प्रारम्भ हुये पुराणों के संकलन काल में प्राग्वैदिक शिव एवं दुर्गा अधिक प्रधानता एवं उदात्तता से वर्णित हैं। जैसा कि हज्रा आदि विद्वानों की मान्यता है कि आर्य आर्येतर संस्कृतियों का परस्पर नीरक्षीरवत् ऐक्य की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी गति से चली तथा दीर्घ काल तक चलती रही थी उस दृष्टि से शारदीय नवरात्र सर्वाधिक प्रधान एवं व्यावहारिक कड़ी थी। शरद् काल को वैदिक काल में वर्ष का सर्वाधिक खतरनाक भाग माना जाता था प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती थी कि वह शरद् काल को विना किसी कष्ट के नीरोग रहते हुये व्यतीतकरे इसीलिए शरद् को सम्भवतः जीवनगणना के लिए वर्ष का पर्याय माना जाता था। यह कामना की जाती थी कि व्यक्ति सौ शरद् तक जीवित रहे - **शतमिन्नुशरदो अन्ति देवाः** ......ऋ०१/८९/९; **शतं नो रास्व शरदो** ऋ०२/२७/१० **अस्मे शतं शरदो जीवसे** ऋ०३/३६/१०; **शतं जीवति शरदः** अथर्व० १/१०/२०; **शतं च जीव शरदः** २/१३/३; **शतं जीव शरदो वर्धमानः** ३/११/४; **शतं जीवेम शरदः** आदि इसी प्रकार वाजसनेयीसंहिता २५/२२ तथा ३६/२४ के प्रसिद्धमन्त्र **पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्** आदि अनेक मन्त्र उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं।

शरद् काल ज्वरादि रोगों का काल होता है काठक मैत्रायणी तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में शरत् का अम्बिका से तादात्म्या माना गया है। अम्बिका रुद्र की बहन है तथा उन्हें पुरोडाश आदि यज्ञ भाग देकर इसलिए प्रसन्न किया जाता है जिससे शरद्रूपा अम्बिका किसी जीव का हनन न करें—

शरद् वै रुद्रस्य स्वसा अम्बिका ताम् एषोऽन्ववाचरति तस्माद् एष शरदि भूयिष्ठां हन्ति॥ काठक सं. १०/७; ३६/१४।

शरद् वा अस्याम्बिका स्वसा। तया वा एष हिनस्ति। यं हिनस्ति तयैवैनम् सह शमयति। तै० ब्रा० १/६/१०/४

शरद् वै रुद्रस्य योनिः स्वसाम्बिकैताम् वा एषोऽन्वभ्यवचरति तस्माच्छरदि भूयिष्ठां हन्ति तयैवैनाम् सह निरवदयते....। मैत्रायणी सं १/१०/२० तै० ब्रा० १/६/१०/४ की, तै० सं० १/८/६/१ में उद्धृत करते हुये सायणाचार्य इसप्रकार व्याख्या करते हैं—

'शरत्कालोहि पीनसज्वर आद्युत्पादनेन हिंसकस्तद्वदियमम्बिका हिंसिका। ततः शरदित्युच्यते। एष रुद्रस्तयैव सहाय भूतया प्राणिनं हिनस्ति। अतस्तया सह

पुरोडाशभागसेवया तुष्टया तयैव सहैवैनम् रुद्रं शमयति हिंसारहितं करोति।' वाजसनेयी संहिता ३/५७ की पंक्तियाँ ऊपर उद्धृत काठक संहिता की पंक्तियों के समान हैं इन पंक्तियों का भाष्य करते हुये महीधर इस प्रकार लिखते हैं--

अम्बिकाया रुद्रस्यभगिनीत्वम् श्रुत्योक्तम्। अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयस्यैष सह भाग इति योदयम् रुद्रारण्यः क्रूरो देवस्तस्य विरोधिनम् हन्तुमिच्छाभवति तदानया भगिन्या क्रूर देवतया साधन भूतया तम् हिनस्ति। सा चाम्बिका शरद् रूपं प्राप्य। ज्वरादिकं उत्पाद्य तम् विरोधिनम् हन्ति। रुद्राम्बिकयोरुग्रत्वयनेन हविषा शान्तं भवति। तथा च तित्तिरिः-एष ते रुद्रभागः सह स्वस्राम्बिकयेत्याह शरद् वा अस्याम्बिका सा मिया एषा (? का स्वसा तया वा एष) हिनस्ति यम् हि नस्ति तयै वैनम् सह शामयतीति। तै० प्रा० १/६/१०/४)

'अम्बिका' मूलतः वैदिक देवता हैं परवर्ती साहियों में दुर्गा के नामान्तर या रूप विशेष के रूप में वर्णित है। यह तथ्य अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि वैदिक जन भी शरद् काल से भयभीत होकर रोगादि द्वारा होने वाली हानियों को दूर करने के लिए शरद् काल में अम्बिका की उपासना अवश्य ही करते थे। इस उपासना की प्रधान देवी विन्ध्यवासिनी थी। लोग वहाँ जाकर भी पूजन करते थे तथा जो नहीं जाते थे वे कहीं भी विन्ध्यवासिनी की पूजा किया करते थे--

एवं विन्ध्यवासिन्या नवरात्रो पवासः।
एक भक्तेन नक्तेन तथैवायाचिते न च।।

पूजनीया जनैर्देवी स्थाने स्थाने पुरे पुरे।। भविष्य० पु० १३८/२९-३०

आज भी सम्पूर्ण भारत वर्ष में यह पूजा होती है। विन्ध्याचल में तो यह पर्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। त्रिकोण क्षेत्र का सम्पूर्ण भाग यात्रियों, याजकों एवं सप्तशती अनुष्ठान मे रत साधकों से भरा रहता है।

अष्टम अध्याय

मन्दिर अर्थव्यवस्था

विन्ध्यक्षेत्र की आर्थिक गतिविधियाँ

किसी भी महत्त्वपूर्ण तीर्थ का महत्त्व उसकी सांस्कृतिक धार्मिक गतिविधियों के कारण होता है। वही उस तीर्थ में तीर्थ यात्रियों के आकर्षण का कारण बनती है। किन्तु यात्रियों के नियमित आवक के कारण तीर्थ क्षेत्र की सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियों को एक विशेष रूप से गतिशील होना स्वाभाविक होता है।

विन्ध्याचल के पवित्र क्षेत्र की आर्थिक गतिविधियों को मुख्यतः २ भागों में विभाजित कर सकते हैं– १. मन्दिर से सीधी सम्बद्ध आर्थिक गतिविधियाँ। २. मन्दिर से परम्परया सम्बद्ध आर्थिक गतिविधियाँ।

यद्यपि विन्ध्याचल में ३ प्रमुख धार्मिक केन्द्र है एवं तीनों मिल कर आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करतीं हैं। किन्तु मुख्यतः विन्ध्यवासिनी मन्दिर के आसपास का वातावरण एवं उसका महत्त्व शेष केन्द्रों एवं अन्य आनुषंगिक धार्मिक केन्द्रों एंव स्थलों को प्रभावित करते हैं। अतः मुख्यतः इस क्षेत्र की आर्थिक कार्यप्रणाली के संचालन में विन्ध्यवासिनी मन्दिर को ही प्रधान माना जा सकता है।

मन्दिर से सीधे सम्बद्ध अर्थप्रणाली के अन्तर्गत यात्रियों के धन के वितरण पर आधारित वृत्ति वाली संस्थाओं पण्डों, पारीवालों, घाट के महापात्रों। नाइयों, चमारों, धैकारों एवं मन्दिर पर भिक्षावृत्ति करने वाले व्यक्तियों का परिगणन किया जा सकता है। इसके साथ मन्दिर पर अनुष्ठान करने वाले पण्डितों अन्य उपकेन्द्रों या अप्रधान धार्मिक स्थलों से सम्बद्ध लोगों की अर्थव्यवस्था को भी सम्मिलित किया जा सकता है।

मन्दिर से सीधे प्रभावित होने वाले क्षेत्रों के दो प्रकार हैं– क. धार्मिक ख. सामाजिक।

क. मन्दिर से परम्परया सम्बद्ध तीन धार्मिक प्रतिष्ठान या स्थल हैं। १. विन्ध्याचल के गंगा घाट २. रामगया घाट ३. भैरव कुण्ड सीताकुण्ड ये तीनों स्थल विन्ध्याचल आने वाले यात्रियों के धन के वितरण से प्रभावित होते हैं। किन्तु इस धन वितरण का इन्हें आनुषङ्गिक लाभ ही मिलता है। रामगया घाट एवं भैरव कुण्ड आदि मठों को उनके स्वतन्त्र धार्मिक महत्त्व होने के कारण यात्रियों के एक विशेष वर्ग के अर्थ वितरण का सीधा लाभ भी होता है।

ख. विन्ध्याचल मन्दिर से परम्परया सम्बद्ध सामाजिक प्रतिष्ठानों में प्रसाद के व्यवसायी यात्री आवासों, के मालिक यात्री परिवहन, यात्रियों के रुचि से सम्बन्धित वस्तुओं के व्यवसायी एवं नागरिकों की दैनन्दिन आपूर्ति के उपभोक्ता सामग्रियों के व्यवसायी सम्मिलित हैं।

सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि इस अध्याय में प्रस्तुत किए जाने वाले विवरणों की पूर्णं सत्यता का दावा नहीं किया जा सकता है। किसी भी धार्मिक केन्द्र की व्यवस्था यदि पूर्ण रूप से किसी समुचित एवं क्रियाशील नियन्त्रित नहीं होती है तब उन धार्मिक केन्द्रों की अर्थव्यवस्था या आय का यही अनुमान होना कठिन है। मन्दिर से लाभान्वित होने वाले सभी किसी असंघटित संस्था के रूप में मन्दिर व्यवस्था से जुड़े हैं।

मन्दिर से सीधे सम्बंद्ध वृत्ति

१. पारीवाल

विन्ध्याचल पवित्र क्षेत्र के २० स्थलों पर बारी बारी से प्रतिदिन अलग अलग व्यक्ति उस स्थल की आय के लिए अधिकृत होता है। इनमें ११ स्थल विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर हैं। मन्दिर के धार्मिक स्थलों से ब्राह्मण भाट, गोसाई, नाई, चमार, धैकार वर्ग जीविका की दृष्टि से सम्बद्ध है। अन्य ९ स्थलों पर ब्राह्मण एवं गोसाई पारीवाल हैं। सभी ब्राह्मण, भाट, गोसाई पारीवाल अधिकृत पण्डा हैं। जो स्थल जिस वर्ग के अधिकार में है वह उन स्थलों के पारीवालों की जीविका का प्रमुख माध्यम है।

विन्ध्यवासिनी के पारीवाल

विन्ध्यवासिनी मन्दिर के पारीवालों के मन्दिर से आय प्राप्त करने के अधिकारों के विषय में तथा आपसी बंटवारे के नियम पथक् दिए गए हैं। यहाँ उनकी पारी से होने वाली आमदनी के माध्यम आर्थिक विकास के स्वरूप का निदर्शन किया जा रहा है। विन्ध्यवासिनी मन्दिर में ५५ पण्डों (१९८८ में) की पारी है।

इन में ३ पारीवाल प्रमुख कहे जा सकते हैं। इनकी पारियाँ मास में कई बार आतीं है। शेष में से कुछ की मास में १ बार कुछ की वर्ष में २, ३ बार एवं कुछ की दो वर्ष में १ बार पारी होती है।

पारियों से प्राप्त होने वाले आय का औसत प्राप्त करने का एक मात्र साधन पारियों की ठंकेदारी है। हमने ठेके पर उठने वाली पारियों से उसकी औसत आय का अनुमान लगाने का यत्न किया है। यद्यपि ठेकेदार मुनाफे की आशा से पारियों को ठेके पर लेते हैं तथापि कभी कभी वह घाटे का सौदा भी होता है। अतः ठेके से प्राप्त होने वाले आय के आंकडे सर्वथा शुद्ध नहीं हो सकते किन्तु एक अवधारणा बनाने में सहायक अवश्य होंगे। इनके आधार पर पारीवाल पण्डों की जीविका में इस आय की भागीदारी की कल्पना की जा सकती है। पारी की आय को विन्ध्यवासिनी के लिए यात्रियों के द्वारा अर्पित धन का धन का ३१.२५% माना जा सकता है।

कच्ची एवं पक्की पारियाँ

यदि पारी की आय पारीवाल के लिए पारी का दिन बीतने एवं आय की गणना के पूर्व ही सुनिश्चित हो जाए तो उसे **पक्की पारी** संज्ञा दी जाती है। जब कोई पारीवाल एक निश्चित धन राशि लेकर किसी अन्य पण्डा को अपनी पारी पुजाने[1] के लिए अधिकृत कर देता है, तब वह 'पारी' उसके अधिकारी के लिए पक्की हो जाती है। इस प्रकार ठेके पर न दी जाने वाली पारी को 'कच्ची पारी' की संज्ञा दी जाती है। क्योंकि उसे पारी पुजाने के पश्चात् ही आय का ज्ञान संभव हो पाता है।

अतः पारीवाल के लिए आय की निश्चितता एवं अनिश्चितता के आधार पर पारी को कच्ची या पक्की कहा जाता है। साल भर की सभी दिनों की पारियाँ कच्ची या पक्की हो सकती हैं। पारी ठेके पर हो अथवा 'कच्ची पुजाई' जाए किन्तु पारी की आय प्राप्त करने वालों के लिए कुछ व्यय आवश्यक होते हैं। उसमें मन्दिर के दैनन्दिन पूजन का व्यय, भी विन्ध्यवासिनी कोश, बलि, अपने सहायकों के पारिश्रमिक पर होने वाला व्यय, सम्मिलित हैं।

पक्की पारी की प्रक्रिया–

दीवान – विन्ध्याचल में पारियों को पक्की बनाने की प्रक्रिया करता है। दीवान

---

१. पारी के दिन मन्दिर के अन्दर बैठकर चढ़ोत्तरी संग्रह करना। शृंगार की व्यवस्था, बलि की व्यवस्था प्रसाद वितरण करना पारी पुजाना कहा जाता है।

हर पारीवाल को उसकी पारी के कई दिन पूर्व उसे सूचित करता है। इस सूचना के लिए आजकल उसे कुछ रूपय देने की प्रथा है। इस प्रकार प्रत्येक पारीवाल से सूचना देने से प्रतिमाह की दीवानीवृत्ति प्राप्त होती है। जो पारीवाल अपने पारी के दिनों को गणना द्वारा जानते हैं वे भी परम्परानिर्वाह के लिए दीवानी वृत्ति देते हैं। यह दीवान पारी की सूचना देने के साथ ही पारीवाल से ज्ञात करता है कि वह अपनी पारी को ठेके पर देना चाहते हैं या स्वयं पुजाना चाहते हैं। इसके लिए वह पूर्वोक्त 'कच्ची' 'पक्की' शब्दों का प्रयोग करता है।

ठेकेदार – विन्ध्याचल के पारीवाल, पारीविहीन पण्डों में कई व्यक्ति पारियों को ठेके पर लेने का व्यवसाय करते हैं। ये कई छोटे छोटे समूहों में बंटे होते हैं। ये समूह टूटते एवं बनते रहते हैं। एक ही पारी के कई लिए व्यक्तियों की रुचि होने के कारण ठेके पर जाने वाली पारियों के दाम प्रतियोगिता के कारण बढ़ते हैं।

अर्थव्यवस्था में पारियों की भूमिका

पारियों से होने वाली आय दिन तिथि एवं माहों के आधार पर घटती एवं बढ़ती हैं। प्रति रविवार, मंगलवार, पूर्णिमा नवरात्र के १५ दिन (प्रतिपदा से पूर्णिमा तक) अक्षयतृतीया आदि मुण्डन एवं जनेऊ के मुहूर्तों के दिनों की पारियाँ अधिक आय वाली अन्य दिनों में अपेक्षाकृत कम आय वाली मानी जातीं हैं।

कम आयवाले दिनों को आर्थिक महत्त्व को दृष्टि से विन्ध्याचल में दो भागों में बाँटा जाता है। इसके लिए, 'चलता' एवं 'ठाला' शब्द का प्रयोग किया जाता है। चैत्र नवरात्र के बाद के महीनों में किसानों एवं अन्य यात्रियों की यात्राएँ अधिक होती हैं। इसलिए इन दिनों को 'चलता' कहा जाता है। आश्विन नवरात्र के बाद कार्तिक से फाल्गुन तक यात्राएँ अपेक्षाकृत कम होती हैं। अतः इन दिनों को 'ठाला' कहा जाता है।

नवरात्र, एवं अक्षयतृतीया आदि मुहूर्त पर्वों की पारी का ठेका १५ से ४० हजार तक होने के समाचार मिलते हैं। नवरात्रों के प्रत्येक दिन की पारी औसतन १२ हजार तक हो सकती है। नवरात्र में छठे से नवें दिन तक रविवार भी हुआ तब उस दिन की पारी का ठेका ३५-५० हजार रु० तक भी हो सकता है। वैशाख से आश्विन कृष्ण पक्ष तक की पारियों का ठेका औसतन २००० प्रतिदिन एवं आश्विन नवरात्र के पश्चात् कार्तिक से चैत्र कृष्ण अमावास्या तक औसतन ३००० रु० में हो सकता हैं। इस प्रकार पारीवाल वर्ग की जीविका का प्रमुख माध्यम पारी है।

पारियों का विभाजन

पण्डों के पारियों का विभाजन पूर्णतः अलिखित नियमों पर आधारित परम्परागत रूप से सभी पारीवालों द्वारा स्वीकृत एक अत्यन्त मनोरञ्जक आर्थिक संविदा है। इन विचित्र एवं उलझे हुए नियमों के विषय में वर्तमान में किसी को कुछ भी तथ्य ज्ञात नहीं है तथापि सर्वस्वीकृतनियम के रूप में प्रचलित है। अधिकांश पारीवाल पूरे वर्ष की सभी पारियों को यथा क्रम लिखने में असमर्थ है। जिनकी पारियाँ सबसे अधिक है वे भी नियमों के मूलसिद्धान्तों के विषय में अधिक स्पष्ट नहीं है। जो व्यक्ति आजकल दीवानी का कार्य करता है यद्यपि उसने इन नियमों को पूर्व में पण्डों से ही सीखा था तथापि वह किसी को भी इन नियमों के विषय में नहीं बताता। यह आश्चर्य जनक तथ्य है कि विन्ध्याचल के पण्डागण अपनी जीविका के लिए सर्वाधिक आवश्यक नियमों को न तो जानते हैं न जानने की विशेष चेष्टा ही करते है। जबकि वे नियम इतने उलझे हुए है कि उसमें दीवानी करने वाला इन आलिखित नियमों की व्याख्या का एकमात्र साधन होने के कारण किसी भी प्रकार की गड़बडी कर सकता है। अत्यन्त प्रयास पूर्वक स्वर्गीय पं० ज्वाला प्रसाद की १९४० ई० तथा १९४४ ई० की डायरियों से कुछ सामग्री प्राप्त हो पाई उसके आधार पर पारीवालों के आपसी बँटवारे के नियमों का स्वरूप प्रस्तुत है। पारियों के नियमों के विषय में अध्ययन करते हुए इन तथ्यों पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए,

१. पारियों की गणना तिथियों के आधार पर चैत्र माह के प्रथम दिन से प्रारम्भ होती है।

२. तिथियों की ज्योतिषीय गणना के अनुसार हानि होने पर भी पारी के गणना की दृष्टि से उस तिथि की हानि नहीं स्वीकार की जाती है।

३. पारी के नियमों के विषय में मूल पारीवाल के नाम वास्तविक ही दिए गए हैं। उन नामों की बारम्बरता परिशिष्ट में देखें।

४. पारियों का प्रारम्भ मूलतः ६ परिवारों से आरम्भ हुआ था इसे स्थानीय भाषा में खूँट कहा जाता है।

नियम –

वस्तुतः आरम्भ में जब मन्दिर व्यवस्था पण्डों ने करना आरम्भ किया तब एक एक दिन के क्रम से सभी पारीवाल बन जाते थे। किन्तु परिवार बढ़ने के साथ साथ तथा आपसी सम्बन्धों एवं आवश्यकताओं के कारण पारियों के मूल अधिकारियों ने अपने अपने

पारी का बटवारा कर दिया। प्रत्येक मूल परिवार से सम्बद्ध विभाजन एक खूँट का विभाजन कहा गया। जिनके परिवार वंशहीन होकर समाप्त हो गए उनके दत्तकों या सम्बन्धियों ने उनके पारियों को ले लिया था। खूँट क्रम में विभाजन के बाद पारियों के आने के दिनों की गणना अत्यन्त जटिल हो गई तथा इस जटिलता को दूर करने के उपाय आजतक नही हुए। इस क्रम के कुछ नियम इस प्रकार हैं –

१. भवानीलाल के पारियों का विभाजन

क. जब देवीदयाल रघुवीर दत्त की पारी होगी उसके ६४ वें दिन देवीदयाल कृष्णा की पारी होगी। देवीदयाल कृष्णा के ६४ वें दिन देवीदयाल मातादेई इनके ६४ वें दिन पुनः देवीदयाल कृष्णा की पारी। इनके ६४ वें दिन देवीदयाल रघुवीर दत्त की पारी होगी। यह भवानीलाल के एक पारी का विभाजन क्रम है।

ख. रघुवीर दत्त की पारी से १३० वें दिन लोलई कृष्णा इनके १३० वें दिन पुनः लोलई कृष्णा इसके १३० वें दिन गङ्गाप्रसाद की पारी होगी। यह भवानी लाल की द्वितीय पारी का बँटवारा है।

ग. रघुवीर दत्त की पारी से १३० वें दिन कृष्णा; इसके १३० वें दिन मातादेई; इसके १३० वें दिन पुनः कृष्णा उनसे १३० वें दिन रघुवीर दत्त की पारी होती है। यह तृतीय पारी का विभाजन है।

घ. नन्दकिशोर की पारी से १३० वें दिन सीतलाप्रसाद; उनके १३० वें दिन हीरालाल उनके १३० वें दिन पुनः नन्दकिशोर। यह चतुर्थ पारी का विभाजन है।

ड. बेनीकदमा की पारी के १३० वें दिन हीरालाल लोलई कृष्णा की पारी होगी।

च. भवानी लाल के २ माह ४ दिन के अन्तराल में आने वाली सभी पारियों में १/४ भाग काशी प्रसाद का होता है।

भवानी लाल की पारियों का विभाजन इतना उलझा हुआ है कि उसकी गणना ठीक-ठीक हो सके इसके लिए उनके सभी १६ भागों का एक दूसरा क्रम परम्परा से प्राप्त होता है। यदि उनकी सभी पारियों को निम्न तालिका के अनुसार रखा जाए तो अधिक सरलता से गणना सम्भव होगी

इन दोनों सूचियों में आधा-आधा अर्थात् एकपारी प्रथम सूची में एक पारी द्वितीय सूची में बँटी है–

प्रथम सूची क्रम		द्वितीय सूची क्रम	
१.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	१.	गंगा प्रसाद
२.	बेनीकदमा	२.	देवीदयाल रघुवीदत्त
३.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	३.	हीरालाल लोलईकृष्णा
४.	कृष्णा	४.	देवीदयालकृष्णा
५.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	५.	हीरालाल लोलईकृष्णा
६.	बेनीकदमा	६.	देवीदयाल, मातादेई
७.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	७.	नन्दकिशोर
८.	मातादेई	८.	देवीदयालकृष्ण
९.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	९.	हीरालाल, लोलई, कृष्णा
१०.	बेनीकदमा	१०.	देवीदयाल, रघुवीर दत्त
११.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	११.	शीतलाप्रसाद
१२.	कृष्णा	१२.	देवीदयाल, कृष्णा
१३.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	१३.	गङ्गाप्रसाद
१४.	बेनी कदमा	१५.	देवीदयाल, मातादेई
१५.	काशी प्रसाद (१/४ भाग)	१५.	हीरालाल, लोलई, कृष्णा

इसी प्रकार बराबर नाम रखने पर भवानीलाल के पारियों का विभाजन उचितरीति से होगा किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होगी।

२. **रामदयाल की पारियों का विभाजन**- रामदयाल की पारियाँ इसप्रकार बँटती है-

१. रामदयाल की प्रथम दो पारियाँ काशीप्रसाद को मिलती हैं

२. प्रत्येक १३० दिन पर बेनीकदमा को प्राप्त होती है।

३. प्रत्येक ६ माह १५ दिन पर तीन व्यक्तियों को

क. बूढ़ा, गंगाप्रसाद, ख. महन्थ (मीरजापुर), ग. धर्मध्वजाप्रसाद।

इस पारी की विशेषता यह है कि यदि ६ माह १५ दिन बाद रविवार हो तो आगामी बुधवार को अर्थात् ६ माह १८ दिन पर पारी पुजाने का अधिकार मिलेगा।

४. बूढ़ा, विश्वनाथ प्रसाद एवं कृष्णा प्रत्येक ६ माह १५ दिन पर, उसके बाद शीतला प्रसाद एवं धर्मध्वजा ६ माह १५ दिन पर रामदयाल की पारी पाएँगे।

३. छठएँक पारी का विभाजन

यह अनाम पारीवाल है, इसे प्रारम्भ से ही यही नाम प्राप्त है इस नाम की सभी पारियों को क्रमशः कदमा, लोलई, कृष्णा एवं महन्थ पारी आने के क्रम से प्राप्त करेंगे।

४. खेदा की पारियों का विभाजन

निम्नलिखित व्यक्ति प्रत्येक ४ माह १० दिन पर यथा क्रम पारी प्राप्त करते हैं–

भगवती प्रसाद,	काशी प्र०, बबुई	प्रथम
" "	" " फेकू	द्वितीय
" "	" " बदल	तृतीय

५. सालिक की पारियों का बँटवारा

सालिक की प्रथम ३ पारियाँ देवानन्द को तथा चौथी पारी महन्थ को प्राप्त होती है।

६. छोटकू की पारियों का विभाजन

इनकी पारियाँ क्रमशः काशीप्रसाद, छड़हा, गंगाप्रसाद, एवं गङ्गादीन प्राप्त करते हैं।

७. वंशगोपाल का विभाजन

इनकी पारी ४ माह १० दिन पर होती है। ३ पारियों के बाद चौथी देवानन्द को प्राप्त होती है।

पारियों के कुछ विशेष क्रम–

१. देवीदयाल की पूर्ण पारियाँ प्रत्येक १८वें दिन होती हैं किन्तु इनकी प्राप्ति

का क्रम इसप्रकार है– १, २, ३, ५, ६, ८, ९, ११, १२, १४, १५, १७, १८, १९ देवीदयाल के वंशजों को ४, ७, १०, १३, १६ काशी प्रसाद को तथा इसी क्रम से बचऊ को प्राप्त होता है।

२. सुखरानी की पारी यद्यपि ४६वें तथा ३६वें दिन के क्रम से होती है किन्तु यह पारी सबके बाद अर्थात् यदि ४६, ३६ दिन की गणना वाले दिन किसी अन्य की पारी न हो तभी रखी जाती है।

३. अमरा, छोटकू, गुनई, लई, काजी/गुरुप्रसाद को १.५ या ३.६ तथा ७ के क्रम से पारी दी जाती हैं

४. आद्याप्रसाद देवीचरन को १.५ या ३.६, ७.४ के क्रम से पारी प्राप्त है। किन्तु यह पारी ७ बार पड़ने के बाद आठवीं पारी दुर्गाचरन की होगी।

५. जब **छठएँक** की प्रथम या तीसरी पारी हो तब जिसे १.५ मिलती है उसे ३.६ तथा जो ३.६ का अधिकारी है उसे १.५ मिलेगा।

पारियों के इन विचित्र नियमों का हेतु दृढ सामाजिक एवं वृत्तिक संगठन तथा पारियों के प्रति स्थाई या अचल सम्पत्ति की भावना थी। **यहाँ नाम मूल रूप से इसलिए दिए गए क्योंकि–१. इस प्रकार का समझौता अन्यत्र नहीं देखा जा सकता। २. विन्ध्याचल के निवासी इन नियमों के विषय में बहुत कम जानते है। उन्हें अपने पारियों एवं मूलपुरुषों के विषय में जानकारी स्पष्ट रूप से प्राप्त हो सकेगी।**

पारियों के विभाजन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक वर्ष में पड़ने वाली प्रत्येक पारियों की मूल नामों के साथ सूचीबद्ध रूप में दे रहे हैं। ये सूचियों दो प्रकार की हैं–१. संबत् २००१ के पारीवालों की सूची जिन्होंने अपनी पारियाँ पुजाई थी। २. द्वितीय सूची प्रत्येक पारीवाल के अधुनातन (१९९०) अधिकारियों / वंशजों की सूची है जिससे पारियों के बदले स्वरूप का प्रदर्शन अध्येताओं के लिए हो सके। सूचियों के लिए परिशिष्ट ५ देखें।

पारी से प्राप्त धन से व्यय–

प्रत्येक दिन प्रत्येक पारीवाल अपनी आय से मन्दिर का व्यय देता हैं। आज कल अपने परिवर्तित स्वरूप से प्रत्येक पारीवाल निम्न व्यय देता है– १. दीवानी २५ रु० से १०० तक + दस रुपए सूचनार्थ। अधिकतर तीन श्रेणियों में दीवानी दी जाती है– २५ रु०, ५० रु०, १०० रु०। यह दीवानी केवल ठेके पर पारी देने की स्थिति में ही दी जाती है।

२. पारी पुजाने में सहायकों को पारिश्रामिक दिया जाता है। आमतौर पर पारी ४-६ लोग मिलकर पुजाते हैं। नवरात्रों में यह संख्या १० तक भी रखनी पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति को पारीवाल ५० से ३०० रु० तक देने की सूचना प्राप्त होती है। इस प्रकार पारी पुजाने से यथाक्रम कुछ व्यक्तियों को आय हो जाती है।

मन्दिर खर्च-मन्दिर का खर्च विन्ध्यवासिनी कोष के माध्यम से होता है। उसके लिए प्रत्येक पारीवाल के लिए १२५ रु० प्रतिदिन देने का नियम है।

यदि किसी दिन सूर्यास्त तक मन्दिर के बलिवेदी पर एक भी पशुबलि नहीं हुई तब पारीवाल अपने व्यय से बलि करता है इसमें २५० से ५०० रु० तक का व्यय हो सकता है। अनुमानतः प्रत्येक ४:१ दिन पारीवाल को स्वयं ही बलि का प्रबन्ध करना होता है। उक्त व्यय में बलि एवं सहायकों को पारिश्रामिक देने का उत्तरदायित्व पारी पुजाने वाले व्यक्ति पर होता है। शेष व्यय का उत्तरदायित्व पारी के अधिकारी पर होता हैं।

पारीवालों का वह वर्ग जो बहुत सी पारियों का स्वामी है अपनी पारियों के आय को अन्य आर्थिक स्त्रोत बनाने में व्यय कर पाता है। इस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति मध्यम श्रेणी की है। इस वर्ग के व्यक्तियों को यात्रियों द्वारा भी कुछ आय होती है। इनके पुराने यात्रियों की संख्या पर्याप्त है।

जिन पारी वालों को मास में एक बार भी पारी पुजाने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। वे केवल पारी की आय से अपने परिवार की जीविका नहीं चला सकते। वे भी पण्डाई वृत्ति खेती की भूमियों एवं अन्य व्यवसाय आदि के माध्यम से अपनी जीविका अर्जन करने का प्रयास करते हैं। जिन लोगों की पारी २ मास, ४, ६ या, १३ मास, १७ मास के अन्तर पर एक बार आती है। उनकी जीविका का साधन जुटाने में पारियों की आय का योगदान अल्प है यदि किसी पर्व या नवरात्र के दिन पारी हुई तब तो अच्छी आय हो सकती है तथा वे उसका उपयोग किसी ठोस रचनात्मक कार्य के लिए कर सकते हैं।

मन्दिर का व्यय १९५३ ई० के पूर्व

मन्दिर की आय से पारीवाल गण १५ आने प्रतिदिन खर्च के लिए निकाला करते थे। ये १५ आने निम्न मदों में निकाले जाते थे।

१. गणेशद्वार (पश्चिमी प्रवेश मार्ग) पर प्रतिदिन दीपक जलाने के लिए दो पैसा दैनिक तेली को दिया जाता था। तेली प्रतिदिन दीपक में तेल डालता था तथा अपना पैसा लेता था।

२. एक आने प्रतिदिन मन्दिर की सफाई करने वाले को दिया जाता था। धैकार जाति का कोई व्यक्ति प्रतिदिन मन्दिर की सफाई करता था।

२. बलि-वेदी की सफाई भंगी जाति का व्यक्ति करता था उसे भी **एक आने** प्रतिदिन दिया जाता था।

३. एक व्यक्ति रात में विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर पहरेदारी के लिए रहता था। उसे ४ आने प्रतिदिन दिए जाते थे। यह व्यक्ति पण्डा वर्ग का ही होता था। इस की नियुक्ति प्रमुख पारीवाल लोग आपसी सहमति से कर देते थे। पहरेदार ही दूसरे दिन के पारीवाल को 'मंगला आरती' के एक घण्टे पूर्व घर से जागाकर बुलाता भी था।

४. तीन आने प्रतिदिन दोनों शृंगारिया को सम्मिलित रूप से शृंगार करने की दक्षिणा के रूप में दिया जाता था।

५. दो आने प्रतिदिन, पण्डों में शैक्षिक वृत्ति के उत्साहवर्धन हेतु देवी प्रसाद वर्णवाल द्वारा स्थापित 'देवी पुस्तकालय' को दान स्वरूप दिया जाता था।

६. कड़ा मानिक पुर प्रयाग (शीतला देवी का तीर्थ) एवं वैद्यनाथ धाम (देवघर बिहार) के पण्डों को देने के लिए एक-एक आने निकाले जाते थे। यह पैसा मन्दिर के निकट दूकान करने वाले एक वणिक् के पास जमा किए जाते थे। उक्त स्थानों के पण्डे चैत्र नवरात्र के बाद विन्ध्याचल आते थे। प्रत्येक स्थान का पण्डा उस वणिक् से २२ रु० १३ आने प्राप्त करता था।

७. गया के पण्डा का एक प्रतिनिधि विन्ध्याचल में निवास करता था। उसे 'बड़े-खजाने' के निकट मन्दिर के उत्तरी भाग की भूमि में स्थित एक हवन वेदी से प्राप्त होने वाले दक्षिणा आदि का अधिकार उस यज्ञवेदी के कथित स्वामी ने दे दिया था। उस यज्ञवेदी से प्राप्त आमदनी का कुछ भाग उसे वृत्ति के लिए मिलता था। मन्दिर की ओर से उसे २ पैसा प्रतिदिन दिए जाने की व्यवस्था थी।

आनुषंगिक धार्मिक केन्द्रों का योगदान

बताया गया है कि मन्दिर के अतिरिक्त १० धार्मिक स्थलों पर भी पारियाँ होती हैं। ये स्थल अधिकृत व्यक्तियों की जीविका के साधन हैं।

विन्ध्याचल मन्दिर पर स्थित महाकाली मन्दिर, महासरस्वती मन्दिर, शिवमन्दिर (खर्परेश्वर), दुर्गामन्दिर, राधाकृष्ण मन्दिर विन्ध्यावासिनी के परिक्रमा क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। महासरस्वती मन्दिर एवं दुर्गा मन्दिर के पुजारी परिवारों की जीविका पूर्ण रूप से इन

मन्दिरों की दैनिक आय पर निर्भर है। यद्यपि ये पण्डा होने के कारण यात्रियों द्वारा भी आय करते हैं किन्तु वह गौण है तथा मन्दिर ही इन की जीविका के मुख्य साधन हैं।

खर्परेश्वर शिवमन्दिर में ४ गोसाई परिवारों की पारी होती हैं ये चारों गोसाईं परिवार इस मन्दिर की आय के साथ-साथ पण्डाई एवं पारियों की ठेकेदारी, प्रसाद की दूकानों एवं अन्य व्यवसाय आदि के माध्यम से भी आय करते हैं। राधा कृष्ण मन्दिर परिक्रमा क्षेत्र से पृथक् है। अतः उसमें यात्रियों का जाना कम हो पाता है। इसका पुजारी विन्ध्यवासिनी मन्दिर का पारीवाल भी है। अतः उसकी जीविका का निर्वाह राधाकृष्ण मन्दिर के अतिरिक्त यात्रियों के दान, विन्ध्यवासिनी मन्दिर की पारी एवं खेती आदि व्यवसायों से होती है। राधाकृष्ण मन्दिर की आय को सहयोग मात्र कहा जा सकता है।

मन्दिर के अन्य स्थलों में पण्डोहा, ध्वजस्थल (निशान), हवनकुण्ड नगाड़ा-धौसा; बलिवेदी, के पारीवालों में प्रथम ३ के पारीवाल ब्राह्मण, भट्ट एवं गोसाईं है। इसके जीवननिर्वाह का एकाकी साधन ये स्थल नहीं बन सकते। पण्डोहा एवं हवनकुण्ड के पारीवाल अपने पारियों का ठेका देने पर वर्ष में अधिकतम क्रमशः १०००० एवं ७००० रु० तक प्राप्त करते हैं। इनकी जीविका का प्रमुख साधन यजमानी वृत्ति एवं प्रसाद की दूकानों द्वारा व्यवसाय करना है। पण्डोहे के तीनों पारीवाल यजमानी एवं दूकानें करते हैं। हवन-कुण्ड के एक पारीवाल की मन्दिर में सर्वाधिक पारियाँ हैं। हवनकुण्ड पर यात्रियों से हवन करने के पश्चात् हवन की दक्षिण लेकर अपनी जीविका चलाने के इच्छुक हवनकुण्ड के अल्पआर्थिक स्तर के पारीवाल अन्य पारी वालों से वर्षभर का ठेका ले लिया करते हैं। इस प्रकार हवन कुण्ड एक या दो परिवार के नियमित आय का साधन बन जाता है। इस स्थिति में इस स्थल से होने वाले आय से जीविका का निर्वाह हो सकता है।

मन्दिर पर पुश्तैनी रूप से नगाड़ा बजाकर ५ चमार परिवार जीविका अर्जित करते हैं। यद्यपि ये शादियों में शहनाई बजाना ढोलक बनाना, प्लम्बर का कार्य, पान, आदि का व्यवसाय आदि आनुषङ्गिक कार्य करते हैं तथापि मन्दिर पर नगाड़ा बजाकर धार्मिक-आय इनकी जीविका का महत्त्व पूर्ण अंग है।

नगाड़े वालों में कम से कम तीन व्यक्ति प्रतिदिन मन्दिर पर सुबह ५ बजे से रात ८-९ बजे तक रहते हैं। 'चमरुआ नाच' (धार्मिक कृत्य) से होने वाली आमदानी की सभी उपस्थित पारिवाल आपस में बराबर वितरित करते हैं। चमरुआ नाच कराने वालों की यात्राएँ अब कम हो गई है। अतः उससे प्राप्त आमदनी को इनकी जीविका का सहायक कहा जा सकता है।

बलिवेदी पर मूलतः चार धैकार परिवारों की पारी होती है इनकी आदमी बंटवारा मन्दिर के पारीवाल के आधार पर होता है। जिसकी पारी विन्ध्यवासिनी मन्दिर में होती है उससे सम्बद्ध धैकार उस दिन बलिवेदी के लिए अधिकृत होता है। भगवती के बलिवेदी के नाम पर यात्रियों से याचना करके एवं बलि पशुओं के चमड़े आदि की सफाई के पारिश्रमिक के रूप में उसे द्रव्य प्राप्ति होती है।

याचक– मन्दिर पर दो प्रकार के याचक यात्रियों से पैसे माँगते हैं। १. माला या रक्षासूत्र पहनाकर माँगने वाले भिक्षुक कुछ भाट, गोसाई एवं बाहर से आए हुए ब्राह्मण विन्ध्यवासिनी को चढ़ी हुई मालाओं को हुए रक्षासूत्रों को मन्दिर में से इकट्ठा करके यात्रियों को पहना कर याचना करते हैं। इनमें से कई पञ्जीकृत गरीब पण्डा भी हैं।

अन्य भिक्षुक – मन्दिर के पश्चिमी भाग में नगाड़ा, बलिवेदी के पारीवालों के अतिरिक्त उसी वर्ग के १२ से २० लोग प्रतिदिन परिक्रमा करने वाले एवं मुण्डन कराने वाले यात्रियों से मन्दिर के सफाई वाले, झाडू वाले, शहनाई वाले, पंखा झलने वाले बन कर याचना करते हैं उनकी याचना की शैली एक साथ यात्रियों को घेर लेने की होती है जिससे यात्रियों को अपने धार्मिक कार्यों के सम्पादन में असुविधा भी होती है। पर्वों एवं नवरात्र के दिनों में ये याचक अपने रिश्तेदारों को भी इस कार्य के लिए बुला लेते हैं।

अष्टभुजा एवं महाकाली मन्दिर का आर्थिक महत्त्व

अष्टभुजा मन्दिर के सभी पारीवालों के लिए मन्दिर की आय आनुषङ्गिक महत्त्व की हैं सभी पण्डे हैं तथा विन्ध्यवासिनी मन्दिर में भी उनकी पारियाँ हैं। ये सभी अपना अपना भाग किसी एक व्यक्ति को ठेके पर दे देते हैं। अतः वस्तुतः ठेकेदार के लिए इस मन्दिर की आय जीविका का साधन है। विन्ध्याचल के ठेकेदारों की रुचि के कारण इस मन्दिर के पारीवालों की आय बढ़ी है। अष्टभुजा मन्दिर के एक वर्ष की सभी पारियों का ठेका १००,०००/- में तक होने की सूचना है। कालीखोह के ५ पारीवालों में से केवल एक अपनी पारी स्वयं पुजाते हैं ४ कभी ठेके पर दे देते है कभी स्वयं पुजाते हैं। प्रत्येक पारीवाल को पाँचवे दिन मन्दिर की व्यवस्था करने तथा आय लेने का अधिकार प्राप्त हैं।

काली खोह की पारियाँ एक साल के लिए ३०००० रू० तक ठेके पर उठने लगी हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक यह राशि १०००/- तक ही होती थी। वहाँ यात्रियों की संख्या आवागमन की सुविधा के कारण आय बढ़ी है।

रामेश्वर मन्दिर (शिवपुर) एवं विन्ध्येश्वर मन्दिर विन्ध्याचल द्वारा १-१ गोसाई परिवारों की जीविका चलती है। रामेश्वर मन्दिर के पुजारी अधिक सम्पन्न हैं एवं नौकरी आदि अन्य व्यवसाय भी करते हैं।

त्रिकोण परिक्रमा के अन्तर्गत पारियों से प्रभावित एवं वर्ग–

पारीवाल परिवारों की

	स्थल	संख्या	पण्डा वर्ग
१.	विन्ध्यवासिनी मन्दिर	५५	ब्राह्मण
२.	काली खोह मन्दिर	५	ब्राह्मण
३.	अष्टभुजा मन्दिर	७	ब्राह्मण
४.	महाकाली मन्दिर (विन्ध्याचल मन्दिर पर)	१	ब्राह्मण
५.	महासरस्वती मन्दिर	१	ब्राह्मण
६.	खर्परेश्वर मन्दिर (विन्ध्याचल मन्दिर पर)	४	गोसाईं
७.	राधाकृष्ण मन्दिर (वि० मं० पर)	१	ब्राह्मण
८.	दुर्गा मन्दिर (वि० मं० पर)	१	ब्राह्मण
९.	भैरव मन्दिर (थाने के निकट)	४	गोसाईं
१०.	संकठा मन्दिर (शिवपुर)	१	ब्राह्मण
११.	रामेश्वर मन्दिर (शिवपुर)	१	गोसाईं
१२.	षष्ठी देवी (शिवपुर)	१	ब्राह्मण

१३.	विन्ध्येश्वर मन्दिर (विन्ध्याचल)	१	गोसाईं
१४.	हनुमान मन्दिर (बँधवा)	३	ब्राह्मण
१५.	हनुमान मन्दिर (निहुट)	१	गोसाईं
१६.	स्थल बलिवेदी (विन्ध्याचल)	४	धैकार
१७.	नगाड़ा (विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर)	५	चमार
१८.	हवन कुण्ड (विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर)	८	ब्राह्मण
१९.	पण्डोहा	३	ब्राह्मण (१) भाट (१) गोसाईं (१)
२०.	ध्वज स्थल	१	गोसाईं

२. पण्डा

वि० पं० समाज के निर्माण के समय पण्डों द्वारा इस 'वृत्तिक संगठन' के प्रति स्वीकृति का विश्लेषण

सारिणी से स्पष्ट है कि कुल २०९ पण्डा परिवारों में ८८.५२ प्रतिशत पण्डों की मुख्य जीविका यजमानी वृत्ति ही थी। ९०.४३ प्रतिशत अपनी स्थाई सम्पत्ति विन्ध्याचल में ही बना चुके थे। संख्या एवं वृत्तिक प्रभाव की दृष्टि से ब्राह्मण वर्ग अधिक शक्तिशाली था। किन्तु ब्राह्मणों में भी ४७.३७ प्रतिशत परिवार अधिक प्राचीन एवं प्रभावी नहीं थे। अतः कुल ५७.९ प्रतिशत लोग वृत्तिक दृष्टि से पूर्ण असहाय कहे जा सकते थे। इनके पास केवल यजमानी का साधन था। जोकि पूर्ण अनियमित एवं अव्यवस्थित था। १.९१ प्रतिशत ऐसे लोग भी थे जिन के पास यजमानी एवं स्थाई सम्पत्ति कुछ ही नहीं था। ये भाग दर्शन

करवैया नौकर की हैसियत में थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि ५९.८१ प्रतिशत व्यावहारिक पण्डों के लिए वृत्तिक संगठन एक अपरिहार्य आवश्यकता थी। शेष ४०.१९ के लिए वृत्तिक संगठन का सुव्यवस्थित हो जाना सुविधाकारक था।

३०.६२ प्रतिशत पारीवालों में केवल ६ पारीवाल अधिक पारियों के स्वामी थे। पारम्परिक बटंवारे के नियम में परिवर्तन होने की स्थिति में तथा बंटवारे में पण्डों को अधिक महत्त्व देने के सम्बन्ध में उन लोगों को शेष पारीवालों का पूर्ण समर्थन भी नहीं प्राप्त था इसके अतिरिक्त ६१.७२ प्रतिशत लोगों को बंटवारे से पूर्ण रूप से लाभान्वित होना था। ९०.४३ प्रतिशत लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी सन्तति के लिए नियमित यात्री बनाने का अवसर उपलब्ध हो रहा था। प्रश्नोत्तर के अवसरों पर वृद्ध पण्डों में बताया कि यदि पण्डा समाज नहीं बनता तो कुछ दिनों में पण्डाई पेशे से पुराने पण्डे एकदम अलग होने पर विवश हो जाते एवं किसी की भी पुरानी यजमानी नहीं बचती। प्राचीनतर ब्राह्मण परिवार भाटों एवं गोसाइयों को वैधानिक पण्डा बनाने के पक्ष में नहीं के। भाट, गोसाईं कुल पण्डा परिवारों के २२.०१ प्रतिशत थे। इन लोगों के पास यजमानी वृत्ति यद्यपि कम थी किन्तु अनेक वृत्तिक कार्य जैसे पारी का हिसाब रखना, प्रत्येक दिन के पारीवाल को घर पर सूचित करना, पारियों का ठेका देने एवं लेने वालों के लिए विचौलिए का काम करना अपने मालकों के यजमानों को दर्शन कराना, पारीवालों एवं ठेकेदारों के साथ मन्दिर में पारीपुजाना पण्डा पारीवाल के बंटवारे का हिसाब रखना, मन्दिर माला कलाई (रक्षासूत्र) पहनाकर भिक्षा माँगना आदि कार्य करते थे। गोसाई लोग अधिक अधिकारों के कारण वृत्तिक संगठन के अनिवार्य अंग बन गए थे। इन लोगों का अधिकार विन्ध्यवासिनी मन्दिर के अनेक छोटे केन्द्रों पर पुश्तैनी रूप से थी। अतः केवल सामाजिक स्तर के भेद के कारण इन लोगों की पण्डाई वृत्तिक वर्ग से व्यवहारतः अलग नहीं किया जा सकता था। २१५ पण्डों ने सन् १९५३ में पण्डा समाज की नियमावली के समर्थन में हस्ताक्षर किये थे। इनमें मात्र २४ लोगों ने निरक्षर होने के कारण अंगूठा निशान दिया था। १२२ युवाओं में मात्र ९ निरक्षर थे। वृत्तिक संघटन में अपनी पृथक् पहचान बनाने के लिए उनमें उत्कट इच्छा रहती थी।

यद्यपि ब्रह्मभट्टों को पण्डाई का वैधानिक अधिकार प्राप्त होने की स्थिति में उन्हें सर्वाधिक लाभ था। वे अपने पूर्व कर्तव्यों के साथ साथ स्वतन्त्रतया यजमानी वृत्ति के लिए अधिकृत होते किन्तु ब्रह्मभट्टों के ३९ परिवारों के २३ व्यक्तियों में ही हस्ताक्षर किए थे। जिनमें ६ अशिक्षित भी शामिल थे।

१९५३ ई० में वृत्तिक संगठन के स्वीकर्ता

(कुल पण्डा २१५ (२०९ परिवारों से सम्बद्ध)

आयु वर्ग

१	२	३	४	५
पण्डा वर्ग	१८ से ३५ वर्ष	३६ से ५० वर्ष	५१ से अधिक	योग
ब्राह्मण	१०३	६१	२१	१८५
	(०४)	(०४)	(०८)	(१६)
ब्रह्म भट्ट	१४	०५	०४	२३
	(०४)	(०२)	(–)	(०६)
गोस्वामी	०५	०१	०१	०७
	(०१)	(–)	(–)	(०२)
योग	१२२	६७	२६	२१५
	(०९)	(०७)	(०८)	(२४)

(कोष्ठक की संख्याएँ निरक्षरों की संख्या को द्योतित करती है।)

अब कुल ४५९ पण्डों में से १६३ पण्डागण प्रतिदिन यजमानी वृत्ति करते हैं। ये सभी अपने श्रम एवं चेष्टा के आधार पर अपनी जीविका प्राप्त है। नवरात्र के दिनों में ३९० की संख्या तक पण्डागण पण्डाई वृत्ति करते हैं। शेष पण्डे वृद्धता, आर्थिक सुरक्षा अथवा व्यवसाय, आदि में व्यस्त होने के कारण यजमानी वृत्ति में कम रुचि लेते हैं।

यजमानी वृत्ति से प्रत्येक पण्डा परिवार की औसत आय ७० रू० प्रतिदिन है।

पण्डों के अधिकतर परिवार संयुक्त परिवार के रूप में रहते हैं। परिवार बड़े होते हैं। अतः केवल यजमानी वृत्ति से कुल ६७ परिवारों की जीविका चलती है। जीवन स्तर में सुधार के लिए अनेक पण्डे अन्य व्यवसाय भी करते हैं। ४७ परिवारों के पास कृषियोग्य भूमि है। ८८ पण्डों के पास यात्रियों के लिए आवासीय सुविधाएँ हैं। अब अपने मकानों के यात्रियों के विश्राम आदि की सुविधा देकर दक्षिणा के स्थान पर एक रात्रि के निवास के लिए ११ रु० या २५ रु० प्रति यात्री परिवार प्राप्त करने की व्यवस्था अधिक

प्रचलित हो रही है। नवरात्र के दिनों में यह किराया ३०/- से १००/- प्रतिदिन तक भी हो सकता है। विन्ध्याचल के आवासीय धर्मशालाओं की तुलना में पण्डों का मकान यात्रियों के लिए अधिक सस्ता एवं सुरक्षित होता है। एक पण्डा परिवार के चुनरी, लाची दाना, नारियल, सिन्दूर एवं प्रसाधन सामग्री की थोक आपूर्ति का कार्य करता हैं तथा प्रति नवरात्र ७ लाख से अधिक मूल्य की वस्तुओं का विनिमय है ३७ परिवारों के पास अपनी भूमियों में बनी हुई दूकानें है जिन्हें किराए पर देकर आय के साधन बनाए जा रहे हैं। मन्दिर के निकट की दूकानों के किराए ७००० से ६०००० रु० प्रतिवर्ष तक हो सकता है। कुछ मीरजापुर एवं विन्ध्याचल के सरकारी ठेकों का कार्य हैं कुछ पण्डे विभिन्न राजकीय विभागों में नौकरियाँ करते हैं। जो पण्डे शुद्ध रूप से पण्डाई पेशा करते हैं। उनमें से दो ने यात्रियों के सहयोग से एक मन्दिरों का भी निर्माण कराया है। इस मन्दिरों में भी कुछ भक्त जन जाने लगे हैं तथा दक्षिणा आदि चढ़ाने लगे हैं।

३. पण्डित

कन्तित ग्राम के ७ एवं विन्ध्याचल में रहने वाले १० पण्डितों की जीविका पूर्णरूप से विन्ध्यवासिनी मन्दिर से ही सम्बद्ध है। ये पण्डितगण यात्रियों को सत्यनारायण की कथा सुनाते हैं एवं सप्तशती का पाठ अथवा अनुष्ठान करते हैं।

जो पण्डित कन्तित वासी हैं। उनकी यजमानी वृत्ति भी विन्ध्याचल ग्राम में है किन्तु प्रधान रूप से पण्डितों की वृत्ति मन्दिर से ही जुड़ी हुई है। प्राप्तविवरणों के अनुसार प्रत्येक पण्डित औसतन ३ यात्रियों एवं १ पण्डा की मंगलकामना के लिए सप्तशती का पाठ प्रतिदिन करता है। एक सप्तशती पाठ करने की औसत दक्षिणा २५/- है। इन दिनों कन्तित के पण्डित गण यात्रियों के अनुष्ठान के अतिरिक्त संस्कार समितियों भी कार्य करते लगे हैं। जनेऊ के मुहूर्त वाले दिनों में पण्डितों की आय का बड़ा हिस्सा इन्हीं समितियों से जुड़ा होता है। एक बटु के जनेऊ संस्कार के लिए १०/- शुल्क यात्रियों को देना होता है। १९१७ में स्थापित अखिल भारतीय संस्कारसमिति प्रतिवटु एक रू० भू स्वामी को देकर शेष के पूर्ण अधिकारी पण्डितगण होते हैं।

सत्यनारायण की कथा सुनाने वाले पण्डितगण मंगलवार एवं पूर्णिमा के दिन विन्ध्याचल के सीमावर्ती जिलों से आने वालेयात्रियों के कारण अपनी जीविका निर्वाह कर लेते हैं। सत्यनारायण की कथा वाचन करने वाले पुरोहितों की संख्या घटती बढ़ती रहती है। मंगलवार एवं पूर्णिमा के दिन १५ पण्डित इस धार्मिक कार्य को करते हुए देखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि कथा सुनाने वाले पण्डितों के लिए मन्दिर की कमाई आनुषङ्गिक महत्त्व की होती है। स्थायी रूप से मन्दिर पर यही व्यवसाय करने वाले मात्र ५ पण्डित हैं।

४. शृंगारिया

दो पण्डा परिवार पारम्परिक रूप से शृंगार करने के लिए अधिकृत है। शृंगारिया को कुछ यात्री भगवती का साक्षात् पूजक होने के कारण कुछ राशि अथवा उपहार श्रद्धा से दे दिया करते हैं। किन्तु शृंगारिया की मुख्य वृत्ति पारी एवं पण्डाई वृत्ति पर निर्भर होती है।

५. नाई

४६ व्यक्ति मन्दिर पर क्षौर कर्म करते हैं। ये यात्री आगमन मार्गों से मुण्डन या जनेऊ करने वाले यात्रियों की पहचान करके उनके साथ साथ आते हैं। जो नाई जिस यात्री के साथ आता है वही उस यात्री के बच्चों का मुण्डन मन्दिर पर बने स्थान पर करता है। एक मुण्डन के लिए नाई ११/- से १०१/- तक प्राप्त करता है।

विन्ध्यविकास परिषद एवं श्री विन्ध्यपण्डा समाज का आर्थिक उत्तरदायित्व

'विन्ध्यपण्डा समाज' संस्था पण्डा-पण्डा सम्बन्ध, पण्डा-पारीवाल के मध्य आर्थिक विवरण को नियमित करने का उद्देश्य पूरा कर पायी थी। मन्दिर खर्च के लिए १९५३ ई० में ६/- प्रतिदिन देने के लिए पारीवालों के लिए नियम था। इसमें भगवती की दैनिक पूजन सामग्री मात्र का व्यय कल्पित किया गया था। मन्दिर के रखरखाव प्रकाश आदि की व्यवस्था के लिए विन्ध्यपण्डा समाज यथेच्छ धन नहीं जुटा पाता था। कोष की कमी से जिन दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति विन्ध्य पण्डा समाज नहीं कर सकता था। १९८३ विन्ध्य विकास परिषद की स्थापना हुई। उसने सहायता रसीदों, दान पात्रों के माध्यम से कोष जुटाना आरम्भ किया। ८३ से ८४ में मन्दिर व्यय के लिए उत्तरदायी पारीवालों ने १३४ रु० के दैनिक व्यय का विवरण दिया था। परिषद् के अध्यक्ष जिलाधिकारी मीरजापुर ने औसतन १००/- प्रतिदिन देने के लिए पारीवालों से निवेदन किया। १ वर्ष तक देने के पश्चात् एक राजनेता के कहने पर पारीवालों ने १००/- दैनिक औसत से देना बन्द कर दिया। १९८९ से १२५/- प्रतिपारीवाल (१००/- मन्दिर खर्च २५/- विन्ध्यवासिनी कोष) विं० पं० सं० को मन्दिर व्यय हेतु देने का निर्देश है। विं० वि० प० अपने कोश से शृंगार पूजा की सामग्री का व्यय करता है। विं० पं० स० भी १२५/- (१००/- पूजन व्यय २५/- विन्ध्यवासिनी कोष) लेकर शृंगार सामग्री देते है। इस प्रकार शृंगार सामग्री के विषय में कौन उत्तरदायी है यह कहना कठिन है। अनेक भक्त पूजन सामग्री सीधे श्रृंगारिया को भी दे देते हैं।

विं० पं० स० एवं विं० वि० प० यद्यपि मन्दिर व्यवस्था के लिए बनी सिद्धान्ततः एक दूसरे की पूरक संस्थाएँ है। किन्तु ये दोनों स्वयं को व्यवहारतः एक दूसरे से पृथक् रखतीं हैं। अपने लिए पृथक् आर्थिक स्रोतों का निर्माण करती हैं।

विं० वि० प० के ३ प्रमुख आर्थिक स्रोत है – १. यात्रियों से प्राप्त होने वाले दान २. पण्डों का वार्षिक शुल्क। ३. पारीवालों से प्राप्त होने वाला मन्दिर व्यय सहयोग। यात्रियों से दान लेने के लिए संस्था ने दो विधियाँ अपनाई है–१. विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर ६ स्थानों पर एवं कालीखोह के मन्दिर में एवं अष्टभुजा के मन्दिर में १-१ दानपात्र रखे गए हैं। इन दान पात्रों में यात्रीगण स्वेच्छा से द्रव्य डालते हैं। इन दानपात्रों को एक सा दो माह बाद खोला जाता है। २. विशेष पर्वों पर जब यात्रियों की भीड़ रहती है। तब पुलिस नियन्त्रण कक्ष से संस्था को दान देने के लिए यात्रियों को प्रेरित करने वाली घोषणाएँ की जाती हैं। इस प्रकार की घोषणाओं से प्रेरित होकर यात्रीगण दान देकर रसीदें प्राप्त करते हैं। १९८४-८५ के वित्तीय वर्षों में इस संस्था को दान दिये जाने वाली राशि पर भारत सरकार के नियमानुसार आयकर की छूट थी। ८६ से उक्त छूट नहीं मिल सकी। संस्था ने मुण्डन करने वाले यात्रियों से २ रु० प्रतिबटु लेना भी आरम्भ किया। यद्यपि मुण्डन करने वाले यात्रियों को अनावश्यक याचकों से त्राण के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई। मुण्डन करने वाले यात्रियों को कोई सुविधा बिना दिए उनसे शुल्क लेने की परम्परा का औचित्य नहीं है।

मुण्डन कराने वालों से शुल्क वसूली के लिए संस्था के अधिकारी किसी पण्डा को नियुक्त कर देते है। वसूली की राशि का २०% वसूली करने वाले को पारिश्रामिक के रूप में दे दिया जाता है। इस प्रकार प्रति मुण्डन १.८० संस्था को प्राप्त होता है। संस्था के आय व्यय का अविच्छिन्न ब्यौरा अनुपलब्ध है। हमने संस्था के कर्मचारियों से आय-व्यय के ब्यौरे की जो जानकारी प्राप्त की है। उसे निम्नवत् प्रस्तुत किया जा रहा है।

दान पात्र

संस्था ने ८३-८४ से मन्दिरों पर दान पात्र स्थापित किया है। दिनाङ्क १४.९.८५ से ५.६.९० तक २४ बार उसे खोले जाने पर प्राप्त धन राशियों का विवरण हमें मिल पाया है। इसके अनुसार कुल रु० ३,३९,१६५.९५ प्राप्त हुआ था। प्रतिवर्ष प्राप्ति के विवरण को तालिका के रूप में देखा जा सकता है।

यह ब्यौरा परिषद के अव्यवस्थित रजिस्टर से किसी प्रकार प्राप्त किया गया था। अतः राशियों में अन्तर हो सकता है।

वर्ष	कितनी बार खोला गया	धनराशि
८५	२	३७४९१.९०
८६	२	३४६८०.५०
८७	५	५९२७९.००
८८	६	८५८८४.५५
८९	५	७२६४६.००
९०	४	४९१८४.००
	(५.६.९० तक)	

योग सितम्बर ८५ से मार्च ९० तक २४ ३,३९,१६५.२५

इस राशि के लेखा परीक्षा का ज्ञान नहीं हो सका।

पण्डा शुल्क

२६५ परिवार प्रमुखों को मुख्य परिचय पत्र प्राप्त हैं। इन सभी के लिए रू २०/- अर्धवार्षिक शुल्क देने का नियम है। यद्यपि इन परिवारों के वयस्क सदस्यों (१९८) को भी पण्डाई के लिए परिचय पत्र दिए गए हैं। किन्तु शुल्क परिवार प्रमुखों को ही देना होता है। १९८४ में १९५ परिवार प्रमुखों ने १९८५ में १६४ उसके बाद ८६ एवं ८७ में २ तथा ८८ से केवल १ (पण्डा क्र० ५) पण्डा परिवार प्रमुख ही संस्था को नियमित रूप से शुल्क देता है।

२० रु० का यह अर्ध वार्षिक शुल्क प्रत्येक नवरात्र के बाद देने का नियम हैं इस शुल्क से प्राप्त होने वाली राशि का १९९० तक का विवरण इसप्रकार है।

वर्ष	शुल्कदाता परिवार प्रमुखों की संख्या	शुल्क ब्यौरा	राशि योग
८४	१९५	३९००×२	७८००
८५	१६४	३२८०×२	६५६०
८६	२	४०×२	८०
८७	२	४०×२	८०

८८	१	२०×२	४०
८९	१	२०×१	४०
९०	१	२०	२०

८४–९० चैत्रनवरात्र तक शुल्क प्राप्ति रु० १४,६२०

३. पारीवालों द्वारा मन्दिर खर्च में सहयोग से प्राप्ति

वर्ष ८४–८५ तक कुछ पारीवालगण संस्था को १०० रु० की औसत सहायता राशि प्रतिदिन देते थे। बाद में कुछ पारीवालों ने यह राशि देना बन्द कर दिया। धीरे धीरे ५५ पारीवालों में से अधिकांश ने सहायता देना बन्द कर दिया। ८७ से केवल १ पारीवाल सहायता राशि देता है वह पारीवाल दो भाई है। उनमें केवल १ भाई (पण्डा क्र० ५) ही नियमित रूप से अपना भाग देता है। हमने पारीवालों से प्राप्त धनराशि के ब्यौरे की जानकारी परिषद् कार्यालय से प्राप्त करनी चाही किन्तु वह नहीं उपलब्ध हो पाई।

दान

पारीवालों की सहायता राशि की ही भाँति दानदाताओं से प्राप्त धनराशि एवं श्री विन्ध्यवासिनी को अर्पित आभूषणों एवं अन्य वस्तुओं का विवरण नहीं उपलब्ध हो सका है। अन्य स्रोतों से कुछ मूल्यवान् आभूषणों एवं स्वर्ण गोलकों का ज्ञान हो सकता है। पण्डा क्रमांक ४० के यात्री द्वारा लगभग ४००००/– मूल्य का स्वर्ण निर्मित रत्न जटित किरीट, पण्डा क्रमां० ५ के यात्री द्वारा लगभग १५ ग्राम सोने के नेत्र एवं लगभग १५ ग्रा० सोने का गोलक ९० के चैत्र नवरात्र में एक यात्री द्वारा ३.५ तोले सोने का हार कुछ चाँदी के मुकुट आदि वस्तुएँ एवं लगभग १५ पंखे एक जनरेटर आदि वस्तुएँ दान में परिषद् को प्राप्त हुई थी। आभूषणों को राजकोशागार में रखा जाता है। पंखे जनेरेटर आदि का उपयोग मन्दिर पर यात्रियों की सुविधा के लिए किया जाता है। इस प्रकार के मूल्यवान् दानों की परम्परा अब भी है।

मुण्डन शुल्क

मार्च ९० तक मुण्डन की रसीद संख्या १ से ३१०० द्वारा २०% पारिश्रमिक देने के पश्चात् ५५८० रु० की प्राप्ति संस्था को हुई। आय से प्राप्त राशि विन्ध्यवासिनी कोष विन्ध्यविकास परिषद के खातें में स्टेट बैंक में जमा की जाती है। संस्था की आय के अधूरे

विवरण २. संस्था की अनुत्तरदायित्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि का निदर्शन। यदि संस्था अपनी कार्यप्रणाली को व्यवस्थित कर सकती तो उसे जनधन का अधिक लाभ संभव हो सकता था। संस्था के पदाधिकारी सरकारी क्षेत्र के उच्च पदासीन व्यक्ति हैं। किन्तु धार्मिक सांस्कृतिक कार्यों में रुचि एवं ज्ञानहीनता के कारण संस्था की आर्थिक गतिविधि भी प्रभावित हो रही है।

संस्था का व्यय

संस्था के व्यय को ६ मुख्य मदों में बाँटा जा सकता है। ये मद इसप्रकार है १. वेतन। २. मन्दिर के पूजन पर होने वाला व्यय। ३. मन्दिर के टूटे फूटे फर्श आदि की मरम्मत या मन्दिर संरक्षण। ४. मन्दिर के लिए नवरात्र के पर्वों पर प्रकाश की अस्थाई व्यवस्था। ५. प्रचार पत्रिकाओं का प्रकाशन। ६. मिश्र व्यय इसके अन्तर्गत मन्दिर की सफाई सामग्री पर व्यय, जनेरेटर के ईंधन का व्यय सरकारी अधिकारियों के सत्कार पर होने वाला व्यय, विन्ध्याचल के होली गायन समारोह एवं नवरात्र की पूर्व संध्या पर होने वाला व्यय, यात्राव्यय आदि सम्मिलित हैं। सभी व्यय जिलाधिकारी मीरजापुर या अधिकृत अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित चेक द्वारा किया जाता है। प्राप्त विवरणों के अनुसार १९८७ से मार्च ९० तक इस संस्था ने रु० २, ६५, ६८५.१० का व्यय इन मदों में किया है। प्राप्त सूचनानुसार प्रत्येक मद पर होने वाले व्यय विवरण को एक दृष्टि में निम्न तालिका द्वारा जाना जा सकता है।

विन्ध्य विकास परिषद् व्यय मद

वर्ष	वेतन	मन्दिरव्यय (पूजा)	मन्दिर संरक्षण	प्रकाश व्यवस्था	प्रकाशन	मिश्र
८७	७६८०.६०	३२५२३.००	७०००.००	११०७५.००	–	२५१३.६०
८८	१२३६१.००	२९८६७.८०	५९५३.००	४८३९३.५०	३०००	१५४८६.००
८९	१०१७३.८०	१५२२६.२०	५०००.००	६१५२.०० ९५२१	–	९९४५.००
९०	१४८३६.८०	६६२९.८०	–	८२४७.००	४०००	–
योग	४५,०५२.२०	८४२४६.८०	१७,९५३.००	७७,२३६.५०	१३१५२.००	२७,९४४.६०

कुल योग २,६५,६८५.१०

विन्ध्य विकास परिषद्

आय मद

वर्ष	दानपात्र			दान रसीद	शुल्क पण्डा	पारीवाल मुण्डन
८४	–	–		७८००	–	–
८५	३७४९१.९०	–	६५६०	–	–	
८६	३४६८०.५०	–	८०	–	–	
८७	५९२७९.००	–	८०	–	–	
८८	८५८४.५५		–	४०	–	–
८९	७२,६४६.००	–	४०	–	–	
९०	४९,१८४		–	२०	–	५५८०
योग–	३,३९,१६५.९५		१४,६२०.००५,५८०.००			

कुलयोग– ३,५९३६५.९५ (५.६.९० तक की प्राप्ति)

विन्ध्य पण्डा समाज के आय के २ मुख्य स्रोत हैं १. पण्डों द्वारा प्राप्त शुल्क एवं २. पारीवालों द्वारा प्राप्त विन्ध्यवासिनी कोश के लिए सहयोग राशि।

मन्दिर से परम्परया सम्बद्ध क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था

विन्ध्याचल शक्ति पीठ में आने वाले दर्शनार्थी गंगा स्नान करते हैं। अतः विन्ध्याचल के घाटों पर बैठने वाले घाटिया गण भी उनके द्वारा इस पीठ में वितरित होने वाले धन से लाभान्वित होते हैं।

विन्ध्याचल क्षेत्र के उत्तरी भाग में मुख्यतः स्नान घाट यात्रियों के स्नान के लिए बने है। इन्हें पूर्व से पश्चिम क्रम से क्रमशः १. दीवान घाट २. कच्चा घाट ३. पक्का घाट (देवी कुण्ड) ४. गुदारा घाट ५. भैरो घाट कहा जाता है। इन घाटों में आय की दृष्टि से पक्काघाट एवं कच्चाघाट भैराघाट एवं दीवान घाट क्रमशः निम्नतर माने जाते हैं।

पक्का घाट विन्ध्यवासिनी मन्दिर से सीधे जुड़ा हुआ है। कच्चा घाट इसका निकटवर्ती हैं इन घाटों पर क्रमशः २ एवं ३ पण्डे बैठते हैं। इनमें कच्चा घाट के १ एवं पक्का घाट के २ पण्डों की जीविका पूर्णरूप से यात्रियों के दान पर निर्भर है कच्चा घाट के २ पण्डे अन्य व्यवसाय भी करते हैं।

विन्ध्याचल में कुल ११ महाब्राह्मण (घाटिया) परिवार रहते हैं। इनमें से ७ अन्य घाटों से स्नानार्थी यात्रियों से दान प्राप्त करते हैं। पर्वों पर विन्ध्याचल के नागरिक भी इन घाटों के महाब्राह्मणों को दान देते हैं। किसी भी मृत्यु होने पर ये लोग ही अन्येष्टि क्रियाओं का सम्पादन करते हैं एवं दान लेते हैं। सम्पूर्ण विन्ध्याचल इन्हीं महाब्राह्मणों की यजमानी कही जाती है।

किन्तु इनकी जीविका का प्रमुख साधन घाटों पर यात्रियों द्वारा होने वाली दैनिक आमदनी ही है। इस आमदनी से इनके परिवारों की जीविका भली भाँति नहीं चल पाती इन लोगों में से कुछ के पास थोड़ी खेती योग्य भूमियाँ हैं। कुछ प्रसाद आदि की दूकानें करते हैं। इनमें से एक या दो परिवारों के अतिरिक्त अन्य परिवारों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। इनमें से कोई भी अपनी वृत्ति से सन्तुष्ट नहीं है। गर्मी के दिनों में गंगा विन्ध्याचल के घाटो से दूर हो जाती है। तब घाटों की दैनिक आय भी कम हो जाती है। घाटों से प्राप्त होने वाले दैनिक आय का औसत रु० १२ प्रतिदिन प्रति परिवार है। रामगया घाट पर मुख्यतः एक परिवार का आधिपत्य है विन्ध्याचल के कुछ परिवारों की पारियाँ भी वहाँ हैं।

महाब्राह्मणों से वार्ता करने से ज्ञात हुआ कि उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कई जिलों के यात्री रामगया घाट पर नियमित रूप से श्राद्ध करने के लिए आते हैं। पितृ पक्ष (अश्विन कृष्णपक्ष) से अतिरिक्त दिनों में भी श्राद्ध करने वाले यात्री एवं अस्थि विसर्जन करने वाले यात्री आते हैं। इसप्रकार के यात्रियों से ५० से १००० तक की राशि एवं ५ से १०० कि० ग्रा० तक अन्न की प्राप्ति हो जाती है।

भैरो कुण्ड एवं सीता कुण्ड के मठाधीश

भैरव कुण्ड अष्टभुजा मन्दिर के मार्ग का निकटवर्ती होने से वहाँ के मठाधीश को विन्ध्याचल आने वाले यात्रियों से लाभ प्राप्त होता है। यहाँ के मठाधीश परम्परागत रूप से निवास करते हैं। मठाधीश का यह परिवार गृहस्थ की भाँति रहता है एवं तन्त्र साधना में रुचि रखने वाले यात्रियों को प्रभावित करके अपनी जीविका अर्जित करता है। सीता

कुण्ड का मठाधीश त्रिकोण यात्रा करने वाले यात्रियों से एवं मीरजापुर, विन्ध्याचल तथा विरोही आदि ग्रामों के नागरिकों से दान प्राप्त करता है। इसके मठाधीश भी गृहस्थ हैं। इन दोनों मठों के महन्थों के परिवारों का अधिक विस्तार न होने के कारण इनकी जीविका यात्रियों के दानों से चलती है।

मन्दिर से परम्परया सम्बद्ध व्यावसायिक

माला एवं फूलों के व्यवसायी

माली – विन्ध्याचल में मालियों का १४ परिवार है। इन १४ परिवारों में ३८७ सदस्य हैं। इन सभी की जीविका का साधन माला का व्यवसाय है। इन मालियों के अपने बागीचे हैं। इनमें ये लोग विभिन्न प्रकार के फूलों एवं तुलसी के पौधों की खेती करते हैं। इन फूलों से माला तैयार करके विन्ध्याचल में दूकानदारों को बेचते हैं। इन मालियों की स्वयं की पूजन सामग्री की दूकानें भी हैं। ५ परिवारों की दूकानें केवल माला फूल की हैं। ये पाँचों दूकानें मन्दिर की सीढ़ियों पर हैं। मन्दिर की सीढ़ियों पर ये माली लोग परम्परागत रूप से किराया देकर दूकानें करते हैं। शेष की दूकानें भी मन्दिर के आस पास हैं। विन्ध्याचल के सभी प्रसाद की दूकानों पर ये लोग मालाओं की आपूर्ति का प्रमुख भाग पूरा करते हैं। इन सभी माली परिवारों की जीविका पूर्ण रूप से फूल के व्यवसाय एवं प्रसाद की दूकानों पर आधारित है। इनमें से कुछ खेती की भूमियों के भी स्वामी है।

कुर्मी – एक कुर्मी परिवार पूर्ण रूप से माला एवं प्रसाद के व्यवसाय पर आश्रित है। इस परिवार के सभी वयस्क सदस्य मालाओं का निर्माण, अपने बाग के फूलों से करते हैं तथा अपनी दूकानों के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर अन्य दूकानों के लिए भी आपूर्ति करते हैं।

केवट – विन्ध्याचल के कुछ केवट परिवार भी परम्परागत रूप से माला व्यवसाय से जीविका प्राप्त करते हैं। ये लोग मन्दिर के आस-पास प्रसाद की दूकानें भी करते हैं।

इनमें से अधिकांश मंगल एवं पूर्णिमा को आनेवाले यात्रियों को बिना दाम लिए माला दिया करते हैं तथा वर्ष में एक बार उनके घर जाकर अन्न इकट्ठा करके लाया करते हैं। क्योंकि ये सभी मालाएँ अपने बगीचे के फूलों से बनाते है। अतः बिना दाम लिए वार्षिक रूप से अन्न की कीमत में सप्ताह में या मास में एक दिन मालाएँ देने में इन्हें कोई कठिनाई नहीं होती है। ८० के दशक से अन्न के मूल्य पर माला देने की प्रथा कम होने लगी हैं। अब इसप्रकार के केवल ५ विक्रेताओं का विवरण प्राप्त होता है। इसप्रकार

के 'माला के बदले अन्न' की परम्परा द्वारा वर्ष में ३ से १० कुन्तल तक अन्न एक परिवार प्राप्त कर लेता है।

नवरात्र के दिनों में एवं अन्य भीड़ के दिनों में माला की आपूर्ति विन्ध्याचल के माला व्यवसायी नहीं कर पाते। अतः इसकी आपूर्ति के लिए मालियों एवं केवटों के कुछ युवक वाराणसी से छोटी बड़ी मालाएँ लाकर कुछ मुनाफे के साथ विन्ध्याचल में बेचते हैं।

विन्ध्याचल के माला की बिक्री का प्रभाव बनारस के माला बेचने वालों पर पड़ता है। वे सभी विन्ध्याचल के किस दिन मालाओं की कितनी खपत होगी। इसके आधार पर वे अपनी मालाएँ तैयार करते हैं।

सामान्य दिनों में मालाओं का भाव विन्ध्याचल में रू० १५ से ३० तक प्रति सैकड़ा छोटी माला, (भाव फूलों की गुणवत्ता पर आधारित होता है) तथा ५० से २०० तक प्रति सैकड़ा बड़ी माला का थोक भाव होता है। नवरात्र या भीड़ के दिनों में छोटी माला का भाव ५० से ८० रु० प्रति सैकड़ा तक एवं रु० ४०० से ६०० तक प्रति सैकड़ा बड़ी माला का भाव होता है। गुलाब, नेकरी चमेली, जूही आदि सुगान्धित एवं गुड़हल आदि कोमल फूलों की सभी मालाएँ विन्ध्याचल में ही बनती हैं। इन मालाओं को बनाने वाले लोग फूलों की कमी होने पर मीरजापुर के मालियों से फूलों का क्रय कर लेते हैं। खरीदे गए फूलों से सुन्दर मालाएँ बना कर बेचते हैं।

विन्ध्यवासिनी देवी का 'फूलों का शृंगार' कराने वाले यात्रियों के लिए फूलों के आभूषणों का निर्माण का कार्य मात्र ५ माली एवं कुर्मी परिवार परम्परागत रूप से एवं कुशलता पूर्वक करते हैं। ये सभी इस कला में पारंगत हैं।

प्रसाद व्यवसायी

विन्ध्य क्षेत्र का प्रमुख व्यवसाय प्रसाद की सामग्री का निर्माण एवं विक्रय है। मान विन्ध्यवासिनी मन्दिर के आस-पास ही ५२५ दूकानें नवरात्र पर्व पर एवं ४३८ अन्य दिनों में देखी जा सकतीं है। इस व्यवसाय से जुड़ा अर्थतन्त्र भारत के कई प्रान्तों को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए नारियल की आपूर्ति काजीपेट (उड़ीसा) एवं केरल से, चुनरी के लिए वस्त्र आपूर्ति सूरत (गुजरात) एवं मुम्बई (महाराष्ट्र) सिन्दूर की आपूर्ति कोलकाता (बंगाल) हवन सामग्री एवं औषधीय द्रव्य की आपूर्ति उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं बिहार

के कई स्थानों से होती है। यह व्यवसाय कई करोड़ रुपए वार्षिक का विनिमय कराता है। इस व्यवसाय से विन्ध्याचल निवासियों के अतिरिक्त अन्य समीपवर्ती प्रान्तों एवं जिलों के आव्रजित व्यक्तियों की जीविका का साधन है तथा अत्यन्त कम लागत एवं परिश्रम से आरम्भ हो जाता है।

प्रसाद के अतिरिक्त उपभोक्ता वस्तुओं की मात्र ३० दूकानें देखी गईं है।

यात्री आवास का व्यवसाय

१९वीं शती एवं स्वतन्त्रता के पूर्व २०वीं शती तक विन्ध्यक्षेत्र में यह व्यवसाय का रूप नहीं ले सका था। राजाओं एवं जमीदारों ने विन्ध्यक्षेत्र में अनेक उपवन एवं यात्री आवास बनाया था जिसमें यात्रीगण बिना शुल्क रहते एवं धार्मिक कृत्य करते। तीर्थ पुरोहितों (पण्डों) के आवास भी यात्रियों को बिना किसी आवासीय शुल्क के उपलब्ध रहते अधिकांश यात्री तीर्थ पुरोहितों के मकानों में रहते हैं।

किन्तु ५० के दशक से यात्री आवास एक व्यवसाय के रूप में विकसित होने लगा। ९० के दशक में इस व्यवसाय में वृद्धि हुई है। अनेक होटल, धर्मशालाएँ निर्मित हुए। अनेक पण्डों ने भी अपने मकानों को यात्री निवास के रूप में परिवर्तित कर दिया। यात्रियों की बढ़ती संख्या से इस व्यवसाय के विकास की सम्भावनाएँ अधिक है।

यात्री परिवहन

१९८३ से विन्ध्यक्षेत्र का त्रिकोण परिसर यातायात की दृष्टि से अधिक सुविधा सम्पन्न हो गया है। अतः त्रिकोण के इन मुख्य केन्द्रों के दर्शन के लिए यात्रीगण वाहनों का प्रयोग करने लगे हैं। अतः यात्री परिवहन के छोटे वाहनों प्रयोग आजकल अधिक संख्या में हो रहा है। इस व्यवसाय से मुख्यतः विन्ध्याचल के दलित वर्ग के एवं कन्तित के मुस्लिम समुदाय के लोग जुड़े हैं। कुछ अन्यवर्ग के व्यक्ति भी परिवहन व्यवसाय में रुचि लेने लगे हैं।

कुछ पारम्परिक एवं छोटे व्यवसायी

मुसहर – यात्रियों के भोजन, प्रसाद विक्रय के लिए पत्तलों एवं दोनों (पत्ते से बने कटोरों) का निर्माण एवं विक्रय परम्परागतरूप से विन्ध्याचल का मुसहर समाज करता

है। इसके अतिरिक्त यात्रियों एवं विन्ध्याचल के निवासियों को आवश्यकतानुसार ईंधन की लकड़ियों की भी आपूर्ति यह वर्ग करता है।

इसी प्रकार सभी मिष्टान्न भण्डारों को पत्ते एवं 'दोने' की आपूर्ति मुसहरवर्ग करता है। क्षेत्रीय व्यक्तियों के विवाह आदि अतिरिक्त अवसर हैं जब मुसहर वर्ग के पत्तों के बर्तनों का विक्रय होता है। इस प्रमुख जीविका के अतिरिक्त वनौषधि संग्रह एवं विक्रय भी इस वर्ग का आनुषंगिक व्यवसाय है।

कुलाल

विन्ध्याचल आने वाले अनेक यात्री विशेषत: बनारस एवं मीरजापुर के आस पास के क्षेत्र के व्यक्ति काली खोह अष्टभुजा के पहाड़ी क्षेत्र में सैर-सपाटा करते हैं, भोजन आदि बनाते हैं। जंगलों में झरनों के पास भोजन बनाने खाने के लिए मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते हैं। ये बर्तन विन्ध्याचल एवं शिवपुर में मिलते हैं। विन्ध्याचल एवं शिवपुर के १४ कुलाल मिट्टी की हडिया सकोरे कुल्हड़ों का निर्माण करके उसकी आपूर्ति दूकानों पर करते हैं।

इन कुलालों का कथन है कि चैत्र नवरात्र एवं वर्षा ऋतु में हाँडियों की बिक्री अच्छी होती है। शेष दिनों में कुल्हड़ों एवं सकोरों की बिक्री अधिक होती है। इन बर्तनों के अतिरिक्त ये लोग स्थानीय मेलों में मिट्टी के खिलौने दीपावली को लक्ष्मीगणेश की मूर्तियाँ बेचते हैं। विन्ध्याचल के आसपास के छप्पर के मकानों के लिए मिट्टी के पक्के छप्पर भी तैयार करते हैं। गर्मी के दिनों में विन्ध्यवासिनी के स्नान के लिए प्रतिदिन ४ मिट्टी के घड़ों की आपूर्ति एक कुम्हार पारम्परिक रूप से करता है। यद्यपि इसके लिए कोई निश्चित कुम्हार ही आपूर्ति कर्ता नहीं होता। परन्तु क्योंकि सभी कुम्हार घड़े नहीं बनाते है एवं अधिकांश मन्दिर से कुछ दूर हैं। अत: मन्दिर के निकटवर्ती कुम्हार से ये घड़े खरीदे जाते हैं।

बिसार्ती विक्रेता

विन्ध्याचल के ४२ विसार्ती वस्तुओं (खिलौने एवं प्रसाधन सामग्री) के विक्रेता यात्रियों के द्वारा विन्ध्याचल में होने वाले धन वितरण का लाभ पाते हैं। ये लोग चूड़ियाँ प्रसाधन सामग्री **देवीजी** के चित्र आदि वस्तुओं के विक्रय का व्यवसाय करते हैं।

देवी जी के चित्र का व्यवसाय दो पण्डों ने आरम्भ किया था। उसके पूर्व देवी जी का चित्रांकन किसी यात्री या अन्य को पण्डे करने नहीं देते थे। उनकी मान्यता थी कि देवी जी के चित्रों को बाजार में बेचने से देवी जी के चित्र का अपमान होगा। ७० के दशक में एक पण्डा ने चित्रांक बनाना आरम्भ किया बाद में एक अन्य पण्डा ने यह व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार विन्ध्यवासिनी देवी के चित्रों के दो विक्रेता विन्ध्याचल की दूकानों में चित्रों की थोक आपूर्ति करते हैं। अन्य विसार्ती सामग्री में विक्रेता वाराणसी एवं दिल्ली के बाजारों से लाते हैं। विन्ध्याचल के विसार्ती विक्रेता अपने व्यवसाय से पूर्ण सन्तुष्ट हैं।

विन्ध्याचल में ७ दूकानें चीनी मिट्टी के बने हुए बर्तन, सजावट की सामग्री का विक्रय करती हैं। मूलतः इन दूकानों के मालिक पत्थर के बने हुए जाँता, सिलबट्टा, ओखली, बर्तन, चकला आदि का निर्माण स्थानीय कारीगरों से करा कर बेचते थे। किन्तु गत वर्षों से मीरजापुर प्रशासन ने पत्थर की खदानों से सम्बद्ध नीतियों में परिवर्तन किया है। अतः अब इन दूकानदारों के पत्थर के सामानों का निर्माण कराने एवं बेचने के लाइसेंस समाप्त हो गए। शिल्पकार व्यवसायहीन हैं।

विन्ध्याचल में पत्थर का व्यवसाय बहुत महत्त्वपूर्ण पारम्परिक व्यवसाय था। यहाँ से पत्थर के सामान १९४० के पूर्व नावों द्वारा ढ़ाका तक जाते थे। क्रॉकरी के अन्य सामान चुनार (मीरजापुर) कानपुर एवं आगरा के बाजारों से आता है। इस व्यवसाय के सभी व्यापारी सन्तुष्ट हैं।

पुस्तक व्यवसाय

नवरात्रों में ८ प्रवाशक धार्मिक पुस्तकों की दूकानें विन्ध्याचल के किसी भाग में करते हैं। अन्य दिनों में ५ लोग आनुषङ्गिक रूप से धार्मिक पुस्तकों का व्यवसाय करता है। पूजा के बर्तन – स्थाई रूप से १ एवं नवरात्र में ७ दूकानें पूजा के बर्तन घंटा आदि का व्यवसाय करते हैं। ये व्यवसायी कसेरा जाति के होते हैं।

भोजनालय – आजकल विन्ध्याचल के पण्डों एवं अन्य नागरिकों ने भोजनालय विन्ध्याचल में स्थापित किए है। ये सभी केवल यात्रियों पर निर्भर करते हैं। इस व्यवसाय के सभी दूकानदार सन्तुष्ट हैं

मिष्टान्न व्यवसाय

विन्ध्याचल के पारम्परिक हलवाई परिवार एवं अन्य नागरिक इस व्यवसाय में हैं।

विन्ध्याचल में ब्राह्मणों को मिठाई खिलाने की धार्मिक कृत्य (मनौती) भी होती है।

शिवपुर ग्राम के ५ हलवाई पेड़े बहुत अच्छा बनाते हैं। सावन में आनेवाले खत्रियों एवं अग्रवाल यात्रियों में इस पेड़े की खपत अधिक होती है। उन दिनों शिवपुर के हलवाई अपने पेड़ों की गुणवत्ता बहुत अच्छी कर देते हैं। सावन के महीने में इनका पेड़ा विन्ध्याचल के बाहर भी भेजा जाता है।

विन्ध्याचल के हलवाइयों के दो प्रकार है। एक वर्ग के वल देहाती क्षेत्र के यात्रियों के लिए मिठाई बनाता है। ये मिठाइयाँ केवल चीनी की बनी होती हैं। दूसरे वर्ग के दूकानदार खोए एवं छेने की पारम्परिक मिठाई बनाते हैं। इन दूकानदारों को विन्ध्याचल के नागरिकों से भी लाभ होता है। इनमें कुछ शुद्ध घी का प्रयोग माध्यम के रूप में करते हैं।

विन्ध्याचल के एक हलवाई थे **चीथरसाहु**। इनकी दूकान सबसे कम साज सज्जा वाली है। किन्तु सबसे अधिक विश्वसनीय एवं प्रतिष्ठित मानी जाती है। विन्ध्यवासिनी देवी के लिए भोग की मिठाई केवल इसी दूकान से ली जाती है। नियमित रूप से आने वाले कुछ यात्री भी देवी जी को भोग लगवाने के लिए इसी दूकान से मिठाई तैयार कराते थे। इस दूकान को विन्ध्याचल के नागरिकों का भी लाभ मिलता है इस दूकान में खोए की मिठाइयाँ नाममात्र की होती हैं। अधिकतर मिठाइयाँ शुद्ध घी बेसन एवं मैदा की प्रधानता वाली होती हैं जिसे स्थानीय नागरिक अधिक पसन्द करते हैं। इस दूकान की एक विशेषता यह भी है कि २ या ३ प्रकार की ही सामग्री प्रतिदिन बनती है तथा मात्रा कम होती है जिससे उसी दिन बिक जाय। फलतः प्रतिदिन ताजा सामान मिलता है।

सभी शुद्ध घी के माध्यम का प्रयोग करने वाली दूकाने नवरात्रों में केवल फलाहारी सामान ही बनाती है जिससे नवरात्र व्रत करने वाले यात्रियों का लाभ भी उन्हें मिलता हैं। जीविका की दृष्टि से इस व्यवसाय के लोग सन्तुष्ट हैं।

नागरिक आपूर्ति

विन्ध्याचल में उपभोक्ता वस्तुओं के व्यवसाय को यहाँ उत्साह नहीं मिल पाता। क्योंकि यहाँ का प्रमुख व्यवसाय प्रसाद का है तथा वह उधार पर चलता है, मेले के

अतिरिक्त दिनों में पण्डों की आय कम होती है अतः उन्हें उधार सामान लेने की विवशता होती है। अतः विन्ध्याचल में केवल अत्यावश्यक वस्तुओं की आपूर्ति करने की ३० दूकानें हैं। इन दूकानों में दैनिक उपभोग की अत्यावश्यक सामग्री बिकती हैं।

विन्ध्याचल के आम पण्डों की वृत्ति दैनिक आय पर निर्भर होती है। अधिकांश पण्डों के घर मसाला, तेल, घी आदि वस्तुएँ प्रतिदिन खरीदी जाती हैं। रोचक तथ्य है कि किराना व्यवसायी जितना अच्छा देशी घी बेचता है वह अन्य वस्तुओं के क्रय के लिए भी उतने अधिक स्थानीय ग्राहक आकर्षित कर पाता है। विन्ध्याचल के पण्डे एवं नागरिक दुग्ध एवं पदार्थों को पसन्द करते हैं। इन्हें दूध की आपूर्ति विन्ध्याचल के सीमावर्ती गाँवों के अहीर करते हैं।

नवम् अध्याय

विन्ध्यवासिनी के सेवक

पण्डा : अर्थ एवं स्वरूप (प्रथित अवधारणा)

पण्डा शब्द मूलतः स्वयं में अत्यधिक भ्रामक एवं अस्पष्ट शब्द है। मेदिनी कोशकार एवं हेमचन्द्र ने 'बुद्धि' एवं 'तत्त्वानुगा बुद्धि' अर्थ किया गया है। शब्द कल्पद्रुमकार इसका अर्थ (वेदोज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः) 'वेदाध्ययन से निर्मल एवं तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान करने वाली बुद्धि' करते हैं। व्याकरण की सिद्धान्त कौमुदी में 'पण्डित' शब्द की साधनिका में (सदसद्विवेकिनी बुद्धर्या सा पण्डा) सत् असत् का विवेक करने वाली बुद्धि को पण्डा कहा गया है। शब्द कल्पद्रुमकार ने इस शब्द को व्यवहारार्थक पण् धातु में औणादिक ड (उणा० १/११३) एवं टाप् प्रत्यय लगने से निष्पन्न माना है।

किन्तु बुद्ध्यर्थक स्त्रीलिंगवाची इस शब्द से तीर्थ-पौरोहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं समझ में आता। तीर्थों के धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में पुरोहित का कार्य करने वालों को पण्डा शब्द से क्यों एवं कैसे अभिहित किया जाने लगा इस विषय में कोई साक्ष्य नहीं उपलब्ध होते हैं। यदि इस शब्द को शुद्ध रूप से हिन्दी शब्द माना जाए तब पण्डित शब्द का बिगड़ा रूप माना जा सकता है। पण्डित > पण्डिय > पण्ड्या > पण्डा शब्द बना है। सम्भवतः इसी कारण 'पण्डा' शब्द उपनाम के रूप में गुजरात एवं उड़ीसा के ब्राह्मणों में प्रयुक्त होता है। पौरोहित्य या पुरोहित वर्ग एक अपरिहार्य सामाजिक आवश्यकता के कारण विश्व की सभी जातियों जनजातियों में उत्पन्न हुआ था। यद्यपि इस वर्ग का महत्त्व सामाजिक कम धार्मिक अधिक स्वीकार किया जाता है। हर्बर्ट कहते हैं कि पुरोहित का व्यक्तित्व जो कि देवता एवं मनुष्य के बीच विचौलिए का कार्य करता है तथा दोनों में सकारात्मक सम्बन्ध को सुस्थिर रखता है, वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना वह कार्य जिसे वह सम्पादित कराता है। किन्तु धार्मिक कर्मकाण्ड एवं पुरोहित को पृथक् करना असम्भव है क्योंकि कृत्य केवल पुरोहित द्वारा ही सम्पादित कराया जा सकता है। तभी

वह विधिसम्मत होगा तथा विधिसम्मत होने के कारण ही सफल होगा। (देखें Illustrated Encyclopeadia of Mankind Vol 19, Preist)।

पुरोहित शब्द प्राचीन है। ऋग्वेद में इस शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। अमरकोशकार इसका अर्थ शान्त्यादि कर्ता बताते है। शब्दरत्नावली में पुरोहित को धर्मकर्मादि कर्ता कहा गया है। ऋग्वेद १/१/१ में अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त पुरोहित शब्द का अर्थ स्कंद स्वामी इसप्रकार करते हैं –'जो शान्तिपुष्टि कर्मों के द्वारा राजाओं को आपत्ति से बचाता है उसे पुरोहित कहा जाता है। आपत्तियों को ध्वस्त करने वाले को पुरोहित कहते हैं।' (शान्तिपौष्टिकैः कर्मभिः राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित उच्यते। ऋ० १/१/१ पर स्कन्दभाष्य) शब्दकल्पद्रुमकार इस शब्द का दो निर्वचन देते है– १. दृष्ट या अदृष्ट फलवाले कर्मों में जिसको आरोपित किया जाता हो। २. जिसके कारण आदि में ही मंगल की प्राप्ति हो। (पुरादृष्टादृष्टफलेषु कर्मसु धीयते आरोप्यते यः। यद्वा पुरो आदावेव हितं मंगलं यस्मात्।) अवेस्ता ३/१९ में कहा गया है कि पुरोहित अपनी प्रार्थनाओं से राजा की विजय एवं सुरक्षा सुनिश्चित करता है। वह अन्नोत्पादन के लिए वर्षा करता है। ऐतरेय ब्राह्मण ८/२४ में विधान किया गया है कि याज्ञिक कार्यों के सम्पादन के लिए राजा को एक पुरोहित अवश्य रखना चाहिए अन्यथा देवता उसकी हवि स्वीकार नहीं करेंगे।

पुरोहित के इन प्राचीन भारतीय व्याख्याओं से भी उसकी सामाजिक आवश्यकता की पुष्टि होती है। पौरोहित्य कर्म के विषय में यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य सदा से अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति समर्पित रहा है तथा इन दायित्वों की पूर्ति में आने वाली उलझनों को सुलझाता हुआ विकास के मार्ग को प्रशस्त करता रहा है। किन्तु उसे अपने जीवन के संघर्षों से जूझने के लिए अनेक अवसरों पर पारलौकिक शक्तियों के साहाय्य का सार्वभौम अनुभव भी होता रहा है। विश्व की सभी जातियों के सभ्यता के अध्ययन कर्ताओं ने यह अनुभव किया है कि मनुष्य में यह विश्वास सदा से रहा है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ विशेष प्रकार के लाभ प्राप्त किया जा सकता है। अतः वह विश्व नियन्ता शक्तियों के प्रति प्रपत्ति के माध्यम से संपर्क बनाने की चेष्टा करता था। किन्तु उसकी जीवन शैली के अभिन्न अंग धर्म एवं धार्मिक चमत्कारों में दक्षता पाने की सामूहिक चेष्टा करने का अवकाश नहीं था। किन्तु पराजगत् के साथ संपर्क के अभिलाष ने उपदेशकों, सृष्टि के रहस्यों के व्याख्याताओं, यातुकर्म विदों, धर्मकर्म सम्पादकों को विकसित किया होगा। पराभौतिक जगत् से सम्पर्क के माध्यम के अभिलाष ने ही पुरोहित वर्ग को जन्म दिया होगा। आज भी विश्व की सभी विकसित, अविकसित, विकासशील जातियों ने अपने-अपने स्तर से पुरोहितवर्ग को महत्त्व दे रखा है।

यह एक लोकप्रिय मान्यता है कि भाग्य की सत्ता होती है तथा वह अकाट्य है। किन्तु कुछ लोग भाग्य के परिणामों को सुनिश्चित करने के विशेषज्ञ के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। इस मान्यता की भी व्यापक परम्परा रही है कि इस प्रकार के लोग अपने ही समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् एवं आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न होते हैं। भारतीय परम्परा में इसप्रकार के लोगों को ज्योतिषी, तान्त्रिक पुरोहित आदि नाम दिए गए हैं। न केवल अदृश्य जगत् से ही वरन् भौतिक जगत् की प्राकृतिक सम्पदाओं के विषय में पुरोहितों को अन्यों की अपेक्षा अधिक ज्ञान होता है। वे अपने इस ज्ञान एवं उसके प्रयोग के माध्यम से लोक में अपनी प्रभुता को बनाए रखते हैं। नीग्रो, आराकानी, एस्किमों एवं कुछ भारतीय जातियों के पुरोहितों विशेषतः ओझा प्रकार के पुरोहितों को वनस्पतियों के औषधीय गुणों, मौसम के परिवर्तन, पशुओं की आदतों उनके व्यवहार के लक्षणों आदि का सम्यक् ज्ञान होता था। भारत के राजपुरोहितों की विद्वत्ता के अनेकों उदाहरण है जिनमें अर्थशास्त्र के रचयिता कौटल्य, महाभाष्यकार पतञ्जलि, हरिषेण, एवं वीरमित्रोदय के रचयिता मित्रमिश्र जैसे नाम शीर्ष पर गिने जाते हैं।

प्राचीन काल में इनकी महत्ता कुछ वर्गों में इतनी अधिक थी कि उनके लिए पुरोहित एक अनिवार्य आवश्यकता समझे जाते थे। मध्य अमेरिकी जनजातियों एवं एस्किमों लोगों में यह विश्वास था कि बिना पुरोहित या यातुविद्याविद् की सहायता के उनका अच्छा भाग्य दुर्भाग्य में परिवर्तित हो सकता है। वे अपनी सम्पूर्ण असफलताओं या दुर्भाग्य में देवताओं का क्रोध एवं प्रेतबाधा को को कारण मानते थे।

पुरोहित के वंशानुगत होने के प्रमाण वैदिक साहित्य में नहीं प्राप्त होते। केवल कुरुश्रवण के पुत्र द्वारा पिता के काल के पुरोहित को ही नियुक्त करने की चर्चा ऋग्वेद १०/३३ में है। अतः पिता के काल के योग्य पुरोहित को पुत्र नियुक्त कर लेता था यह अवश्य स्पष्ट है। भारत की कूकी जाति एवं मेडागास्कर की गाल्ला जाति में पुरोहित विशेष वर्ग के रूप में स्वीकृत नहीं है। कोई भी व्यक्ति पुरोहित बन सकता है।

वैदिक भारत में एक ही पुरोहित कई राजाओं का पौरोहित्य करता था। शतपथ ब्राह्मण (२/४/४/५) में उल्लिखित है कि देवभाग श्रौतर्ष कुरुओं एवं सृञ्जयों के पुरोहित थे। इसी प्रकार जातूकर्ण्य काशी, विदेह एवं कोसल के राजाओं के पुरोहित थे (शांखायन श्रौत सूत्र १६/२९/५)। अतः यह हो सकता है कि यदि कोई पुरोहित अत्यधिक योग्य हो तो श्रद्धा एवं विश्वास के कारण वह कुल विप्र भी बन सकता था। अनेक राजाओं का पुरोहित भी बन सकता था।

वैदिक भारत में राज कार्य के लिए पुरोहित की अपरिहार्य आवश्यकता थी। बिना

पुरोहित के यदि कोई राजा देवयाग आदि करता है तो उसे देवता स्वीकार नहीं करते अतः कम से कम याजक राजा को पुरोहित अवश्य ही रखना था। यही भाव ऐतरेय ब्राह्मण ८/२५ के इस वाक्य का है– **न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति तस्माद् राजा ब्राह्मणं पुरो दधीत।**

सभी प्रकार के देवताओं या अतिप्राकृत शक्तियों के साथ सभी मनुष्यो का एक ही प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। कुछ उग्र देवता एवं प्रेत आदि शक्तियों पर भी विश्वास किया जाता है जो घांतक भी होते हैं। भारतीय तान्त्रिक परम्परा में अनेक देवी-देवताओं, यक्ष यक्षिणियों का विवरण प्राप्त होता है, जो साधना में त्रुटि होने पर साधक का विनाश कर देती है। पुरोहित उन देवताओं में उचित देवता एवं मन्त्र का चुनाव शिष्य की योग्यता की परख करके करता है। वही यह निर्धारित करता कि लोग किस देवता के प्रति कब एवं कैसे अपनी पूजा अर्पित करें जिससे उनका कल्याण ही हो अनिष्ट न हों पूजा द्रव्य समर्पण की विधि का निर्धारण भी पुरोहित ही करता है।

विन्ध्याचल में पण्डावृत्ति

पण्डाई-वृत्ति के अनेक रूप होते हैं। धर्म की विशालधाराओं से सीधे जुड़े हुए तीर्थों के पण्डों को तीर्थों के पौराणिक महत्त्व के साथ साथ पण्डों को भी पौराणिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए गया के पण्डों को ब्रह्मा द्वारा गया क्षेत्र के धार्मिक कार्यों को सम्पादित करने के लिए उत्पन्न बताया जाता है[१]। जो तीर्थ पौराणिक विवरणों में नहीं उपलब्ध है उनके पण्डे भी स्वयं को ईश्वरीय आज्ञा पर आया हुआ बताते हैं[२]। वस्तुतः जलप्रधान तीर्थों का ऐतिह्य बहुत प्राचीन है। उनका धार्मिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार का महत्त्व रहा है। मानव सभ्यताएँ नदियों के किनारों पर उत्पन्न हुई एवं पूर्णता को प्राप्त हुई। अतः धार्मिक उत्सव यात्राएँ जलप्रधान तीर्थों में विशाल पैमाने पर सदा से होता आया है फलतः जलप्रधान एवं श्राद्ध प्रधान तीर्थों में दान लेने के लिए प्राचीन काल से ही पुरोहितों का वृत्तिक संघटन रहा है। किन्तु जो तीर्थ देव प्रधान हैं उनमें पौरोहित्य वर्ग का विकास अपेक्षाकृत परवर्ती हो सकता है तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण उसमें समयानुकूल परिवर्तन भी हो सकता है।

पण्डाई वृत्ति का स्थाई होना यात्रियों की नियमित आवक पर निर्भर है। कालिदास के समय से शिव एवं विष्णु की पूजा ने धार्मिक क्षेत्र में उच्च स्थान ले लिया था। अतः

---

१. विशेष देखें गया : विद्यार्थी : द्वि० सं० १९७१ ई०
२. वि० देखें तारकेश्वर : चक्रवर्ती : १९८४

उस काल में ही देवतीर्थों के प्रति यात्रियों का आकर्षण बढ़ना आरम्भ हो चुका था एवं देव तीर्थों में भी पुरोहित वर्ग का व्यवस्थित विकास होना आरम्भ होना स्वाभाविक ही था।

विन्ध्याचल में विभिन्न कामनाओं से आने वाले यात्रियों के विवरण बृहत्कथा (१ली २सरी शती ई०पू०) पर आधारित कथासरित् सागर, कल्हण की राजतरंगिणी, गडडवहो आदि में प्राप्त होते है जन सामान्य ही नहीं अपितु राजाओं महाराजाओं की यात्राओं के विवरण भी प्राप्त है। विन्ध्याचल की जनश्रुति एवं १८वीं शती के काशी की राजनैतिक परिस्थितियों के अनुसार विन्ध्याचल के वर्तमान पण्डा समुदाय के विकसित होने का स्वरूप कुछ इसप्रकार का था–

मुगलों के आक्रमण के बाद विन्ध्याचल में मुसलमानों के साईं सम्प्रदाय के लोगों ने विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर अधिकार कर रखा था। एक ब्राह्मण आसपास की बस्ती में देवी का चरणोदक देकर अपनी जीविका चलाता था। मन्दिर की व्यवस्था अस्त व्यस्त थी। भगवती का पूजन करने वाला कोई उचित पात्र नहीं था। चरणामृत बाँटने वाला वह ब्राह्मण भगवती का उपासक था। उसे देवी ने स्वप्न में दर्शन दिए एवं आदेश दिया कि मन्दिर की व्यवस्था एवं पूजा के लिए कोई उचित ब्राह्मण लाओ। ब्राह्मण ने देवी से पूछा कि किसे लाऊँ? देवी ने कहा गोरखपुर जिले के 'सरुआर' गाँव में 'पन्नू बाबा' नाम का एक भक्त ब्राह्मण रहता है उसे बुला लाओ वही इस शक्तिपीठ की व्यवस्था करेगा। ब्राह्मण ने फिर पूछा कि हे देवी! मैं 'पन्नू बाबा' को कैसे पहचानूँगा? देवी ने कहा उस गाँव में जिस व्यक्ति के घर में निराधार वस्त्र सूखता हुई दिखाई दे उसे पन्नू बाबा का घर समझना। वह ब्राह्मण सरुआर गया पन्नू बाबा से मिला। पन्नू बाबा अपने बड़े भाई की आज्ञा लेकर विन्ध्याचल आए। यहाँ उन्होंने देवी जी से साक्षात् दर्शन किया देवी ने कहा कि काशिराज की सहायता लेकर मन्दिर से विधर्मियों को हटाओ। उन्होंने काशिराज से सहायता ली एवं विन्ध्याचल से विधर्मियों (साइयों) को हटाया एवं अपने ज्ञातिबन्धुओं को विन्ध्याचल बुलाकर बसाया। इन परिवारों ने बारी बारी से मन्दिर की व्यवस्था करना आरम्भ कर दिया।

ये आरम्भिक ब्राह्मण परिवार 'पाण्डेय' कुल के थे। इन लोगों ने मन्दिर पर अधिकार करने के पश्चात् आपस में एक समझौता किया जिसके अनुसार प्रत्येक परिवार का प्रमुख एक दिन मन्दिर में यात्रियों को प्रसाद आदि देने के लिए एवं मन्दिर की सफाई सुरक्षा आदि व्यवस्था आदि को सुनिश्चित करने के लिए मन्दिर में रहता था। शेष परिवार के व्यक्ति आने वाले यात्रियों से पण्डाई वृत्ति का सम्बन्ध बनाते थे। उन्हें दर्शन कराने के

लिए मार्ग दर्शक एवं संरक्षक के रूप में मंदिर ले जाया करते थे। यात्रियों की चढ़ोत्तरी का कुछ भाग उस दिन के मन्दिर व्यवस्थापक को उसके परिश्रम के लिए देते थे। इसीप्रकार सभी परिवार एक-एक दिन मन्दिर में व्यवस्था को समर्पित करने लगे शेष लोग पण्डाई करते थे।

मन्दिर की व्यवस्था में भगवती के आरती पूजा के लिए निश्चित एवं प्रशिक्षित ब्राह्मणों की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अतः उन्हीं परिवारों में से २ परिवारों के प्रमुखों को भगवती के २-२ शृंगार करने की व्यवस्था की गई। एक परिवार प्रमुख बड़ी आरती करता था। दूसरा छोटी आरती एवं मध्याह्न की आरती करता था। श्री विग्रह की क्रम बद्धरीति से आरती पूजा करने के लिए यह आवश्यक समझा गया था कि निश्चित व्यक्ति ही इस दायित्व का निर्वाह करे।

ऐसा बताया जाता है कि पाण्डेय परिवारों के विन्ध्याचल में स्थिर हो जाने के बाद इनका विन्ध्याचल के बाहर ब्राह्मण परिवारों से रक्त सम्बन्ध होने लगे एवं परिवारों की बृद्धि होने लगी। उसी काल में एक जमींदार परिवार का रक्त सम्बन्ध देवरिया जिले के 'पकरी' गाँव के मिश्र परिवार में हुआ था। उस जमींदार परिवार ने वंश के अभाव में नवासे को दत्तक के रूप में विन्ध्याचल बुला लिया। कालान्तर में पकरी के कुछ अन्य मिश्र परिवार भी वृत्ति की खोज में अपने विन्ध्याचलीय सम्बन्धी से सलाह कर के विन्ध्याचल में आव्रजित हो गए। इसी प्रकार कुछ अन्य ब्राह्मण परिवार भी विन्ध्याचल में आकर बसे। इन परिवारों का रक्त सम्बन्ध विन्ध्याचल के पण्डों में होने के कारण इन लोगों को जीविका के लिए सम्बन्धियों द्वारा कुछ 'यजमानी' मिली मकान बनाने के लिए भूमि भी दी गई। उस काल में विन्ध्याचल की भूमि पर किसी का प्रभावी शासन नहीं था यद्यपि वह काशी राज्य का अंग थी। १७५८ ई० के बाद से ब्रिटिश शासन के अधिकार क्षेत्र में आ चुकी थी। बस्ती अविकसित थी जो जितनी भूमि में बसना चाहता था बस सकता था। खेती कर सकता था। ये आव्रजित ब्राह्मण जमींदारों के यजमानों को दर्शन कराने के लिए मन्दिर में ले जाने का कार्य करके भी अपनी जीविका प्राप्त करते थे। इन आव्रजित ब्राह्मण परिवारों की संख्या सम्भवतः ६० थी। इस कारण आज भी इन्हें 'साठ के पण्डा' या छप्परबन्द पण्डा कहा जाता है।

पारीवाल एवं यजमानदार

अब पण्डाई वृत्ति में दो वर्ग बनने लगा था। एकवर्ग पाण्डेय परिवारों का था जो मन्दिर के अधिकारी थे एव यजमानी भी किया करते थे। दूसरा वर्ग छप्परबन्दों का था

जिनको मन्दिर में व्यवस्थापक के रूप में बैठने का अधिकार नहीं था किन्तु यजमानों की व्यवस्था करने दर्शन कराने एवं दक्षिणा प्राप्त करने का अधिकार था।

छप्परबन्दों में कुछ जमींदारों या पारीवालों के दत्तक बन चुके थे ऐसे परिवारों को मन्दिर में पारीवाल बनने का अधिकार भी प्राप्त हो गया था। किन्तु उन्हीं के अन्य ज्ञाति बन्धु केवल यजमानी वृत्ति तक ही सीमित थे। कुछ समय पश्चात् छप्परबन्दों एवं जमीदारों तथा कन्तितग्राम के द्विवेदी कुल के लोगों में आपस में रक्त सम्बन्ध हुए। अनेक लोग दत्तक के रूप में अनेक परिवारों में गए। इस प्रकार सभी ब्राह्मण परिवार सामाजिक दृष्टि से समान स्तर पर हो गए थे; किन्तु वृत्तिक दृष्टि से असमानता थी। जिन लोगों को मन्दिर में पारी का अधिकार प्राप्त था वे यजमानी वृत्ति करते थे। जिन व्यक्तियों को यजमानी वृत्ति का अधिकार था। वे पारी का अधिकार नहीं पा सके थे। इस प्रकार दो वृत्तिक वर्ग बने प्रथम पारीवाल एवं यजमानदार दूसरा केवल यजमानदार।

सम्भवतः इस काल में दोनों वर्गों में वृत्तिक अस्मिता सुनिश्चित करने की चेतना जागृत हुई। 'मन्दिर व्यवस्था एवं आमदनी का अधिकार या 'पारी' एवं 'शृंगार करने का अधिकार' एक स्थाई जायदाद समझी जाने लगी थी। 'पारी' के अधिकार को आधार बना कर पारीवाल वर्ग स्वयं को केवल यजमानी करने वाले छप्परबन्दों से ऊँचा मानता था। गैर पारीवाल छप्परबन्द केवल यजमानदारी के कारण स्वयं की अस्मिता सुनिश्चित करने के लिए अधिक वृत्तिक पहुँच बनाने लगे थे। मन्दिर के अन्य धार्मिक स्थलों जैसे विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर स्थित महाकाली-मन्दिर, महासरस्वती मन्दिर एवं कालीखोह की महाकाली के मन्दिर एवं अष्टभुजा के मन्दिर में अपने पुजारी या पारीवाल होने के वशाधिकारों को स्थापित किया। यद्यपि उक्त स्थलों पर भी जमींदारों ने ही एकाधिकार कर रखा था। काली खोह एवं अष्टभुजा मन्दिर वनप्रदेश में स्थित होने के कारण अधिक नियमित यात्रियों को आकर्षित नहीं क़रता था। अतः उन मन्दिरों से विशेष अर्थ लाभ न होने से जमींदार परिवार उन धार्मिक स्थलों पर छप्परबन्दों के वंशाधिकार स्थापित होने के प्रति उदासीन ही रहे।

जुन्नी – यजमानी वृत्ति में अधिसंख्यों के बढ़ते प्रभाव ने जुन्नीप्रथा को जन्म दिया। इस प्रथा का तात्पर्य यह था कि सभी पण्डे (पारीवाल एवं गैर पारीवाल) 'अच्छे यात्रियों' को लाने के लिए यात्रियों के आने वाले मार्गों पर दूर तक जाते थे। जो धनाढ्य परिवार थे, उन्होंने इसके लिए नौकर भी रखना आरम्भ कर दिया था। 'जुन्नी' की प्रथा में प्रतियोगिता बढ़ी एवं लोग विन्ध्याचल के बाहर यहाँ तक कि यात्रियों के घरों तक जा कर भी उन्हें अपना यजमान बनाने का प्रयत्न करने लगे।

पारीवाल एवं यजमानदार का बंटवारा –

बताया गया है कि आरम्भ में पण्डा-पारीवाल एक ही थे। अतः यजमानदारों एवं पारीवालों के बंटवारे के विषय में कोई संघर्ष नहीं था। किन्तु गैर पारीवाल पण्डों के वृत्ति में आ जाने के पश्चात् पारीवाल एवं यजमानदार वर्ग में अनेक प्रकार के विवाद आरम्भ हो गए। पारीवाल गण मन्दिर के बँटवारे के सम्बन्ध में मन्दिर अधिकारी होने के अभिमान में अनेक प्रकार के नियम बनाने लगे थे जिनके आधार पर यजमानदार पण्डों को मन्दिर की चढ़ोत्तरी का कम से कम भाग प्राप्त होता था। १८७५ से १८८५ के बीच पारीवाल एवं यजमानदार के मध्य बँटवारे के झगड़े ने भीषण रूप ले लिया था। अन्ततः यजमानदारों को अधिक भाग इन दोनों वर्गों ने एक इकरारनामा मीरजापुर अदालत में पंजीकृत कराया जिसके अनुसार पारीवाल वर्ग को मन्दिर की चढ़ोत्तरी का १/८ भाग एवं यजमानदार पण्डा को ७/८ भाग पाने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस इकरारनामें का हवाला कबीर दत्त बनाम गायत्री प्रसाद, मुकदमा सं० ३९६, १८८ ई० के बादद के ७ सितम्बर १८८५ ई० को दिए गए फैसले में इस शब्दों में दिया गया है–

'पारीवाल वर्ग और यजमानदार वर्ग में सदा में लड़ाई होती रही और अन्त में ये लोग एक इकरारनामें पर राजी हुए जिसके मुताबिक मन्दिर के चढ़ावे में से पारीवाल वर्ग के लिए १/८ भाग एवं जमानदार वर्ग को ७/८ भाग पाने का हक मिला। उक्त इकरारनामा लिपिबद्ध हुआ और रजिस्ट्री कराया गया।'

भाट एवं गोंसाई व अन्य

विन्ध्याचल नगर में कुछ भाट एवं गोसाई भी रहा करते थे। गोसाइयों का शिवमन्दिरों पर वृत्तिक अधिकार था। भाट लोग जमीदारों एवं छप्परबन्दों के पास नौकरी किया करते थे। जमीदारों एवं छप्परबन्दों की वृत्तिक अस्मिता की होड़ ने इन लोगों को भी विन्ध्यवासिनी मन्दिर का व्यावहारिक रूप से पण्डा बना दिया। दोनों वर्गों के लोगों ने अपने लिए यजमानों की जुन्नी करने के लिए एवं उन्हें दर्शन कराने के लिए इन लोगों का उपयोग करना आरम्भ किया। इसी प्रकार मीरजापुर के निकटवर्ती जिलों से आए हुए ब्राह्मणों को भी पुराने पण्डों ने अपनी नौकार के रूप में रखकर उनसे पण्डाई पेशा कराने लगे थे।

पारीवालगण भी भाटोंको अपनी-अपनी पारियों में सहायक के रूप में मन्दिर के भीतर अपने साथ बिठाया करते थे। फलतः कब किसकी पारी होगी किस पारी में किस व्यक्ति का कितना भाग होगा इसका हिसाब भी भाट-लोग रखने लगे। आज एक भाट ही प्रतिदिन के परिवाल को सूचित करता है कि आज किसकी पारी मन्दिर में है।

वृत्तिक वैषम्य का विस्तार

पारीवालों का मन्दिर के भीतर बनाए जाने वाले नियम सामूहिक रूप से पण्डे नहीं तोड़ सकते थे। इसके दो कारण प्रतीत होते है–१. मनोवैज्ञानिक रूप से सभी गैर पारीवाल पण्डे पारीवालों का अपेक्षाकृत अधिक अधिकार मानते थे। कुछ छप्परबन्द भी पारियाँ खरीद कर अथवा विवाह में दहेज के रूप में पारी पाकर पारीवाल बन चुके थे। २. पारियों की ठेकेदारी की प्रथा आरम्भ हो गई थी। कुछ पारियाँ पण्डों ने विन्ध्याचल के बाहर के व्यक्तियों, को बेच दी थी। वे लोग मन्दिर में 'पारी' के दिन स्वयं बैठकर उसका लाभ नहीं ले सकते थे। अतः ठेका दे दिया करते थे। पारियों का ठेका खुली निविदा पद्धति से होती थी। अधिक बोली बोलने वाला 'पारी' लेता था। पारीवाल को 'बोले गए' धन को देकर उस दिन की पारी स्वयं लेता था। यह ठेकेदारी कोई भी पण्डा कर सकता था। उक्त दोनों परिस्थितियों में पारीवालों द्वारा बनाए गए नियमों का लाभ अपनी पारी या ठेकेदारी के दिन सभी पण्डा लिया करते थे। अतः उन नियमों को एक सामान्य परम्परा माना लिया गाया था।

यद्यपि पारीवाल मूलतः १६ थे किन्तु उनकी पारिवारिक शाखा बढ़ी अनेक प्रकार के बँटवारे हुए पारियों की खरीद एवं बिक्री हुई जिसके कारण १९५३ ई० में कुल ४८ पारीवाल हो गए थे। किन्तु इन ४८ पारीवालों में ३ के अतिरिक्त अन्य नगण्य से थे। क्योंकि शेष ४५ लोगों में पारियों के बिक जाने एवं बँट जाने के कारण किसी की महीने में एक बार किसी की २ महीने किसी की ४ महीने किसी की ७ महीने किसी कसी की १३ महीनों बाद पारी आती है। उक्त ३ लोगों में से एक ने कई लोगों की पारियाँ खरीदी थी बन्धक रख ली थीं अतः उनके पास अधिक पारियाँ थी। शेष दो के पास आरम्भ से ही प्रत्येक आठवें दिन मन्दिर में पारी थी। अतः इन लोगों के पास महीने में ४ एवं कभी कभी अधिक 'पारी' भी आती है। अतः जब भी पारीवाल शब्द का प्रयोग होता है तब जिन लोगों की पारी महीने में कई बार आती है उन्हीं का बोध होना चाहिए।

१९५३ ई० अर्थात् 'पण्डा समाज' संस्था के जन्म के पूर्व पण्डों एवं पारीवालों के मध्य बंटवारे की स्थिति इस प्रकार थी–

१. पण्डा को जो भी भाग मिलना था वह तभी मिल सकता था जब वह गर्भगृह के कटहरे के अन्दर प्रवेश से पूर्व ही पारीवाल से यह ऊँचे स्वर में बोल दे कि 'मै कहवा दे रहा हूँ'। तात्पर्य यह कि पण्डा पारीवाल को यजमान के दर्शन करने से पूर्व ही यह जता दे कि वह साथ आए हुए यजमान का वास्तविक पण्डा है। यदि किसी कारण पण्डा ऐसा नहीं कर पाता था तो उसके यात्री द्वारा चढ़ाया हुआ सारा पैसा पारीवाल ले लेता था।

२. मन्दिर के प्रवेश द्वार के पूर्व ही यदि पण्डा अपने यात्री की चढ़ोत्तरी का भाग या सम्पूर्ण द्रव्य, आभूषण आदि स्वयं ले लेता था। भले ही पारीवाल या उसका आदमी स्वयं यह कृत्य देख भी रहा हो। तब भी यदि यात्री अपने मुख से मन्दिर में यह न बताए कि उसने अपने पण्डा को कुछ दिया है तो पारीवाल उस द्रव्य में से कोई भी भाग नहीं प्राप्त कर पाता था। यद्यपि उन द्रव्यों आभूषण या वस्त्र को पण्डा शृंगारिया के माध्यम से देवी जी को अर्पित करते थे, तथा चढ़ाए जाने के बाद पण्डा ही उसके स्वामी होते थे। किन्तु यदि यात्री ने यह बता दिया कि मैने अमुक वस्तु या अमुक राशि पण्डा को देवी माता को चढ़ाने के लिए दिया है तब सम्पूर्ण राशि या वस्तु पर पारीवाल का अधिकार हो जाता था।

३. यदि कोई यात्री पूजन कर रहा होता था तथा पण्डा उसे पूजा करा रहा होता था इसी बीच कोई दूसरा पण्डा उस यात्री पर अपना अधिकार जताता था यजमान भी यदि इस बात को स्वीकार कर लेता था कि जिस पण्डा के साथ वह दर्शन करने आया है वह उसका पुश्तैनी पण्डा नही है अपितु दूसरा पण्डा जो यह दावा कर रहा है वही उसका पण्डा है। तब इस परिस्थिति में यजमान द्वारा चढ़ाई हुई सम्पूर्ण धन राशि पारीवाल हड़प कर लेता था तथा दोनों में से किसी एक को भी कोई भाग नहीं देता था।

४. पौने सोलह आने तक की चढ़ोत्तरी में पण्डों को कोई भाग नहीं मिलता था। एक रुपए या अधिक होने पर 'कहवा देने' की स्थिति में बंटवारा निम्नवत् था–

एक रुपए या अधिक के चढ़ोत्तरी द्रव्य में ३ पैसा प्रति रुपया **'लाग लगत'** (इसका तात्पर्य संभवत: मन्दिर व्यवस्था शुल्क से था) के रुप में पारीवाल ले लेते थे। सवा पन्द्रह आने मे आधे आधे का बँटवारा होता था किन्तु व्यवहारत: पारीवालगण साढ़े सात आने प्रति रुपए पण्डा को देते थे तथा स्वयं ७ आने ३ पैसे प्रति रुपया लेते थे।

हिस्सा बोलने की प्रथा

यदि पण्डा को पहले से ज्ञात है कि मेरा यजमान २० रु० या अधिक की चढ़ोत्तरी चढ़ाएगा। तब वह पहले ही पारीवाल के पास पहुंच कर अपना भाग निर्धारित कराता था। इसकी प्रक्रिया मनोरंजक थी। उदाहरणार्थ– पण्डा पारीवाल से कहता था कि मैं अपने यात्री की चढ़ोत्तरी में २/३ भाग चाहता हूँ। मैं कितना द्रव्य यात्री द्वारा अर्पित कराऊँ तो आप २/३ मुझे देंगे। पारीवाल कहता था २५ रु० चढ़ेंगे तो मैं १/३ लूँगा तथा तुम्हें २/३ दूँगा। पण्डा अनुनय करता 'कुछ कम करो'। पारीवाल कहता अच्छा चलो २० रु० में भी १/३ भाग मान लूँगा। इसे **'दुसरे हिस्सा'** बोलना कहा जाता था। इसी प्रकार चढ़ोत्तरी की

रकम १००/- या अधिक होने पर **'चौथे हिस्सा'** बोला जाता था। अर्थात् १/४ भाग पारीवाल एवं ३/४ भाग पण्डा। किन्तु जब पण्डा 'चौथे हिस्सा' बोलने के लिए पारीवाल से कहता था तब पारीवाल रकम पूछता था यदि पण्डा ने कहा १००/- या २००/- तब पारीवाल १/४ भाग लेने की शर्त स्वीकार कर लेता था। किन्तु ८०/- या ७०/- रुपए की स्थिति में पारीवाल १/३ की ही माँग करते थे। १०००/- या ५००/- तक की रकम पर पारीवाल १/८ भाग लेना भी स्वीकार कर लेते थे। बशर्ते पण्डा ही रकम बताकर हिस्सा तय कर लें। अन्यथा पूर्ववत् सामान्य रीति का बंटवारा हो जाता था।

पण्डा पारीवाल का यात्री के दर्शन सम्बन्धी समझौता

सभी आरतियों के समय आरती करने से कुछ मिनट पूर्व फाटक खोल दिए जाते थे। यात्रीगण गर्भगृह में प्रवेश कर के खड़े हो जाते थे तथा आरती देखते थे। इसी समय प्रवेश करते ही पण्डा पारीवाल से ऊंचे स्वर में कहता था 'पहली रोक मेरी है' दूसरा कोई पण्डा 'दूसरी रोक मेरी है' बोलता था। इस प्रकार २ रोक बोली जाती थी। इसका तात्पर्य यह था कि आरती के बाद जब दर्शनार्थियों का प्रवेश पीतल के कटहरे में होना आरम्भ होगा तो सबसे पहले मेरे यात्री ही अन्दर प्रवेश करेंगे। उसके बाद 'दूसरी रोक' बोलने वाले पण्डा के यात्री प्रवेश करेंगे तत्पश्चात् गर्भगृह में इकट्ठे अन्य यात्रीगणों का प्रवेश होगा।

वस्तुतः गर्भ गृह के प्रकोष्ठ में पहले किसी प्रकार के पंक्ति आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी। अपितु फाटक खुलते ही प्रवेशद्वार के बाहर जमा हुए यात्रियों का झुण्ड एक साथ झोंके से प्रवेश करता था तथा अन्दर प्रकोष्ठ में पीतल के कटहरे के बाहर यात्रीगण बिखर कर खड़े हो जाते थे। अतः यदि बाहर कोई पण्डा अपने यात्री को सबसे आगे दरवाजे के पास फाटक खुलने की प्रतीक्षा करने के लिए बिठा चुका है तो आवश्यक नहीं था कि फाटक खुलने के बाद भी वह यात्री अंदर सबसे पहले ही प्रवेश कर जाए। क्योंकि बाहर जुटी भीड़ अहमहमिकया प्रवेश करती थी। अतः पण्डा पहुंचकर रोक बोल देते थे।

पण्डों की वृत्तिक मान्यताएँ

१. "यात्रिओं के आने मार्गों तथा साधनों पर व्यक्ति अथवा गुटों का अधिकार (१४/१/१९५३ ई० से) कदापि मान्य नहीं होगा क्योंकि इस प्रकार का अधिकारी मनुष्य अथवा गुट सद्व्यवहार पूर्वक यात्रियों का हित सम्पादन करने की प्रेरणा नहीं पा सकता प्रत्युत मार्गों तथा साधनों पर एकाधिकार के कारण यात्रियों की सुख सुविधा पर उचित ध्यान न देकर उनके ऊपर स्वाधिकार का भाव धारण कर सकता है"

२. "श्री विन्ध्यक्षेत्र में मठाधीशों का कोई वर्ग विशेष नहीं है प्रत्युत सभी तीर्थ पुरोहित (पण्डा) यात्रियों का क्रियात्मक संरक्षण करते हुए उनके सुख दुःख के उत्तरदायी है अतः उनके द्वारा प्रदत्त यत्किंचित के योग्य भागी हैं।"

३. "पण्डा वृत्ति यजमानों के निर्णयानुसार मान-वृत्ति होती है।" ये अंश संविधान निर्माता पं० लालचन्द पाण्डेय के स्वलिखित एवं सभी पण्डों द्वारा हस्ताक्षरित हस्तलेख से यथावत् उद्धृत हैं। 'मानवृत्ति' का तात्पर्य यह है कि यदि कोई यात्री किसी पण्डा को अपना पुराना पण्डा मानने से मना कर दे तो उस पण्डे का उस यात्री पर वृत्तिक अधिकार नहीं रह जाता।

वृत्तिक संघटन में व्यावहारिक रूप से लागू पारस्परिक अनुबन्ध

१. यात्रियों के विन्ध्याचल में आने के मार्गों या साधनों पर अथवा ठहरने या क्रय विक्रय स्थल यथा ट्रेन, बस धर्मशाला, बगीचा, दूकान आदि के सम्बन्ध से दर्शनार्थी यात्रियों पर किसी पण्डा या पण्डा गुट का एकाधिकार नहीं होता। कोई पण्डा इस प्रकार का अधिकार दर्शित नहीं कर सकता कि अमुक ट्रेन से आए सभी यात्री या अमुक धर्मशाला में ठहरे सभी यात्री हमारे हैं। वह यह अधिकार दर्शित नहीं कर सकता कि अमुक माला प्रसाद की दूकान मेरी है अतः इस दूकान पर आने वाले सारे यात्री मेरे ही होंगे।

यदि कोई व्यक्ति विन्ध्याचल के बाहर कहीं से ट्रेन बस आदि साधन से आ रहा हो तथा रास्ते में उससे किसी विन्ध्याचल आने वाले यात्री से परिचय हो जाए। तो यदि उस यात्री के पूर्वजों का यात्री विवरण उसके पास पहले से नहीं उल्लिखित है तो वह पण्डा उस यात्री पर अपना यजमान होने का दावा नहीं कर सकता क्योंकि यह मान लिया जाता है कि उसने रास्ते में ही यात्री को स्वयं को पण्डा मानने के लिए समझाया है। इस प्रकार के यात्री पण्डा समाज के नियमानुसार पण्डों के क्रमानुसार वितरित करने की व्यवस्था है।

२. विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के पूर्व किसी भी यात्री से मन्दिर पर स्थित अन्य देव मन्दिरों के पुजारी गण पण्डागण अथवा अन्य भिक्षुक कुछ नहीं माँग सकते।

३. प्रत्येक वयस्क पण्डा के पास उसका परिचय पत्र होता है। इसपर उसका नाम, योग्यता, वय, पता पण्डा क्रमांक एवं प्रमाणित छाया चित्र होता है। यह परिचय पत्र नंगर मैजिस्ट्रेट के द्वारा प्रमाणित होता है। इस परिचय पत्र को दो वर्गों में बाँटा गया है। १. गृहपति के परिचय पत्र पर जो संख्या रहती है वह समग्र परिवार को द्योतित करती है। जैसे– पण्डाक्रमाङ्क १ उस पण्डा के सभी पुत्रों एवं प्रपौत्रों के पण्डा होने को प्रमाणित

करता है। २. दूसरे वर्ग के परिचय पत्र उप परिचय पत्र कहे जाते हैं उपपरिचय पत्र की संख्या मूल पण्डा क्रमाङ्क एवं पुत्रक्रमाङ्क के अनुसार होती है। जैसे 'क' पण्डा का पण्डा क्रमांक ७२ है तथा उसे ४ वयस्क पुत्र है तो उसके पुत्रों को बय के अनुसार ७२/१,२,३,४ आदि क्रम से उप प० पत्र दिए जाते है इस प० पत्र की पूर्तियाँ भी मूल परिचय पत्र के समान ही होतीं है। परिचय पत्र धारी ही पण्डाई पेशे का अधिकारी होता है। नवरात्र के दिनों में जिला प्रशासन मेला-व्यवस्था की दृष्टि से कभी कभी परिचय पत्र माँगता भी है।

परिचय-पत्र विन्ध्यपण्डा समाज में आवेदन करने पर जारी किया जाता है। अब यह कार्य विन्ध्यपण्ड़ा समाज-विन्ध्य विकास-परिषद् के माध्यम से करता है। जिस पण्डा के पास परिचय पत्र नहीं होता उसे पण्डा समाज की व्यवस्थापिका समिति के चुनाव में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। जिला प्रशासन ने यात्रियों के आने वाले रास्तों में लगे सूचना पटां पर लिख रखा है कि C. M. द्वारा हस्ताक्षरित परिचय पत्रधारी पण्डा ही वैध व्यावसायिक पण्डा है।

३. व्यावसायिक दृष्टि से पण्डों ने विन्ध्याचल की दो सीमाएँ निर्धारित की हैं। १. पण्डा एवं यजमान की दृष्टि से –

उत्तर– गंगा जी का दक्षिणी तट गुदाराघाट से दीवान घाट तक (जहाँ गंगापार से छोटी लाइन के चील्ह स्टेशन से आने वाले यात्री नाव से आते थे। अब गंगा पर पुल बननं से वे यात्री सड़क मार्ग से पूर्वी सीमा से आते हैं)।

दक्षिण– रेलवे स्टेशन तक विन्ध्याचल से २० कदम उत्तर।

पश्चिम– निहुट महाबीर का मन्दिर का बस स्टैण्ड।

पूर्व– बरतर हनुमान मन्दिर का इक्का रिक्शा स्टैण्ड तथा आधुनिक बस स्टैण्ड।

२. पण्डा पारीवाल की दृष्टि से–

उत्तर– गंगा का दक्षिणी तट रामगया घाट से ओझला तक।

दक्षिण– उत्तर रेलवे लाईन का दक्षिणी किनारा मङ्गलागौरी से ओझला तक।

पूर्व– ओझला नदी का पुल।

पश्चिम– मंगला गौरी का मन्दिर।

इस सीमा में जिसदिन कोई यात्री प्रवेश करता है उसी दिन के पारीवाल उक्त यजमान की चढ़ोत्तरी के अधिकारी होते थे। चाहे उक्त यजमान किसी भी दिन पूजा करे।

यदि कोई यजमान उक्त सीमा के बाहर जा कर उसी दिनांक में पुनः वापस आ जाता है तो सीमोल्लंघन नहीं माना जाता था। (आजकल इस नियम में परिवर्तन हो गया है।)

४. यदि किसी पण्डा का विन्ध्याचल के बाहर सामाजिक संबन्ध हुआ हो तथा वह संबन्धी विन्ध्याचल आता है तो सामाजिक संबन्ध के आधार पर वह पण्डा उस यात्री पर वृत्तिक अधिकार नहीं जता सकता अपितु उस यात्री से दान लेने का अधिकार उसके पुश्तैनी-पण्डा या यात्री को प्रथम बार मिलने वाले पण्डा का होता है। अप्रैल ९० में एक यात्री वाराणसी से दर्शनार्थ आया उसका दामाद 'क' भी पण्डा है किन्तु उस यात्री के पुश्तैनी पण्डा 'ख' थे जिन्हें वह व्यक्तिगत रूप से भी जानता था। किन्तु 'क' का कथन था कि कथित यात्री से मेरा गहरा सम्बन्ध है अतः मैं ही इनका पण्डा हूँ किन्तु 'ख' को यह मंजूर नहीं था विवाद को सुलझाने के लिए दोनो एक सम्मानित पण्डा बच्चा बाबू के पांस गए वे उन दोनों प्रतिवादियों को साथ लेकर पण्डा समाज के संविधान निर्माता श्री लालचन्द पाण्डेय के पास व्यवस्था देने के लिए गए उन्होंने व्यवस्था दी कि वृत्तिक संबन्ध एवं पारिवारिक या सामाजिक सम्बन्ध दोनों पृथक वस्तुएँ है अतः दान पर 'क' का अधिकार नहीं है यदि 'ख' चाहें तो स्वेच्छा से 'क' को प्राप्त धन से कुछ दे सकते हैं। किन्तु दान एवं चढ़ोत्तरी पर 'ख' का ही अधिकार है इस व्यवस्था को 'क' ने माना।

५. किसी यात्री के जाति का लेख प्रस्तुत करने मात्र से कोई पण्डा उस यात्री का तीर्थ पुरोहित नहीं घोषित होता किन्तु वह स्वयं को पण्डा मानने का निवेदन कर सकते है। वि०प०स० (८/१०) के नियमानुसार वह यह कह सकता है कि 'मैने आपकी जाति के इतने लोगों का लिखा दिखाया यदि इससे सन्तुष्ट हों तो आप मुझे अपना पण्डा मान सकते है।' इसी प्रकार यदि कोई पण्डा किसी यात्री के गाँव या नगर का १५ से अधिक लोगों का लेख उपस्थित करता है तो वह यह कह सकता है कि आप के गाँव के लोगों का लेख दिखाया आप मुझे पण्डा मान सकते है आदि। किन्तु इस परिस्थिति में कोई पण्डा यह नहीं कह सकता कि मै आपकी जाति का या आपके गाँव भर का पण्डा हूँ।'

विन्ध्यवासिनी मन्दिर में पण्डा पारीवाल का व्यावसायिक समझौता ३ आयामों में है। १. विन्ध्यवासिनी को चढ़ाए हुए द्रव्य का बटवारा। इसके भी दो रूप है-(क) मुद्राधन का बटवारा (ख) वस्तु का बटवारा। २. विन्ध्यवासिनी मन्दिर क्षेत्र में होने वाले कुछ पवित्रकृत्यों से प्राप्त होने वाले धन का बटवारा। ३. मन्दिर क्षेत्र के अन्य उपमन्दिरों की चढ़ोत्तरी के बटवारे के विषय में बटवारा।

इस सम्बन्ध में प्रथम शर्त यह है। चढ़ावे की किसी राशि या वस्तु को कोई पक्ष छिपाने का यत्न नहीं करेगा। जो पक्ष किसी वस्तु या धन को यदि दोनों पक्षों को प्रकाशित

नहीं करता तो जिस पक्ष की ओर से यह गलती की जाएगी उसके विपरीत पक्ष को उस राशि या वस्तु का स्वामी घोषित कर दिया जाता है।

२. ६ पैसे तक का चढ़ावा पारीवाल का, ६ से ९९ पैसे तक पण्डा-पारी वाल आधा-आधा, १ रु० एवं अधिक की राशि के सम्पूर्ण योग का ३१.२५% पारीवाल एवं ६८.७५ पण्डा (पाँच आने पारीवाल एवं ग्यारह आने पण्डा) का भाग होता है।

३. किसी भी धातु से सुनिर्मित वस्तु यदि देवी जी के पूजा शृंगार या मन्दिर के किसी धार्मिक कृत्य अथवा सुविधा के लिए उपयोगी होती है तो वह वस्तु तोड़कर नहीं बाँटी जा सकती बल्कि वह देवी जी की सेवा में ही रहती है। पूजनार्थ प्रयोग के कारण टूटने पर जिस पारीवाल के पारी में वह चढ़ी होती है उसे उसका भाग यात्री के पण्डा द्वारा दिया जाता है।

यदि कोई यजमान बिना विन्ध्याचल आए अपने घर से ही कोई वस्तु देवी जी को चढ़ाने के लिए अपने पण्डा के पास किसी व्यक्ति से अथवा डाक द्वारा भेजता है तो उस वस्तु या धन में पारीवाल को कोई हिस्सा नहीं प्राप्त होता इस प्रकार के वस्तु या धन पर पूर्णरूप से पण्डा का ही अधिकार होता है।

विन्ध्यवासिनी मन्दिर क्षेत्र में स्थित अन्य उपमन्दिरों में चढ़ाए गए द्रव्य पर यात्री के पण्डा का अधिकार होता है। मन्दिर के पश्चिम भाग में परिक्रमा क्षेत्र में स्थित खर्परेश्वर 'महादेव के मन्दिर में गोसाईयों का एकाधिकार है। किन्तु वि० पं० स० नियम ७/१० के अनुसार १ रु० या अधिक की चढ़ोत्तरी होने पर ७५% पारीवाल का हक होगा।

विन्ध्य पण्डा समाज से विन्ध्यविकास परिषद (१९५३-८३)

पण्डों की प्रथम व्यावसायिक नियमन करने वाली संस्था यद्यपि सम्पूर्ण सामाजिक एवं व्यावसायिक सुधारों के लिए बनाई गई थी। किन्तु इसके जन्म के समय की परिस्थितियों के कारण यह संस्था अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली नहीं बन पायी। पण्डा समाज के नियम आमपण्डों एवं सबसे अधिक यात्रियों की सुविधा को ध्यान में रखकर बनाए गए थे।

जिस समाज के व्यावसायिक संघटन को सुव्यवस्थ्ति एवं उदात्त बनाने के लिए यह संस्था बनी उसी समाज के सभी प्रभावशाली व्यक्तियों के तर्कहीन परम्पराओं का विरोध इसे सद्व्यवस्था के लिए करना पड़ा था। आपसी समझौते से इस संस्था के बनने का प्रश्न ही नहीं था यदि ऐसा होता तो इसके पूर्व इस प्रकार की कोई सफल संस्था बन

चुकी होती। अत: विवश होकर इस संस्था के नियमों को लागू कराने के लिए जिला प्रशासन का ध्यान वि० प० स० के नियम-निर्माता श्रीलालचन्दपाण्डेय ने विन्ध्याचल की समस्याओं की ओर आकृष्ट किया था। प्रशासन के रुचि लेने पर ही वि० प० स० की नियमावली लागू हो पाई थी। अत: वि० प० स० की नियमावली में पण्डों के लिए व्यावसायिक नियन्त्रण की व्यवस्था तो है किन्तु संस्था के लिए कोश की समुचित व्यवस्था नहीं बनाई जा सकी थी। इस अपूर्णता को नियमावली के प्रस्तावना में व्यक्त भी किया गया है।

इस संस्था की दूसरी प्रधान कमी थी दण्ड के व्यवस्था का अभाव। विन्ध्याचल कस्बा नगर का भाग माना जाता है ग्राम पंचायतों की भाँति कोई स्वायत्त संस्था नहीं बनाई जा सकती थी। अत: विन्ध्य प० स० की नियमावली में न्यायाधिकरण नहीं जोड़ा जा सका। श्री पाण्डेय न्यायाधिकरण का निर्माण किया था किन्तु उसे उक्त कारण से नियमावली का भाग नहीं बना सके थे। उनका यह भी कथन है कि 'जिस संस्था के पास कोश एवं दण्ड की समुचित व्यवस्था न हो उस संस्था की व्यावहारिक सफलता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। यही कारण था कि मै जब कोष एवं दण्ड की समुचित व्यवस्था, कर पाने में असफल रहा तब वि० प० स० से व्यावहारिक रूप से पृथक् हो गया।'

तीसरी कमी थी पण्डों के लिए किसी आचार संहिता का अभाव। वि० प० स० के निर्माण काल में अब्राह्मण यहाँ तक कि गैर हिन्दू लोगों को भी प्रभावशाली पण्डे नौकर रख कर पण्डाई पेशे में लगाए हुए थे तथा यह क्रम १९२४ ई० से १९५३ ई० तक २९ वर्षों तक लगातार चलता ही रहा था। वि० प० स० ने ब्राह्मण, भट्ट एवं गोस्वामियों को छोड़ कर अन्य लोगों पर पण्डाई करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। किन्तु दुर्व्यवस्था काल में पण्डाई का स्वरूप छीना झपटी की नीति पर चला था। अत: भविष्य के लिए यह परमावश्यक था कि पण्डों के व्यक्तिगत गुणों को विकसित एवं व्यावहारिक बनाने के लिए एक आचार संहिता बनाई जाती। उसी आचार संहिता के आधार पर पण्डाई का अधिकार दिया जाता। इस प्रश्न पर नियम निर्माता का कथन है कि "परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि अब्राह्मणों के पण्डाई पर अंकुश लगाना भी कठिन था। क्योंकि वे सब लगभग ४० वर्षों से पण्डाई पेशा किया करते थे। हमें संस्था के पक्ष में उचित जनमत तैयार करना था। अत: पण्डाई के आचार संहिता की व्यवस्था हम नहीं कर पाए। यद्यपि यह एक बड़ी कमी है।"

इन कमियों से युक्त यह संस्था' ६८ ई० तक समुचित रीति से चलती रही। स्थानीय पण्डागण इसकी गतिविधियों से १९६४ ई० तक ही सन्तुष्ट बताए जाते हैं। इसी काल में एक नए प्रकार की दुर्व्यवस्था ने जन्म लिया। वह था निकास द्वारों से दर्शनार्थियों

का प्रवेश कराया जाना। पण्डा समाज में यात्रियों के लिए पंक्तिमार्ग की व्यवस्था की थी किन्तु कुछ पण्डों ने आरम्भ में पंक्ति तोड़कर बीच से यात्रियों को घुसाना आरम्भ किया। फिर दोनों प्रवेश द्वारों की रेलिंग से यात्रियों को लँधा कर प्रवेश कराने लगे। इसी कुछ प्रभावशाली पण्डों ने अपने यात्रियों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें निकासद्वार से प्रवेश कराना आरम्भ कर दिया। आरम्भ में 'पण्डा समाज' ने विकलांग, राजपत्रित-अधिकारी एवं संभ्रान्त व्यक्तियों को निकास द्वार से प्रवेश की अनुमति दी थी। किन्तु वे इस अनुमति के पश्च दुष्प्रभावों की कल्पना नहीं कर पाए थे। १२ सालों तक लगातार वि० प० स० के अध्यक्ष रहने वाले श्री अलबेले मिश्र का कथन है कि ''सम्भ्रान्त शब्द अत्यन्त भ्रामक था। क्योंकि सभी पण्डा 'अच्छी दक्षिणा' देने वाले यात्री को सभ्रान्त घोषित कर देते थे तथा निकास द्वार से प्रवेश चाहते थे।" एक पण्डा ने कहा कि 'होंगे बिरला, टाटा किसी के लिए सम्भ्रान्त। हमारे लिए तो सिरीपटी (वाराणसी जिले का एक गाँव) के चमार ही संभ्रान्त है। क्योंकि उन्हीं से मेरा पालन होता है'। पण्डासमाज के कुछ अधिकारियों ने इस पर अंकुश लगाने के विचार से निकासद्वार प्रवेश पत्र की व्यवस्था की थी। वे लोग २ रु० लेकर प्रवेशपत्र देते थे। उस प्रवेश पत्र को देख कर निकास द्वार पर ड्यूटी देने वाले पण्डा या पुलिस उसे प्रवेश देते थे। किन्तु इस व्यवस्था में दो दोष उत्पन्न हो गए थे- १. भीड़ के दिनों में हर कोई अपने यात्री के लिए प्रवेश पत्र की माँग करता जिससे निकासद्वार पर-प्रवेश करने वालों की भीड़ बढ़ने लगी। कभी कभी निकास द्वार से प्रवेश करने वाले यात्रियों की संख्या इतनी अधिक हो जाती थी कि प्रवेशद्वारों से आने वाले यात्री परिवारों को घण्टों दर्शन करने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। ऐसे में पण्डा विहीन दर्शनार्थी या ज़ो दर्शनार्थी अपने पण्डा के साथ झुण्डों चलते थे उन्हें अत्यधिक कष्ट एवं असुविधा होती थी। निकासद्वार के प्रवेशपत्र से प्राप्त धन को पण्डासमाज के अधिकारीगण संस्था के कोश में न जमा करके स्वयं ही हड़प कर जाया करते थे। संस्था के एक भूतपूर्व अध्यक्ष का कथन है कि कोश के विवरण में निकासद्वार प्रवेश पत्र से प्राप्त धन को जमा करने का कोई विवरण नहीं है।

इस समय 'पण्डा-समाज' यद्यपि शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथों में था। वे इस दुर्व्यवस्था पर अंकुश लगा सकते थे किन्तु नहीं लगा पाए। इसके कई कारण बताए जाते हैं। १. राज्याधिकारियों को निकासद्वार से प्रवेश कराने वाले का विरोधकरना वि० प० स० के अध्यक्ष के लिए घरेलू संघर्ष का कारण बन सकता था। २. आम पण्डागण शक्तिशालियों द्वारा निकास द्वार पर कब्जा किए जाने के विपरीत प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे किन्तु उसी प्रकार कार्य करने वाले अन्य पण्डा सदस्यों पर उनकी दृष्टि कम जाती थी। ऐसे विवरण भी पण्डों ने दिया है कि जो लोग दुर्व्यवस्था की इस नई परम्परा का

विरोध करते थे। उनमें बहुत कम ऐसे थे जो वस्तुतः सद्व्यवस्था के पक्ष में विरोध करते थे। अधिकांश ऐसे व्यक्ति थे जो स्वयं वहीं कार्य न कर पाने के कारण द्वेष-पूर्ण-प्रतिक्रिया करते थे।

१९८१ ई० में जिला प्रशासन में अच्छी प्राशासनिक सूझ बूझ वाले अधिकारियों ने पद संभाला। इनमें प्रशान्त कुमार मिश्र, जिलाधिकारी, उमाशंकर वाजपेयी, पुलिस अधीक्षक, एवं श्रवण कुमार उपाध्याय, नगर मजिस्ट्रेट उल्लेखनीय है। इन अधिकारियों ने विन्ध्याचल में यात्रियों की दर्शन सम्बन्धी असुविधाओं पर ध्यान दिया। विन्ध्याचल में पण्डों की सभाएँ आयोजित की तथा मन्दिर व्यवस्था को दूर करने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की। इन सभाओं में इन अधिकारियों के समक्ष प्रतिष्ठित पण्डों ने व्यवस्था सुधारने में प्रशासन का सहयोग करने का वचन दिया। पण्डों ने व्यवस्था को स्वरूप देने के लिए ८ व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किया। इनमें एक वि०पं०स० के विधान निर्माता भी थे। सभी प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से जिलाधिकारी के समक्ष व्यवस्था का प्रारूप बनाने के लिए श्री लालचन्द पाण्डेय को अधिकृत किया। उन्होंने एक प्रारूप दिया जिसकी प्रबन्धकारिणी समिति में निम्न १९ सदस्यों को पदांकित करने का अनुमोदन किया गया–

१. जिलाधिकारी मीरजापुर (पदेन) अध्यक्ष

२. पुलिस अधीक्षक मीरजापुर (पदेन) उपाध्यक्ष

३. नगर प्रशासक मीरजापुर (पदेन) सचिव

४. क्षेत्राधिकारी विन्ध्याचल (पदेन) पार्षद

५. तहसीलदार मीरजापुर (पदेन) पार्षद

६. थानाध्यक्ष विन्ध्याचल (पदेन) पार्षद

७. अधिशासी अधिकारी नगरपालिका (पदेन) पार्षद मीरजापुर

८-१२. श्री विन्ध्यपण्डा समाज के अध्यक्ष, मन्त्री, मन्दिर व्यवस्था प्रमुख (पदेन) तथा व्यवस्थापिका समिति के दो अन्य सदस्य पार्षद।

१३-१७. पण्डों की साधारण सभा द्वारा बहुमत के आधार पर चुने गए ५ पार्षद।

१८-१९. जिलाधिकारी द्वारा मनोनीत २ सम्मानित पार्षद इस प्रकार इस प्रबन्धकारिणी समिति में ७ राज्याधिकारी एवं १० पण्डा सदस्यों की व्यवस्था दी गई। इस नई अर्धसरकारी संस्था का नाम 'विन्ध्यविकास परिषद्' रखा गया। २४.६.१९८२ को इस प्रारूप को सभी पण्डों ने आत्मार्पित किया कर दिया। ३१.१.१९८२ को मीरजापुर नगर मैजिस्ट्रेट की अध्यक्षता में विन्ध्य पण्डा समाज की व्यवस्थापिका समिति एवं विन्ध्य विकास के ५ पण्डा सदस्यों का चुनाव हुआ एवं संस्था के माध्यम से मन्दिर व्यवस्था आरम्भ हुई। इसकी विशेषताएँ इस प्रकार थी–

१. जो पण्डाई पेशे में रुचि रखता है उसे परिचय पत्र प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया। परिचय पत्र को विन्ध्यपण्डा समाज के नियमानुसार नगर मैजिस्ट्रेट ने प्रमाणित करते हुए पुनर्नवीकृत किया।

२. निकासद्वार से किसी भी दर्शनार्थी का प्रवेश पूर्णत: निषिद्ध कर दिया गया। पुलिस अधीक्षक उमाशंकर वाजपेयी ने स्वयं मन्दिर पर घोषणा की थी कि यदि मेरे महानिरीक्षक भी आएँगे तो वह भी पंक्ति मार्ग से ही प्रवेश करेंगे।

३. देवी के शृंगार पूजन की सामग्री की अनिश्चितता को दूर करने के लिए मन्दिर का दैनिक व्यय संस्था ने अपने 'कोश' से करना आरम्भ कर दिया। व्ययभार वहन करने के लिए संस्था ने 'श्री विन्ध्यवासिनी कोश' बनाया।

४. पण्डों की सलाह पर मूर्ति की सुरक्षा के लिए एवं दर्शन करने में शीघ्रता लाने के लिए चरण स्पर्श की परम्परा बन्द कर दी गई। यात्री गण ५' दूर से दर्शन करके बाहर जाने लगे। झाँकी का आकार बड़ा बनाकर बाहर से दर्शन करने वालों के लिए सुकरता उत्पन्न की गई।

५. त्रिकोण यात्रा के मार्गों को पक्का कराया गया एवं यात्रिओं की सुविधा के लिए नए मार्ग भी बने।

किन्तु इस संस्था में भी कुछ दोष रह गए यथा– १. पण्डों के वृत्ति सम्बन्धी आपसी व्यवहार को व्यवस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया। २. पण्डाई पेशा के लिए किसी आचार संहिता के सम्बन्ध में विचार नहीं किया।

विन्ध्यवासिनी के सेवक नगाड़ा वाले

मन्दिर के पश्चिम में नवनिर्मित दुर्गा मन्दिर के बाईं ओर नगाड़े रखकर चमार जाति के लोग बजाया करते हैं।

ये लोग मूल रूप से ५ परिवारों से सम्बद्ध है। इन पाँचों परिवारों को इस बात का स्वाभिमान रहता है कि ये लोग मन्दिर पर पुश्तैनी रूप से नगाड़ा बजाने का कार्य करते हैं। आज भी इन परिवारों के युवक प्रौढ़ एवं वृद्ध प्रतिदिन सुबह मंगला आरती के समय मन्दिर पर पहुँच जाते हैं। मन्दिर पर महाकाली के पश्चिमी भाग में दो बड़े नगाड़े १९८२ ई० तक रखे थे। ये लोहे के बने नगाड़े लकड़ी के बने स्टैण्ड पर रखे जाते थे। नेपाल नरेश द्वारा महिष बलि होने पर इन नगाड़ों का चमड़ा बदला जाता था। इन पर इन्हीं नगाड़ा वाले चमारों का ही अधिकार है। अब ये नगाड़े उत्तरी पश्चिमी कोने पर रखे गए हैं। वहाँ भी इन नगाड़ों को बजाकर माँगने का अधिकार इन्हीं चमारों को है।

वे लोग स्वयं को मन्दिर का जमींदार मानते हैं। वैशाख सुदी प्रतिपदा को जमींदार कहे जाने वाले पाँचो परिवार के वयस्क सदस्य प्रतिवर्ष देवी की वार्षिक पूजा के अवसर पर लगभग १ घंटे तक एक विशेष धुन नगाड़े पर बजाया करते है। ७ जोड़े नगाड़ों की एक लय से बजने वाली यह धुन अत्यन्त उत्साहवर्धक, एवं मोहक होती है। इस धुन की तुलना राजस्थान के करौली में स्थित केला माता (ग्राजस्थान) के मन्दिर में देवी के आवेश के समय बजाए जाने वाले नगाड़े की धुन से की जा सकती है।

नगाड़ावालों की विशेष धार्मिक गतिविधि

यह वर्ग चैत्र नवरात्र आरम्भ होने के एक दिन पूर्व विशेष प्रकार का धार्मिक कृत्य सामूहिक रूप से करता हैं।

चैत्र नवरात्रारंभ के एकदिन पूर्व सभी जमीदार नगाड़े वालों के घर के वयस्क सदस्य नवरात्र में विन्ध्यवासिनी के दरबार में आने वाले देवी देवताओं के स्वागत के लिए विन्ध्याचल के पश्चिम सीमा पर स्वागत पूजा करते हैं। इसे **आगा रखना** कहते हैं। **आगा रखने** के धार्मिक कृत्य के लिए विशेष तैयार की जाती है। पूजा के लिए एक मिट्टी का घोड़ा, मुर्गी का अण्डा, नारियल माला फूल एवं धार की सामग्री (लौग, हल्दी, फूल, चावल, दूब) प्रयुक्त होती है। सामग्री लेकर नगाड़ा बजाते हुए ये लोग एक झुण्ड में निकलते हैं। मार्ग में आने वाले सभी चौराहों पर इनका वरिष्ठतम सदस्य एक छोटी पूजा करता है। बीच चौराहे पर ही अज्ञात देवताओं के लिए फूल आदि चढ़ाकर एक लोटे पानी में थोड़ी सी '**धार**' की सामग्री मिलाकर भूमि पर गिरा दी जाती है। इस प्रकार सभी चौराहों पर पूजा करते हुए सभी चमार विन्ध्याचल के पश्चिमी सीमा (प्रत्यंगिरा नाला) पर

पहुंच कर वहीं खेत में फूल जल चढ़ाकर मिट्टी का घोड़ा रखकर अंडे एवं नारियल की बलि देकर सभी आने वाले देवी देवताओं के लिए स्वागत वचन बोल कर वापस आते है। वापस आते समय कोई सदस्य पीछे मुड़कर नहीं देखता चौराहों पर पूजा करने के अतिरिक्त मार्ग से आने वाले अन्य देवी, ग्राम देवी का भी पूजन करते चलते हैं। यह परम्परा इन लोगों में बहुत प्राचीन बताई जाती है।

नगाड़े वालों का विन्ध्याचल में सामाजिक महत्त्व भी है। कस्बे में यदि किसी सूचना विशेष की मुनादी करानी हो तो नगाड़े वाले ही करते हैं। अन्य किसी जाति का व्यक्ति यदि मुनादी करता है तो इसे ये लोग अपने अधिकार पर आघात मान कर विरोध करते हैं।

विन्ध्यवासिनी के सेवक गोसाईं

वर्तमान पण्डों के पूर्व एवं मुगलों द्वारा विन्ध्याचल नगर एवं मन्दिर नष्ट किए जाने के पश्चात् विन्ध्याचल में 'साईं-गोसाईं-कनफटा' लोग विन्ध्यवासिनी के मन्दिर पर पुजारी थे ऐसा बताया जाता है। 'विन्ध्यमाहात्म्य' में विन्ध्याचल में शिव मन्दिरों की लम्बी सूची है। शिव मन्दिरों में गोसाईं का पारम्परिक अधिकार हुआ करता है।

किन्तु पूर्वकाल में जो गोसाई परिवार विन्ध्याचल में थे उनकी परम्परा आज किस रूप में है यह अस्पष्ट है। ३ मूल गोसाई परिवार की परम्परा सम्भवतः आज भी विन्ध्याचल में है। इन तीनों में एक मूल परिवार का सम्बन्ध प्रयाग के भारद्वाज आश्रम के निकट के गोसाइयों से है। शेष दो परिवारों की परम्परा शैव नागाओं के किसी सम्प्रदाय के साथ जुड़ी ही बताई जाती है।

१९५३ ई० में विन्ध्यपण्डा समाज के निर्माण के समय सभी गोसाई परिवारों के सदस्यों को विन्ध्यवासिनी की मन्दिर पर भी पण्डाई का अधिकार प्राप्त हो गया। शंकर जी के मन्दिरों एवं भैरव मन्दिर (थाने के पास) पर इनका अधिकार सिद्ध ही था।

दशम अध्याय

यात्री

किसी भी धार्मिक स्थल के महत्त्वख्यापन का मूल यात्री होते हैं। धार्मिक मान्यताओं का प्रकटीकरण यात्रीगण सामूहिक रूप से तीर्थों में ही करते हैं। यह आवश्यक नहीं है। कि किसी एक धार्मिक सम्प्रदाय से जुड़ा व्यक्ति अन्य धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध तीर्थ में उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक न जाता हो जिस प्रकार वह अपने सम्प्रदाय से सम्बद्ध तीर्थ में जाता है। दक्षिण भारत में यद्यपि शैवों एवं वैष्णवों की साम्प्रदायिक कट्टरता अधिक होने के कारण इस प्रकार का भेद धार्मिक यात्राओं में नहीं दिखाई देता है कि शैव वैष्णव मन्दिर में एवं वैष्णव शैव मन्दिर में नहीं जाता है। किन्तु उत्तर भारत में इस प्रकार की साम्प्रदायिक कट्टरता का अभाव है। समाज के सभी वर्गों के एवं सभी सम्प्रदायों के लोग एक दूसरे के धार्मिक स्थलों की यात्राएँ करते हैं।

भारत में यात्रियों का आकर्षण तीर्थों में क्यों होता है। उनकी यात्राओं का उद्देश्य क्या है? समाज के किस वर्ग के यात्री किस प्रकार के तीर्थों की यात्रा करने में रुचि रखते है। तीर्थों में देवता के अतिरिक्त पण्डों एवं समग्र क्षेत्र के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण होता है? आदि प्रश्न विगत ४ दशकों से समाजशास्त्र के अध्येताओं की जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। इन प्रश्नों एवं इन प्रश्नों से जुड़े समाधानों से उत्पन्न प्रतिप्रश्नों के उत्तर खोजने में आज विश्व के अधिसंख्य सामाजिक नृतत्ववेत्ता तीर्थों के सांस्कृतिक अध्ययनों में व्यस्त है।

विन्ध्याचल शक्तिपीठ समाज के सभी वर्गों के आकर्षण का केन्द्र है। शाक्त सम्प्रदाय का प्राचीनस्थान होने के कारण इसका तीर्थ यात्रा के पारम्परिक स्थलों चारों धाम आदि से पृथक् एक विशेष प्रकार का महत्त्व एवं प्रकृति है। जिस प्रकार अन्य वैष्णव-शैव तीर्थों अथवा जलतीर्थों (प्रयाग गया आदि) के यात्राओं के सम्बन्ध में पुराणों एवं मध्यकालिक निबन्धों में व्यवस्थाएँ दी गई है। उस प्रकार की व्यवस्थाएँ विन्ध्याचल की यात्रा करने के सम्बन्ध में कम प्राप्त होतीं है। फिर भी इस तीर्थ में नवरात्र जैसे विशेष शक्ति पर्वों पर यात्रियों का विशाल समुदाय दर्शन पूजन आदि विभिन्न धार्मिक कृत्यों के लिए आता है। एवं उनकी संख्या में अनवरत बृद्धि होती जा रही है।

यद्यपि देवी पुराण में शरत्काल में विन्ध्यवासिनी के पूजन के लिए सामान्यीकृत व्यवस्था हैं। इसके अनुसार भी वर्णों को सभी पुरों एवं स्थानों में विन्ध्यवासिनी की पूजा करने का निर्देश है। तथापि विन्ध्याचल की यात्रा करके वहीं पर धर्मानुष्ठान एवं उसके धार्मिक परिसर की परिक्रमा आदि करने की परम्परा के संकेत महाभारत के युधिष्ठिर कृत दुर्गा स्तुति से ही प्राप्त है।

यात्रियों के सांकृतिक रुझान को समझाने का यत्न करते हुए अध्येताओं ने कुछ बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रण किया हैं उनके माध्यम से मुख्यत: ३ प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा की जाती रही है—१. किसप्रकार के यात्री इस तीर्थ में आते हैं। २. यह तीर्थ हिन्दू समाज के किस भाग को अधिक आकर्षित करता है? ३. इस तीर्थ में आने का उद्देश्य क्या है? इन प्रश्नों के समाधान के लिए यात्रियों का १. क्षेत्र २. सामाजिक स्तर ३. आर्थिक स्तर ४. सांस्कृतिक रुचि ५. वैयक्तिक आकलन करने में विशेष रुचि दिखाई जाती है। यद्यपि इन बिन्दुओं पर एकदम सही विचार करने के लिए आँकड़े तैयार करने के लिए यात्रियों के नमूने एकत्र करने की विधि का सर्वथा अभाव है।

किसी भी तीर्थ का अपना व्यक्तिगत सांस्कृतिक महत्त्व होता है। अत: वह अपने पारम्परिक स्वरूप एवं अपने प्रति प्रख्यात विश्वास की पृष्ठभूमि के कारण यात्रियों को आकर्षित करता है। यदि किसी तीर्थ के प्रति किसी जाति विशेष के यात्रियों का आकर्षण अधिक दिखाई देता है तो उसके पीछे उस देवता के पारम्परिक इतिहास का योगदान अधिक होता है। किन्तु मध्यकाल से तीर्थयात्रा के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण उत्तर भारत के सभी तीर्थों में समाज के सभी वर्गों का कमोवेश आवागमन होता रहा है। एवं जनसंख्या एवं संचार माध्यमों के विस्तार के साथ साथ तीर्थयात्रियों की संख्या भी बदली रही है।

विन्ध्याचल में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न सामाजिक वर्ग के यात्रियों की प्रधानता रहती है। उदाहरण के लिए निम्न सारणी का अवलोकन करें—

माह के अनुसार यात्रियों के वैशिष्ट्य का विवरण

१. माह	२. यात्री वर्ग	३. विशेष
चैत्र (शुक्ल पक्ष)	बैसवारा	पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अल्प वित्त अल्पशिक्षित, निम्न जाति के पारम्परिक यात्री।

	खपडिया	उत्तर प्रदेश एवं विहार के कुछ जिलों के मुस्लिम धर्मावलम्बी यात्री।
	महाउत	उत्तरप्रदेश के मुस्लिम धर्मावलम्बी।
बैशाख-आषाढ	किसान	सभी जातियों एवं वित्त वर्गों के किसान विशेषतः पूर्वी उत्तर प्रदेश के।
श्रावण	व्यावसायिक	उत्तर प्रदेश एवं दिल्ली के खत्री एवं अग्रवाल व्यापारी।
भाद्रपद	नौकरी पेशा	सभी वर्गों से इस माह में अत्यल्प यात्री आते है।
कार्तिक अगहन	किसान	बैशाख–आषाढ की भाँति
पौष-माघ	बंगाल एवं गया केयात्री	मुख्यतः विन्ध्याचल की जलवायु
	बंगाल के यात्री सेवन	के के लिए आते हैं गया श्राद्ध से लौटने वाले यात्री विन्ध्याचल दर्शनार्थ आते है।
फाल्गुन	नौकरी पेशा	सभी वर्गों के।

चैत्र कृष्ण पक्ष आश्विन कृष्ण पक्ष भाद्रपद एवं पौष में विन्ध्याचल में यात्रियों की आवक अत्यल्प होती है। आश्विन नवरात्र में किसी भी वर्ग विशेष के यात्रियों की प्रधानता नहीं कही जा सकती है। इस अवसर पर सभी प्रान्तों एवं वर्गों के यात्रियों की आवक होती है।

चैत्र नवरात्र में भी यद्यपि सभी वर्णों के यात्रियों की संख्या वैसवारा, खपड़िया एवं महाउतों की संख्या की अपेक्षा कई गुणा अधिक होती हैं किन्तु वैसवारा यात्रियों के स्वभाव के कारण विन्ध्याचल में पण्डा पारीवाल के बटवारे में 'औरी' की परम्परा एवं देवी जी के मुख पर आवरण डालने की परम्परा होने के कारण इनकी प्रधानता है। इसी प्रकार कुछ पर्वों पर विशेष प्रकार के यात्री वर्गों की आवक होती है। इसे निम्न सारिणी स्पष्ट करती है। कुछ पर्वों पर विशेष प्रकार के यात्री वर्गों की आवक होती है। इसे निम्न सारिणी स्पष्ट करती है।

पर्व या दिन	यात्री वर्ग	विशेष
मंगल एवं पूर्णिमा	किसान	मीरजापुर के आस पास के जिलों के सभी जाति एवं वर्गों के लोग।
रविवार एवं छुट्टी के दिन	नौकरी पेशा	अधिकांशतः सीमावर्ती जिलों के एवं स्थानीय राज्याधिकारी।
शुक्रोदय काल के दिनों में एवं अक्षय तृतीया के दिन	त्रैवर्ण	मुण्डन एवं जनेऊ के लिए।
आश्विन शुक्ल पक्ष	व्यापारी	मेवाफरोश, कसेरा एवं वाराणसी नगर के सामान्य नागरिक।
आश्विन कृष्ण १५	प्रेतपीड़ित	अधिकतर सभी वर्ग के व्यक्ति ग्रामीण।

हन्टर (१८७८) एवं बेन्ट्ली (१९२९) ने बंगाल के तीर्थों के विषय में निर्णय दिया है कि उनमें रविवार सोमवार एवं छुटी के दिनों में यात्रियों की संख्या बढ़ती है। शिव मन्दिरों में सोमवार को यात्रियों की संख्या बढ़ना स्वाभाविक है। किन्तु रविवार एवं अन्य छुट्टी के दिनों में यात्रियों की संख्या बढ़ना निकटवर्ती क्षेत्रों के यात्रियों के रुचि को प्रदर्शित करता है।

यात्रियों के आवक की सही संख्या नहीं ज्ञात की जा सकतीं अपितु एक सामान्य अवधारणा बनाई जा सकती है। यात्रियों की संख्या का अनुमान के विषय में हमने दो साधनों का उपयोग किया है। १. क. रेलवे से विन्ध्याचल से बाहर जाने वाले यात्रियों के आँकड़े । ख. यद्यपि बस से आने या जाने वाले यात्रियों की संख्या का ज्ञान नहीं हो सका किन्तु बसों की संख्या के आधार पर यात्रियों का अनुमान लगाने की चेष्टा की जा सकती है।

२. विन्ध्याचल आने वाला प्रत्येक यात्री एक छोटी माला अवश्य खरीद कर चढ़ाता है। इस प्रकार के मालों की बिक्री सर्वाधिक मन्दिर के आस-पास ही होती है। भीड़ के दिनों एवं खाली दिनों में औसतन माला की बिक्री का अनुमान लगाने के लिए मालाओं के थोक वितरकों से जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

विन्ध्याचल से वापस जाने वाले यात्रियों का सबसे बड़ा भाग सड़क मार्गों से आता है। किन्तु सड़क मार्गों से आने वाले यात्रियों की संख्या का ब्यौरा बस मालिक एवं विभाग रखता ही नहीं।

यद्यपि पिछले २-३ वर्षों से विन्ध्यविकास परिषद मुण्डन करने वाले यात्रियों की संख्या का ब्यौरा रखने लगा है इसी प्रकार जनेऊ कराने वाली संस्थाएँ भी जनेऊ भी जनेऊ कराने वाले यात्रियों की संख्या का ब्यौरा रखती हैं। किन्तु बहुत से मुण्डन यात्री गंगातट पर ही क्षौर कर्म का लिया करते है। इसी प्रकर जनेऊ के अनेक यात्री पण्डोहे पर ही जनेऊ पहन लेते है ऐसे यात्रियों का कोई ब्यौरा नहीं उपलब्ध हो जाता। अतः हमने माला विक्री संख्या एवं रेलवे से बाहर जाने वालों के आधार पर यात्रियों की यात्रा-वृत्ति (Trend of Visits) का ज्ञान करने का यत्न किया गया है।

यात्रियों के प्रकार

१. नियमित यात्री

इस वर्ग में हम उन यात्रियों की गणना करते है जो आग्रह पूर्वक किसी पर्वविशेष पर नही आते अपितु जब भी उनकी इच्छा या धार्मिक प्रेरणा होती हैं, चले आते हैं। इसप्रकार के यात्री पर्वों पर भी आते हैं। किन्तु केवल पर्वों पर ही आने का नियम नहीं बनाते। इसमें छुट्टी के दिनों में सुविधा के कारण आने वाले यात्रियों की भी गणना की गई है। हमने मंगलवार एवं पूर्णिमा जैसे पर्वों पर आने वाले यात्रियों को भी नियमित यात्री ही माना है। क्योंकि मंगल एवं पूर्णिमा पर आने वाले यात्री किसी कामना की पूर्ति के लिए व्रत विशेष धरण करके ११ पूर्णिमा या १ वर्ष के मंगलवार के दिन नियमतः विन्ध्यवासिनी का दर्शन करते हैं। वे यात्री जिनकी कुलदेवी विन्ध्यवासिनी हैं किन्तु अज्ञानतावश वे विन्ध्याचल नहीं आये प्रथम यात्रा की किन्तु उनमें विन्ध्याचल का परिचय होने के बाद बार बार आने की इच्छा है इसी वर्ग में रखे गए हैं।

२. पार्वण यात्री

इस वर्ग में नवरात्रों, अक्षय तृतीय या आदि पर्वों श्रावण माह के खत्रियों, अग्रवालों, किसी पर्व विशेष पर निश्चित रूप से आने वाले यात्रियों की गणना की गई है। इस प्रकार के अधिकता यात्री क्योंकि कुल परम्परागत रूप से उन्हीं पर्वों पर अथवा काल विशेष पर आते है। अतः उन्हें नियमित यात्री भी कहा जा सकता है। किन्तु ये यात्री शुद्ध रूप से एक धार्मिक मान्यता अपना कर केवल उन्हीं पर्वों के लिए अपनी यात्रा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अतः उन्हें पृथक् वर्ग में रखा गया है। जनेऊ एवं मुण्डन के लिए पञ्चांग के मुहूर्तों के आधार पर यात्रा करने वाले भी पार्वण यात्री मान लिए गए हैं।

३. इत्वर यात्री

इस वर्ग में उन यात्रियों को माना गया है जो १. जाड़े के महीनों में स्वास्थ्य लाभ. के लिए विन्ध्याचल आते है। २. वे यात्री एवं महन्थों के अखाड़े भी इसी वर्ग में सम्मिलित किए गए हैं, जो विन्ध्याचल की यात्रा आनुषङ्गिक रूप से करते हैं। जैसे गया से लौटने वाले यात्री या प्रयाग में माघ स्नान के पश्चात् विन्ध्याचल आने वाले यात्री या साधु सन्तों महन्थों के अखाड़े आदि। इस वर्ग के यात्री विन्ध्याचल की यात्रा को अपनी यात्रा का प्रधान लक्ष्य नहीं मानते अपितु किसी अन्य तीर्थ की यात्रा के लिए निकालते है एवं धार्मिक भावना वश या किसी से प्रेरित होकर विन्ध्याचल की भी यात्रा करते है। ३. विदेशी पर्यटक जो हिन्दू धर्म एवं संस्कृति से भावनात्मक स्तर पर नहीं जुड़े हैं किन्तु भारत भ्रमण करते हुए विन्ध्याचल आते रहते हैं। इसप्रकार के यात्रियों की गणना इत्वार यात्रियों की श्रेणी में किया गया है। ४. ऐसे यात्री जे अपने किस मित्र, पड़ोसी अथवा टीम के साथ कौतुक या उत्सुकता वश विन्ध्याचल आ जाते हैं; वे इसी वर्ग में परिगणित हैं।

इसप्रकार के यात्रियों का आगमन यद्यपि किसी पूर्व धार्मिक-निश्चय से नहीं होता किन्तु इसप्रकार के याात्रियों का आगमन भी सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व पूर्ण होता है।

यात्री एवं उनके प्रकार

श्रावण (शुक्ल)	खत्री, अग्रवाल
आश्विन (नवरात्र)	बिहार के यात्री
कार्तिक-अगहन	किसान
माघ	गयावाल (गया से लौटने वाले यात्रियों की आनुषंगिक यात्रा भादौ, पौष, फाल्गुन में किसी विशेष प्रकार के यात्रियों की आवक नहीं सूचित है।)

इसी प्रकार विशेष पर्वों पर भी विशेष प्रकार के यात्री आते है-

पर्व	**यात्री प्रकार**
प्रत्येक मंगलवार एवं पूर्णिमा	वाराणसी इलाहाबाद मण्डल के किसान (इन्हें 'मँगरावरिहा एवं पुन्नवसिहा यजमान' कहा जाता है।)

रविवार	इलाहाबाद, वाराणसी, मीरजापुर के राज्याधिकारी; नौकरी पेशा व्यक्ति।
आश्विन शु० ११	मेवाफरोश, कसेरा, वाराणसी के नागरिक।
वैशाख कृ० १	विन्ध्याचल के नागरिक
आश्विन कृ० १५	प्रेतबाधा से पीड़ित, पिण्डदान करने वाले (सम्पूर्ण उत्तरप्रदेश, बिहार एवं मध्यप्रदेश से)

पण्डा यात्री सम्बन्ध

ललित प्रसाद विद्यार्थी (गया : १९७१) ने तीर्थों के सांस्कृतिक अध्ययन की सरलता के लिए पवित्र सम्मिश्र की अवधारण १९६१ में दी थी। पवित्र सम्मिश्र के ३ विभाग भी बताए –१. पवित्र केन्द्र २.पवित्र कृत्य ३. पवित्र विशेषज्ञ। इन तीनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। तीनों भौतिक रूप से ३ भिन्न तत्त्वों को अभिव्यक्त करते हैं जो क्रमश: स्थल, व्यापार एवं कारक कहे जा सकते है। तीनों तत्त्वों का एक लक्ष्य में सामानाधिकरण्य होने से इनके समवेत अध्ययन को पवित्र-सम्मिश्र (Sacred Compex) शब्द से व्यक्त किया जाता है।

सम्पूर्ण अवधारणा को एकाङ्गी बनाकर देखा जाता है। किसी तीर्थ क्षेत्र की महत्ता उस तीर्थ के प्रति श्रद्धा रखने वाले यात्री सुनिश्चित करते हैं। यात्री श्रद्धाकुल होकर तीर्थों में जाते हैं। तभी तीर्थ का तीर्थत्व उद्दीप्त होता है। अत: तीर्थों के पवित्र-सम्मिश्र का एक अंग उन यात्रिओं को भी मानना चाहिए। तीर्थों की संस्कृति को विकसित करने या विकृत करने में यात्रिओं का सर्वाधिक योगदान होता है हिन्दू तीर्थों में जानेवाले एवं वहाँ के देवताओं नदियों वृक्षों के प्रति पण्डों के माध्यम से श्रद्धा व्यक्त करने वाले यात्रीगणों में बहुतेरे उन तीर्थों की महत्ता के विषय में उसकी पवित्रता के विषय में वहाँ के पण्डों से कहीं अधिक एवं स्पष्ट ज्ञान रखते हैं। किन्तु वे परम्परागत रूप से तीर्थ की पवित्रता को वहाँ के पण्डों पर भी आरोपित कर उन पर भी तीर्थ के समान ही श्रद्धा व्यक्त करते हुए देखे जाते है, अथवा इसके ठीक विपरीत तीर्थ की पवित्रता को स्वीकार हुए पण्डों की अयोग्यता को देखते हुए उनसे दूर रहने की मानसिकता बनाते है। यद्यपि तीर्थ पुरोहित एवं तीर्थ यात्री अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।

अधिकांश समाजशास्त्रियों ने यात्रियों की मानसिकता को धार्मिक धरातल पर खड़े होकर ही अध्ययन किया है। यात्रियों की सामाजिक मनोरचना के आधार पर उनके धार्मिक कृत्यों का आकलन करना हमारे विचार से अधिक प्रासंगिक हो सकता है।

पण्डा एवं यजमान में पारम्परिक रूप से एक सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। यात्री तीर्थों मे जाते है पण्डों से उस तीर्थ में होने वाले धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराते हैं। पण्डे यात्रियों के घर जाते हैं। उन तीर्थों का पारम्परिक प्रसाद देते है। अपने धार्मिक प्रतिनिधित्व को पुनर्नवीकृत करते है।ये परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन काल से, जब से तीर्थयात्रा का आरम्भ हुआ है तब से सभी तीर्थों के लिए सामान्य हैं।

पण्डा यात्री सम्बन्धों के प्रकटीकरण का अवसर ही पुरोहितों के इस पृथग्भूत उपवर्ग की विशिष्ट संस्कृति का बोध कराता है।[1] जो सम्बन्ध यजमान एवं पुरोहित का गाँवों में होता है वही सम्बन्ध पण्डा एवं तीर्थ यात्री या यजमान का नहीं होता है। गाँव के पुरोहित पारम्परिक होते हैं। वे बदले नहीं जाते किन्तु पण्डा पारम्परिक होते हुए भी बदले जा सकते हैं।

यद्यपि विन्ध्याचल में यजमानी को भी एक स्थाई जायदाद मानकर व्यवहार करने के भी उदाहरण हैं। पुराने पण्डों में से कुछ ने अपनी यजमानी बेची भी है। किन्तु यजमान एवं यजमानदार का सम्बन्ध शुद्ध सांस्कृतिक समझौते या पारस्परिक व्यवहार पर आधारित होता है। अतः यजमानी बेची जाने पर भी यदि यजमानी खरीदने वाले से यजमान प्रसन्न नहीं है तो वह उसे पण्डा मानने के लिए बाध्य नहीं होता। विन्ध्याचल के दो पण्डों में इसी सम्बन्ध में एक मुकादमा कायम हुआ था। कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि पण्डाई वृत्ति यजमान की व्यक्तिगत निष्ठा पर आधारित होती है। अतः वह जिसे चाहे पण्डा माने उसके लिए यह भी बाध्यता नहीं हो सकती कि जिस व्यक्ति के पास उसके पूर्वजों का लेख हो, जो व्यक्ति उसका पुश्तैनी पण्डा होने का दावा करता हो उससे सन्तुष्ट न होने पर भी वह उसे पण्डा स्वीकार करे। अतः यजमान एवं पण्डा का सम्बध व्यक्तिगत सांस्कृतिक समझौते पर आधारित होता है। यदि वंशानुगत रूप से पण्डा की सन्तति

1. विशेष विवरण देखें Cast and the Jajmani system in a north Indian village, Scientifie Monthly; Vol 83, No 2 1956 esa Osear Lewis एवं Victor Barnoum का लेख एवं The Hindu JaJmani System, William H. Wiser, Lucknaw, 1936 Lucknow Publishing Co. द्वारा प्रकाशित पुस्तक।

यजमान को अपने व्यवहारों से सन्तुष्ट रखती है। तब उसकी यजमानी पुश्तैनी रूप से चलती रहती है।

विन्ध्याचल में पण्डा यजमान सम्बन्ध के ३ स्वरूप दिखाई देते है– १.पारम्परिक सम्बन्ध। २. राजनैतिक सम्बन्ध। ३. सामाजिक सम्बन्ध।

१. पारम्परिक सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए। पण्डे यजमानों की खोज में जाते हैं। उनका धार्मिक मार्गदर्शन करते है। धार्मिक कृत्यों को सम्पादित कराते है। यदि यात्री उनके घर पर रुकता है तो वे उसे पूरी घरेलू सुविधा देते है। इसके लिए पण्डों का पूरा परिवार यजमानों की सेवा एवं सन्तोष के लिए उत्तरदायी होता है। उन्हें भोजन बनाने बर्तन, उपलब्ध कराए जाते है। विन्ध्याचल में यात्रीगणों के लिए प्रत्येक पण्डों के घरों में पृथक् आवासीय कमरे बने होते हैं।

आवासीय सुविधा यदि यजमान पण्डों से न लेकर किसी धर्मशाला में रहता है। तब भी पण्डे समय-समय उनके पास जाकर उनकी व्यक्तिगत सुविधा या आवश्यकता की पूर्ति सुनिश्चित करते हैं। चाहे उनके लिए पूजासामग्री जुटानी हो अथवा उनकी व्यक्तिगत आवश्यकता की प्राप्ति में सहायता करनी हो ऐसे अवसरों पर पण्डा एवं यात्री में मेहमान एवं मेजबान का सम्बन्ध होता है।

केवल विन्ध्यावासिनी मन्दिर के आसपास रहकर दैनिक वृत्ति के लिए पण्डाई करने वाले पण्डे यात्रियों से दर्शन कराने मात्र तक सम्बन्ध रखते हैं।

विन्ध्याचल तान्त्रिक पद्धति का उपासना का केन्द्र है। यहाँ आने वाले अधिकांश यात्री तन्त्रानुष्ठान में रुचि रखते है। प्रेतबाधा से पीड़ित यात्री भी विन्ध्याचल में स्वास्थ्य लाभ के लिए जाते हैं। तन्त्रानुष्ठान के इच्छुक यात्रियों के आनुष्ठानिक संकल्प बहुधा पण्डे स्वयं नहीं लेते। वे उनके लिए पण्डितों की व्यवस्था कर देते हैं। पूरा अनुष्ठान यात्री का पण्डा उसकी की अनुपस्थिति में भी अपने निरीक्षण में कराता है। कुछ पण्डे ऐसे भी है जो अनुष्ठान भली भाँति सम्पादित हो इसके लिए पण्डितों को अपने घरों में बिठाकर अनुष्ठान कराते हैं।

२. साठ के दशक से पण्डों में राजनैतिक दृष्टि से यात्रियों से सम्बन्ध बनाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई है। विन्ध्याचल में सरकारी अधिकारियों एवं राजनैतिक व्यक्तियों का आवागमन अधिक होने लगा। यद्यपि १८-१९वीं सदी में भारत के सभी भागों के रियासतों

के राजा महाराजा, महन्थ, साम्प्रदायिक अखाड़े विन्ध्याचल में देवी दर्शनों के लिए आया करते थे। विन्ध्याचल के अनेक पण्डों के पास उन राजाओं महाराजाओं के हस्तलेख मुहर सहित उपलब्ध होते हैं। किन्तु उनसे पण्डे किसी प्रकार का राजनैतिक लाभ नहीं लेते थे। उनसे केवल पण्डा एवं यजमान का पारम्परिक सम्बन्ध ही रहता था। किन्तु विगत ३ दशकों से कुछ पण्डों में राजनैतिक व्यक्तित्वों का पण्डा बनने एवं उनसे राजनैतिक लाभ लेने की भावना बनने लगी। पहले कुछ पण्डे सरकारी अधिकारियों एवं नेताओं में रुचि लेने लगे एवं उनकी हैसियत का लाभ लेकर कुछ सरकारी ठेकेदारी आदि का लाभ पाने का प्रयत्न करने लगे। बाद में कुछ पण्डों ने विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लेना भी आरम्भ कर दिया एवं अपने दल से सम्बद्ध राजनैतिक व्यक्तियों का पण्डा भी बनने लगे हैं।

३. सम्बन्ध के इस तीसरे स्वरूप में दो तथ्य समाहित हैं—१. विन्ध्याचल के बाहर रहने वाले यात्री से सामाजिक सम्बन्ध। २. विन्ध्याचल में आपस में पण्डा यजमान सम्बन्धों के सामाजिक कारण।

सभी तीर्थों के पण्डे स्वयं को सांस्कृतिक रूप से पृथक् वर्ग के रूप में विकसित किए हुए हैं। विन्ध्याचल के पण्डों में पण्डों के सार्वभौम विशिष्ट गुणों को अपनाते हुए भी स्वयं को बाहर के समाज से पृथक् नहीं माना है। वे अपने को प्रयाग, गया, हरिद्वार आदि तीर्थों के पण्डों से पृथक् मानते हैं। पण्डों के आगमन काल से लगभग १८१० ई० तक विन्ध्याचल के पण्डों के सामाजिक सम्बन्ध विन्ध्याचल के बाहर अधिक होते थे। किन्तु १९३० के दशक से ब्राह्मण वर्ग के पण्डों का सामाजिक सम्बन्ध आपस में ही सीमित होने लगा। १९७० के दशक से विन्ध्याचल के बाहर सम्बन्धों का सिलसिला पुनः आरम्भ हुआ है।

ये विवरण उन यात्रियों के साथ सम्बन्धों के अध्ययन के पर लिखा गया है। जो दूर दराज रहते हैं। पुश्तैनी रूप से विन्ध्याचल आते हैं। एवं उनका कोई न कोई पुराना पण्डा होता है।

भाट एवं गोसाईं वर्ग के पण्डों के सामाजिक सम्बन्ध अपनी जाति के लोगों में आरम्भ से ही है। इन वर्गों के पण्डों का विन्ध्याचल के ब्राह्मण वर्ग के पण्डों से केवल व्यावसायिक सम्बन्ध हैं। इनका शादी विवाह, मैत्री, परम्पराएँ सामान्य भाटों गोसाइयों की ही भाँति होते हैं। विन्ध्याचल के अधिकांश भाटों गोसाइयों के सामाजिक सम्बन्ध गैरपण्डा भाट गोसाइयों में ही हैं।

२. विन्ध्याचल में आपस में भी पण्डों में पण्डा यजमान का सम्बन्ध है। यदि किसी पण्डा का किसी अन्य पण्डा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध होता है। उसमें कन्या पक्ष के लोगों का वरपक्ष के लोग पण्डा बन जाते हैं। यात्रियों द्वारा किए जाने वाले सारे कृत्य पण्डे भी करते हैं। इस प्रकार के पण्डा यात्रियों द्वारा चढ़ाई गई चढ़ोत्तरी में पारीवाल कोई भाग नहीं लेता। यद्यपि इस प्रकार की चढ़ोत्तरी में बंटवारा न किए जाने का कोई नियम नहीं है। मात्र आपसी समझौते के आधार पर यह परम्परा चरितार्थ है।

विन्ध्याचल के अन्य जातियों बनियों, खत्रियों चमारों, धैकारों, खटिकों मालियों आदि ने भी पण्डा निर्धारित कर रखे हैं। जो पुरोहितगण पण्डों में कुल परम्परा से पौरोहित्य करते आ रहे है वे भी स्वयं जब विन्ध्यावासिनी मन्दिर में दर्शनार्थ आते है। तब अपने निर्धारित पण्डा को बुला लेते हैं। यद्यपि वे उस पण्डा के भी कुल पुरोहित होते हैं फिर भी पण्डा के रूप में उन्हें दक्षिणा आदि देते हैं।

इस प्रकार स्थानीय समाज में पण्डा एवं यजमान सम्बन्ध की विधिवत् स्वीकृति इस तीर्थ की विशेषता है। स्थानीय समाज बाहर से आने वाले यात्रियों से जिस प्रकार का धार्मिक सम्मान चाहता है। उसी प्रकार का सम्मान वह अपने पण्डा के प्रति प्रदर्शित करता है।

यात्री अभिलेख

पण्डाई पेशा क्योंकि एक सुव्यवस्थित सांस्कृतिक व्यवसाय है। अतः यात्रियों एवं पण्डों के सम्बन्धों के स्थायित्व, प्राचीनता, सातत्य, एवं नवीन सम्बन्ध बनाने के आधार के रूप में अधिकांश पौराणिक तीर्थों के पण्डे बहुत काल से परम्परागत रूप से उन तीर्थों में जाने वाले यात्रियों का लेखा-जोखा रखते हैं। इसे बही कहा जाता है। अनेक समाजशास्त्रियों ने कुछ स्थानों के पण्डों के बहियों के सामाजिक एवं भारतीयकला के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से पण्डों की बहियों का महत्त्व आँका है। वस्तुतः बहियाँ पण्डों के सम्मान एवं उनकी कुलीनता के साथ-साथ उनकी वृत्तिक विस्तार को भी द्योतित करती हैं। यद्यपि बहियों के मूल रूप को पढ़ पाना एक दुष्कर कार्य होता है। किन्तु बहियाँ किसी तीर्थ के यात्रियों के प्रकारों में परिवर्तन-परिवर्धन का सर्वाधिक प्रामाणिक माध्य प्रकट कर सकती हैं।

हरिद्वार, पुरी, प्रयाग आदि पौराणिक तीर्थों में पण्डों का क्षेत्र एवं जाति का पारस्परिक बंटवारा है। अतः उनकी बहियाँ एकाङ्गी होती हैं। विन्ध्याचल के पण्डों के

वृत्तिक समझौते के अनिश्चित स्वरूप के कारण यहाँ के प्रत्येक पुराने पण्डा की बही सभी प्रकार के यात्रियों एवं सभी क्षेत्रों से आने वाले यात्रियों के अभिलेख प्राप्त हो जाते है।

विन्ध्याचल के पण्डों ने आरम्भ में कुछ लोगों ने कुछ विशेष वर्ग के यात्रियों में अधिक रुचि लिया था। अतः उन्होंने क्षेत्र विशेष जैसे बुन्देलखण्ड वैसवाड़ा क्षेत्र आदि, व्यवसाय विशेष जैसे मेवाफरोश, कसेरा, आदि, जातिविशेषखत्री, अग्रवाल महाउत, खपड़िया, डांम, धोबी, बसोर (बाँसफोड़) आदि, वर्ग विशेष जैसे मारवाड़ी अग्रवाल, सोनार आदि के यात्रियों का अभिलेख एकाकी रूप में संग्रहीत किया था किन्तु इस प्रकार के पण्डों की बहियों में भी सभी क्षेत्रों के यात्रियों के अभिलेख प्राप्त होते हैं।

सामान्यतः हर तीर्थक्षेत्र की बहियों का आकार प्रकार लगभग एक सा ही होता है। विन्ध्याचल के पण्डों की बहियाँ महाजनी रोकड़ बही की तरह लम्बे कागजों की होती है इन्हें पण्डे मूल अभिलेख के लिए प्रयोग करते हैं। इसे **असल बही** कहा जाता है। इसमें सभी अभिलेखों को क्रम संख्या दी जाती है। जिसे **'लिखा क्रमांक'** कहते हैं। बही अभिलेखों से भर जाने पर दूसरी बही पर बही संख्या मुखपृष्ठ पर अंकित की जाती है। भीतरी पन्नों पर पूर्व बही के अभिलेख संख्या से आगे की संख्या दी जाती है। असल बही के अभिलेखों को एक दूसरी बही में यात्रियों के जिला एवं जाति को वर्गीकृत करके उनका नाम, पता, जाति, बही संख्या, अभिलेख संख्या लिखा जाता है। यह बही व्यवस्थित होती है। इसे **नकल बही** कहते है। नकलबही से किसी यात्री का जाति एवं जिला या गाँव ज्ञात होने पर यदि कभी भी उसके पूर्वज विन्ध्याचल आए थे तो उनका नाम एवं मूल अभिलेख एवं उनका हस्ताक्षर आसानी से पाया जा सकता है।

कुछ लोगों ने कुछ जाति विशेष या वर्ग विशेष के यात्रियों के लिए अलग फेहरिस्त बना रखी है जैसे-महाउत (मुस्लिममतानुयायी, हस्तिपाल) मारवाड़ी आदि सरकारी अधिकारियों के अधिकांश अभिलेख जिनके पास हैं वे उन्हें अन्य प्रकार के यात्रियों के अभिलेखों से एकदम पृथक् रखते हैं।

पारीवाल वर्ग के प्रमुख पण्डों में अब यात्रियों अभिलेख संग्रह करने के सातत्य में बाधा आई है। मन्दिर पर नित्य कमाई करने वाले पण्डों में केवल सरकारी अधिकारियों में अधिक रुचि लेने वाला पण्डा ही नियमित रूप से अभिलेख संग्रह करता है।

बहियों की लिपि एवं भाषा

नमूना बहियों में देवनागरी, रोमन, बँगला, मैथिली उडिया, नेवारी, नेवाती (नेपाली), फारसी, गुरुमुखी, तमिल, तेलगू लिपियाँ एवं अंग्रेजी, हिन्दी, बाँगला, उडिया,

गुजराती, मराठी, पंजाबी, सिन्धी, नेपाली भाषाएँ अपनी ही लिपि में प्राप्त होती हैं। आधुनिक बहियों में अंग्रेजी एवं हिन्दी प्रमुख भाषा के रूप में प्रयुक्त हुई है एवं। पण्डे उसी भाषा में लिखना पसन्द करते है जिस भाषा को वे स्वयं पढ़ सके या किसी से नाम पता पढ़वा सकें।

हमने १० प्राचीन पण्डा परिवारों की बहियों का अवलोकन किया था। इनके आधार पर कह सकते है कि १. यात्रियों के विन्ध्याचल आने की दिशाएँ, २. यात्रियों के आवक में क्षेत्र परिवर्तन ३. मन्दिर की धार्मिक व्यापकता। ४. यात्रियों द्वारा पण्डों के विषय में टिप्पणियों के आधार पर पण्डों का यात्रियों से सम्बन्ध का आकलन ५. यात्रा उद्देश्य ६. यात्रियों का प्रामाणिक जातीय वर्गीकरण ७. पण्डों को यात्रियों से होने वाले लाभ का संकेत प्राप्त किया जा सकता है।

परिशिष्ट–१

विन्ध्याचल के विशेष सांस्कृतिक पर्व

विन्ध्याचल तीर्थ क्षेत्र में कुछ पर्व एवं त्यौहार विशेष रीति से मनाए जाते हैं। इन पर्वों एवं त्यौहारों को विन्ध्यक्षेत्र के सभी नागरिक समान रूप से मनाते हैं। कुछ परम्परागत भारतीय त्यौहार विन्ध्याचल में विशेष परम्पराओं के साथ मनाए जाते है। प्रस्तुत पृष्ठों में प्रथमतः परम्परागत त्यौहारों में जोड़े गए विन्ध्याचलीय विशिष्टताओं का तत्पश्चात् विन्ध्यक्षेत्र मूल के त्यौहारों एवं पर्वों का परिचय दिया जा रहा है। इन सभी त्यौहारों को सफल बनाने का प्रमुख दायित्व विन्ध्याचल के पण्डों की गतिविधयाँ वहन करती है।

होली

प्रायः उत्तर भारत के सभी स्थानों पर होली हुड़दंग का रूप एक सा ही रहता है। मथुरा की 'लट्ठमार होली' को छोड़ कर। किन्तु विन्ध्याचल में होली कुछ विशिष्टताएँ लिए होती है।

१. होलिका दहन की पूर्व संध्या पर सभी नागरिकों विशेष रूँप से पण्डों के घर उनके अपने नाई सपत्नीक जाकर सभी बच्चों, पुरुषों एवं महिलाओं को भुने हुए सरसों के उबटन पूरे शरीर में लगा कर शरीर का मैल उतारते हैं। उसे किसी कपड़े में एकत्र करके रख देते हैं। जिनके घर नाई एवं नाई की पत्नी नहीं जाते वे स्वयं यह कार्य करते हैं। तत्पश्चात् प्रत्येक परिवार का एक सदस्य स्नान करके पञ्चोपचार पूजन सामग्री गेहूँ एवं सरसों के पौधे तथा बर्र (एक प्रकार का स्वतः उत्पन्न होने वाला वनस्पति जिसके बीजों से तेल प्राप्त होता है) के पौधे; ५ गुझिया (देशी घी में बनी हुई मिठाई) एवं कुछ सूखी लकड़ियाँ लेकर होलिका दहन स्थल पर जाकर होलिका एवं प्रह्लाद का पूजन करता है। वहाँ चढ़ाए जाने वाली गुझिया एवं दक्षिणा लेने के लिए कुछ गैर पण्डा वर्ग के लोग़ तात्कालिक रूप से उस दिन के पण्डा भी बन जाया करते हैं। सभी के पूजन के बाद यथा मुहूर्त होलिका दहन होता है।

होली के दिन अन्य शहरों की अपेक्षा विन्ध्याचल में कीचड़ कम लाल रंग ज्यादा प्रयुक्त होता है। ३ बजे अपराह्न के बाद रंग डालना पूरी तरह बंद हो जाता है। इसके बाद सभी लोग स्नान करते है। पण्डों के नवविवाहित वर अपने स्थानीय ससुराल में जाकर भोजन करते हैं। संध्या ६.३० से सभी पण्डे एवं नागरिक नवीन वस्त्र पहन कर विन्ध्यवासिनी देवी एवं मन्दिर के सभी देवताओं का अबीर गुलाल से पूजन करते हैं। देव पूजन के बाद आपस में अबीर लगाना आरम्भ होता है। जो लोग देवी पूजा करके एक दूसरे पर अबीर डाल रहे होते हैं। वे उन लोगों पर अबीर नहीं डालते जो पूजा करने जा रहे होते हैं। विन्ध्याचल में अबीर में बराबर वजन से अभ्र खनिज भी मिलाया जाता है। पण्डा लोग अन्य शहरों के नागरिकों की भाँति अबीर का टीकामात्र नहीं लगाते। बल्कि सामने बाले को सराबोर कर देते हैं। उन्हें नये कपड़ों के खराब होने की चिन्ता नहीं होती। एक-एक व्यक्ति थोड़ी ही देर में ४-५ किलोग्राम अबीर खर्च कर देता है।

इस अवसर पर मन्दिर के आस पास कई माली एवं उनके लड़के पण्डों को माला पहनाते है तथा उनसे कम से कम १रु० ज्यादा से ज्यादा ५रु० पुरस्कार प्राप्त करते है।

होलिका दाह के ५ दिन पूर्व की एकादशी को रंगभरी एकादशी कहते है। उस दिन से पण्डा लोग शाम को साजो सामान के साथ मन्दिर पर गाने के लिए बैठते हैं। प्रायः विन्ध्याचल के पण्डा कवियों द्वारा बनाए गए होली गीत ही गाए जाते हैं। ये होली गीत काफी, खमाच, भैरव, सोहनी, पीलू आदि कई शास्त्रीय रागों में निबद्ध होते हैं जिन्हे तबले, ढोलक, दुक्कड़, मँजीरा, शहनाई एवं हारमोनियम के संगत पर उपशास्त्रीय गायन पद्धति से गाया जाता है। तबले, एवं मँजीरा को पण्डे स्वयं बजाते हैं। ढोलक, टुक्कड़ एवं शहनाई स्थानीय शूद्रवर्ग के लोग बजाते हैं। प्रमुख गायक के हाथ में हारमोनियम होता है जो पण्डा वर्ग के होते हैं। कई पण्डे गाने के शौकीन होते है अतः एक के थकने पर दूसरा हारमोनियम ले लेता है और गाता है।

सर्वप्रथम विन्ध्यवासिनी जी के लिए होली गीत गाया जाता है **'अम्बे, विन्ध्य शिखर होली खेलत श्री जगदम्ब॥"** इसके पश्चात् कृष्ण राधा, एवं सामान्य शृंगार बसन्त वर्णन के होली गीतों की झड़ी लगी रहती है १२ बजे रात तक। ५ दिनों तक यही क्रम रहता है।

होली के दूसरे दिन 'चैती' गीत गाया जाता है। 'चैती' में नववर्ष एवं वसन्त का स्वागत वर्णित होता है। अन्त में विन्ध्यवासिनी जी का शयन गीत गाया जाता है- **'शयनकरो विन्ध्याचल रानी'**। इसके बाद कोई भी गीत उस दिन मन्दिर पर नहीं गाया जा सकता। होली एवं चैती के सारे गीत विन्ध्यवासिनी को उद्‌देश्य करके ही गाए जाते हैं।

इसके बाद आने वाले शनिवार को कालीखोह के काली मन्दिर पर महाकाली की पूजा करके उनको होलीगीत चैती आदि सभी कुछ सुनाया जाता है। फिर किसी दिन तय करके रामेश्वर मन्दिर पर तत्पश्चात् नाव से गंगा जी के बीच जाकर गंगेश्वर महादेव के निकट गाने के बाद होली का त्यौहार पण्डों के लिए संपन्न होता है। यद्यपि इन सभी स्थानों पर जाकर गाने की व्यवस्था करने के लिए सभी पण्डे सहभागी नहीं होते। केवल संगीत एवं परम्परा प्रेमी पण्डे ही सहभागी होते है तथापि ये परम्पराएँ विन्ध्याचल के पण्डों की हैं तथा चलनी रहनी चाहिए ये सभी जानते एवं चाहते हैं।

दो पीढ़ी पूर्व तक होलीगीत गाने की परम्परा में सारे नागरिकों का भी उत्साह होता था। पण्डों में उच्चकोटि के गायक एवं रचनाकार थे। गैर पण्डा वर्ग के लोग भी बड़े उत्साह से भाग लेते थे। किन्तु वर्तमान पीढ़ी में उत्साह एवं सहयोग की कमी है फिर भी कुछ परम्परा प्रेमी इस सांस्कृतिक गीत परम्परा को चला रहे हैं। किन्तु अब नई पीढ़ी में होली गीतकार एक भी नहीं हैं। केवल पुराने कवियों भगवानदत्त, जगन्नाथ प्रसाद, गोमती प्रसाद (जो अपने अभिन्न मित्र मोली के नाम से लिखते थे) आदि द्वारा रचित एवं अन्य कवि हरिविलास, सूरदास, आदि के होली गीत ही गाए जाते हैं।

इस उत्सव की प्रथम चर्चा काठक गृह्यसूत्र एवं जैमिनीय सूत्र में होलाका शब्द से किया गया है। काठक गृह्यय सूत्र (७३/१) में 'राका-होलाके' सूत्र की टीका देवपाल इस प्रकार करते हैं (होला कर्मविशेषः सौभाग्य स्त्रीणां प्रातरनुष्ठीयते। तत्र होलाके राका देवता।) होला एक कर्म विशेष है जिसे सौभाग्यकांक्षा से स्त्रियां करती थीं तथा इस कर्म के देवता पूर्णिमा के चन्द्रमा हैं। जैमिनि सूत्र (१/३/१५-१६) एवं भाष्यकार शबरस्वामी का कथन है कि होलाका सभी आर्यों द्वारा सम्पन्न होना चाहिए। कामसूत्र १/४/४२ में इसे वसन्तागमन के उत्सव के रूप में बताया गया है। भविष्योत्तर पुराण १३२/१/५१ भी बसन्त के प्रथम दिन इस उत्सव को मनाने का समर्थन करता है। ईसा की कई शताब्दी पूर्व से प्रचलित इस त्यौहार के विषय में कामसूत्र का कथन है कि फाल्गुन की पूर्णिमा पर लोग शृंग से एक दूसरे पर रंगीन जल छोड़ते है और सुगन्धित चूर्ण बिखेरते है। होली के संबन्ध में भविष्योत्तर पुराण की एक कथा उद्धृत की जाती है (हेमाद्रि .व्र० खं०, भाग २, १८४-१९०) जो इस प्रकार है। एक बार युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण से प्रश्न किया कि हे वासुदेव! फाल्गुन पूर्णिमा को प्रत्येक गाँव में एवं नगरों में एक उत्सव क्यों होता है? होलाका क्यों जलाते हैं? यह होलाका अडाडा क्यों कही जाती है? कृष्ण ने उत्तर में सम्राट् रघु के काल की एक कथा सुनाई कि एक बार रघु के पास पौर जन भीत अवस्था में गए और उनसे कहा कि ढोण्ढा नाम की एक राक्षसी बच्चों को डराती है। राजा ने पुरोहितों

से उसके विषय में पूछा तो पुरोहितों ने बताया कि वह एक मालिनं की पुत्री राक्षसी है जिसने शिव की उपासना करके उनसे यह वर प्राप्त किया कि उसे देव दानव, मानव कोई भी मार न सके तथा वह ऋतुओं से एवं शस्त्रादि से भी न मारी जा सके। किन्तु शिव ने यह वरदान देकर यह भी कह दिया कि उसे क्रीडा युक्त बालकों से भय हो सकता है। पुरोहितों ने यह भी बताया कि फाल्गुन पूर्णिमा को जाड़ा समाप्त होता है एवं ग्रीष्म का आरम्भ होता है। इस दिन लोग हँसें आनन्दित हों, बच्चे लकड़ी के टुकड़े लेकर बाहर प्रसन्नतापूर्वक जाएँ, लकड़ियाँ एवं सूखे तृण एकत्र करें, रक्षोध्न मन्त्रोंसे उसमें आग लगाएँ, तालियाँ बजाएँ, अग्नि की ३ बार प्रदक्षिणा करें, लोक भाषा में अश्लील गाने गाएँ इसी शोरगुल, अट्टहास एवं होम से वह राक्षसी मर गई। तब से इस दिन को अडाडा या होलिका कहा गया पुराणकार आगे कहते है कि दूसरे दिन अर्थात् चैत्र की प्रतिपत् को लोगों द्वारा होलिका भस्म को प्रणाम करना चाहिए, मन्त्रोच्चारण करना चाहिए। इसके अनन्तर ब्राह्मणों, भाटों, आदि को दान देना चाहिए। घर के प्रांगण वर्गाकार वेदिका बना कर मध्य में कामदेव की पूजा करनी चाहिए। काम की प्रतिमा पर सुन्दरी नारियों द्वारा चन्दन का लेप लगाना चाहिए। पूजा करने वाले को चन्दन लेप से मिश्रित आम्रबौर खाना चाहिए। 'कामदेव मुझपर प्रसन्न हों' ऐसा कहना चाहिए। पुराण कहता है कि फाल्गुन शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि समाप्त होने पर वसन्त का आगमन होता है। इस प्रथम वासन्तिक दिन को यदि मनुष्य चन्दन लेप एव आम्रमञ्जरी का भक्षण करता है वह वर्ष भर प्रसन्न रहता है।

विन्ध्याचल में चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को सभी नागरिक होलिका के जले हुए भस्म को प्रदक्षिणा करते हुए उड़ाते है तथा अश्लील शब्दोच्चार करते हैं। इसी दिन शाम को माली लोग आम की मञ्जरी पण्डों के घरों में देते हैं तथा घर के बड़े उसे सभी को खिलाते है। यद्यपि अधिकांश को इस कथा का ज्ञान नहीं है। सभी लोग इसे परम्परा मान कर ही करते हैं।

जन्माष्टमी

कृष्णजन्माष्टमी की रात्रि में जन्म काल के समय भण्डारी परिवार के वंशज एक विशेष धार्मिक कृत्य करते हैं इसमें श्री कृष्ण का जन्म कराना एवं देवी जी का षष्ठी पूजन होता है। इस कार्य के लिए भण्डारी परिवार की कोई एक महिला अपनी सास द्वारा प्रशिक्षित एवं अधिकृत की जाती है। उसके अतिरिक्त इस कृत्य के विधि को भण्डारी परिवार की अन्य स्त्रियाँ भी नहीं जान पाती है।

इस पूजा के लिए निम्न सामग्री प्रयुक्त होती है

१. पूड़ी एवं कचौरी (अच्छे घी में बनी हुयी) लगभग २ किलोग्रा०।

२. केवल तरोई की सब्जी १ किलोग्रा०

३.. कच्चा खीरा १।

४. गोंझिया मैदे में खोया एवं मेवा आदि भरकर घी में तला हुआ पकवान) लगभग १००।

५. सोठौरा (भुने हुए आटे में मेवा सोंठ का चूर्ण चीनी या गुड़, घी डालकर बनाया हुआ लड्डू। इसे प्रसूताओं को खिलाया जाता है।) २ कि०ग्रा०।

६. मीठा पुआ १/२ कि०ग्रा०।

७. बेसन की बनी हुई नमकीन पपड़ी।

८. सोठ (घीमें भुने हुए) सामुद्र नमक, काला नमक, सेंधा नमक, छोटी पीपर, हल्दी आदि का चूर्ण।

९. अछवानी (कुछ जड़ी बूटियाँ एवं मेवे। अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। पानी में पकाकर चीनी, घी मिलाकर प्रसूताओं को दिया जाता है।) अछवानी २ प्रकार की बनाकर रखी जाती है १. सूखी (कम रस वाली)। २. रसदार।

१०. ५ मौसमी फल।

११. जलदार नारियल १।

१२. किशमिश पिसी हुई १०० ग्राम १ लिटर गाय का दूध, १०० ग्रा० दही, २५ ग्रा० घी शक्कर ५० ग्रा० एवं मधु २५ ग्रा०। धोती १ एवं बड़ी माला १।

१३. माला छोटी एवं बड़ी २, दीपक घी भरा हुआ, ३००ग्रा० कपूर १५ ग्रा०, चन्दन भूरा २५ ग्रा०।

१४. २० किलोग्राम बेसन के लड्डू अच्छे घी में बने हुए।

१५. १०८ बत्तियों वाली पारम्परिक आरती।

१६. दक्षिणा।

पूजाविधि–

सारी सामग्री तैयार करके। सर्वप्रथम बड़ी आरती के शृंगारिया को ऊपर लिखी हुई, क्रमसंख्या १३ तक की सारी सामग्री दे दी जाती है। उस सामग्री को शृंगारिया अन्य सामग्री के साथ भगवती को अर्पित करते हैं। किशमिश का लेप देव जी के विग्रह पर लगा कर पञ्चामृत से स्नान कराते हैं। धोती एवं माला विग्रह को पहना देते हैं।

छोटी आरती के बाद गर्भ गृह के पूर्वी दीवाल पर (पीतल के कटघरे के बाहर) पूजा करने वाली स्त्री पिसी हुई हल्दी चावल एवं कुंकुम में अपने दोनों हाथों को डुबोकर छापे लगती है। इस प्रकार के छायों से पूरी दीवाल भर दी जाती है।

बड़ी आरती के पश्चात् श्रीकृष्ण जन्म काल से कुछ पूर्व मन्दिर के गर्भ गृह को खाली करा दिया जाता है। भण्डारी परिवार सम्पूर्ण पूजा सामग्री के साथ मन्दिर में प्रवेश करता है।

पुरुष देवी जी के चरणों का पञ्चोपचार सामग्री द्वारा पूजा करता है तथा एक बत्ती की आरती बनाकर आरती करता है। इसके पश्चात् झाँकी के सामने एवं अंदर के कटहरे को पूरी तौर से पर्दे से ढक दिया जाता है। अन्दर केवल एक स्त्री ही रहती है। वह स्त्री एकदम गोपनीय रूप से पूजा सम्पन्न करती है। इस पूजा के बारे में कोई जानकारी पूजा करने वाले के अतिरिक्त किसी को नहीं दी जाती है। हृदयराम भण्डारी ने बस इतना ही बताया कि भगवती को यशोदा के घर कृष्ण जन्म के ५ दिन पूर्व उत्पन्न माना जाता है। अतः सर्वप्रथम देवी विन्ध्यवासिनी के जन्म के छठे दिन का पूजन किया जाता है। जिस प्रकार की पूजा किसी व्यक्ति के घर सन्तान उत्पन्न होने के ६ दिन बाद प्रसूतिका गृह में की जाती है कुछ उसी प्रकार की पूजा इस अवसर पर होती है।

देवी जी का षष्ठी पूजन करने के पश्चात् पूजा का स्वरूप एकदम भिन्न हो जाता है। खीरा को श्रीकृष्ण का स्वरूप मान लिया जाता है। जगन्माता विन्ध्यवासिनी के गर्भ से ही श्रीकृष्ण का जन्म कराया जाता है। किसी बालक का जन्म कराने के लिए जो कार्य एक नर्स करती है वही कार्य पूजा करने वाली स्त्री भी करती है।

श्रीकृष्ण का जन्म हो जाने के पश्चात् पर्दा हटा दिया जाता है। तब पुरुष द्वारा १०८ बत्तियों वाली आरती से भगवती विन्ध्यवासिनी की आरती की जाती है।

आरती करने के पश्चात् छापा लगे स्थान पर जाकर पूजिका स्त्री पुनः भूमि पर ही माला फूल नैवेद्य आदि चढ़ा कर कपूर जला कर षष्ठी पूजा का समापन करती है।

अब गर्भ गृह से सभी लोग बाहर आ जाते है। मन्दिर परिसर में स्थित महाकाली एवं सरस्वती का पूजन सामान्य रीति से करते हैं।

इसके बाद पुरुषद्वारा खर्परेश्वर के मन्दिर में स्थित भैरव की विशेष पूजा की जाती है। उन्हें घी मिले सिन्दूर से अनुलिप्त करके माला, रोली फूल आदि चढ़ा कर मद्य एवं उड़द के बड़े का भोग लगाया जाता है। पूजन के पश्चात् भण्डारी परिवार का सदस्य मन्दिर पर किसी स्थान पर बैठकर लड्डू का प्रसाद बाँटता है।

दूसरे दिन कृष्ण रूप में जन्मे फल को गंगा में विसर्जित कर दिया जाता है।

जन्माष्टमी के पूजा के बाद ही भण्डारी परिवार तरोई की सब्जी खाना आरम्भ करता है।

दीपावली–

दीपावली के पर्वक एक विन्ध्याचलीय परम्परा विशेष उल्लेखनीय है– मिठाई पर जुआ खेलना। दीपावली की शाम हलवाई गण अपनी दूकानें सजाकर बैठते हैं। एक व्यक्ति हाथ में कौड़ियाँ लेकर खड़ा होता है। २,५,१० किलोग्राम मिठाई के लिए जुआ खेला जाता है। मिठाई के वास्तविक दाम को जुआरियों की संख्या से विभाजित किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति भजनफल के बराबर रुपया दूकानदार को देता है। इस प्रकार दूकानदार को उसका पूरा पैसा मिल जाता है मिठाई तौल दी जाती है। सभी प्रतिभागी अपना-अपना अंक बोल देते हैं। कौड़ी फेंकी जाती है। जिसका अंक आया उसे बहुत कम पैसे में मिठाइयाँ मिल जाती हैं। जीते हुए व्यक्ति की मिठाइयों मे से २-४ मिठाइयाँ कौड़ी फेंकने वाले सज्जन भी ले लेते है। इसप्रकार जब तक दूकानों में मिठाइयाँ एवं सड़क पर ग्राहक होते है यह क्रम चलता रहता है।

इस दिन स्थानीय धार्मिक पण्डा एवं पण्डित गण विन्ध्यावासिनी की विशेष पूजा करते है। इसे शाक्त सम्प्रदाय का विशेष पर्व भी माना जाता है। कुंछ लोग शाबर मन्त्रों की भी साधना करते हैं। कुछ बाहर से आए हुए साधक गण हवन, चण्डी पाठ आदि करते हैं। यह उपासना क्रम अर्धरात्रि के बाद तक चलता रहता है। दर्शनार्थियों की आवक सामान्य ही होती है।

धर्मशास्त्रों एवं पुराणों में दीपावली पर घर को स्वच्छ किए जाने का विधान किया गया है। पद्म पुराण (६/११४/४) निर्णय सिन्धु (पृ० २९६), कालतत्त्व विवेक एवं भविष्योत्तर पुराण में दीपावली के दिनों में किए जाने वाले कृत्यों का विस्तार से वर्णन है।

दीपावली के उत्सव को कुछ लोग ५ दिनों तक चलने वाला उत्सव मानते हैं। उनके अनुसार धनतेरस से भाई दूज तक के सभी कृत्य दीपावली के ही अन्तर्गत आता है। ललित प्रसाद विद्यार्थी (गया, १९७८) में दीपावली के विषय में एक किंवदन्ती दी है कि राम के आगमन पर अयोध्या वासियों ने इस पर्व को प्रथम बार सारे नगर को दीपको जगमगा कर मनाया था। यद्यपि इसको कोई भी पौराणिक उल्लेख नहीं है। भविष्योत्तर पुराण १४०/७१ का एक श्लिष्ट श्लोक इस बहुधा उद्धृत किया जाता है। इस श्लोक में राम की विजय का एवं दीपदिन का उल्लेख है किन्तु उक्त किंवदन्ती की पुष्टि नहीं है। श्लोक इसप्रकार है—

अपशमित मेघनादं प्रज्वलितदशाननं रमितरामम्।
रामायणमिव सुभगं दीपदिनं हरतु के दुरितम्॥

इस श्लोक में दीपदिन रामायण के साथ उत्प्रेक्षित है। प्रथमार्ध में 'उपशमित मेघनादं' पद का दो विग्रह होता है— १. **उशमिता मेघानां नादाः यस्मिन्** ऐसा दीप-दिन जब वर्षा काल के गरजते मेघों की गर्जना शान्त हो गई हो अर्थात् वर्षा के समापन का अवसर। २. **उपशमितः मेघनादः यस्मिन्** रावण पुत्र दुर्धर्षयोद्धा मेघनाद के बध जहाँ वर्णित हो अर्थात् रामायण। **'प्रज्वलितदशाननं'** का भी दो विग्रह होगा। १. दीप दिन के पक्ष में **प्रज्वलितानि दशानां दीपवर्तीनां आननानि अग्राणि यस्मिन्।** जिसमे दीपकों की वर्तिकाओं के अग्रभाग प्रज्वलित हों। २. रामायण के पक्ष में – **प्रज्वलितः दशाननः रावणः यस्मिन्** – रावण का दाह संस्कार जहाँ वर्णित हो। इसी प्रकार 'रमितरामम्' पद का भी दो विग्रह दोनों पक्षों में होगा। १. रामायण के पक्ष में **रमितः रामः येन** जिस रामायण के द्वारा राम रमित उपासित होते हैं। २. दीप दिन के पक्ष में **रमिताः रामाः युवतयः यस्मिन्** जिस दिन युवतियाँ प्रसन्न होकर रमित होती हों।

इस प्रकार इस श्लोक में रामायण की घटनाओं को श्लेष के माध्यम से दीपदिन के तत्त्वों से साम्य दिखाकर दीप दिन की प्रशंसा की गई है।

भविष्योत्तर १४०/१६-१७ में बुद्ध, चामुण्डा, भैरव के मन्दिरों में नरक चतुर्दशी को दीप दान की बात कही गई है। दीपावली को काल विवेक, राजमार्तण्ड में **सुखरात्रि**, कामसूत्र (१/४/४२) में **यक्षरात्रि**, हेमाद्रि व्र० खं० भाग २ में सुख **सुप्तिका** नाम भी दिया गया है। इस पर्व की प्राचीनता के विषय में विशेष अध्ययन के लिए गङ्गनाथ झा शोध संस्थान की पत्रिका (जिल्द ३, पृ० २०५-२१६) में छपे पी० के० गोण्डे का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख देखना चाहिए।

रक्षाबन्धन

रक्षाबन्धन के दिन अन्य ब्राह्मण वर्ग की भाँति प्राचीन पण्डों का एक दल गंगा के किनारे पर श्रावणी कर्म करता है इसमें युवक वृद्ध सभी शामिल होते हैं। भाट, गोसाईं आदि दूसरे वर्ग के पण्डों को श्रावणी-कर्म करते नहीं देखा जाता। 'श्रावणी' के लिए पण्डा लोग किसी स्थीाय गैर पण्डा ब्राह्मण की सहायता लेते हैं।

उत्तरभारत में व्यापक रूप से मनाए जाने वाले इस त्यौहार के दिन भाई अपने बहन के घर जाकर भोजन करता है। रक्षासूत्र बन्धवाता है तथा बहन को उपहार देता है किन्तु विन्ध्याचल में इसका उल्टा रूप देखा जाता है। बहने स्वयं भाइयों के घर आतीं है। सामान्यत: विन्ध्याचल की लड़कियों की ससुराल विन्ध्याचल में ही है। अत: भाइयों के घर आ जाना आसान होता है किन्तु जो बहनें विन्ध्याचल के बाहर व्याही हैं। उन्हें भी इस परम्परा के कारण विन्ध्याचल स्वयं ही माना पड़ता है।

श्रावण पूर्णिमा के अपराह्ण में भाई को बहनों द्वारा रक्षा बाँधने की प्रथा गुजरात एवं उत्तरप्रदेश के आसपास के क्षेत्रों में अधिक प्रचलित रहा है। धर्म शास्त्रों में पुरोहित द्वारा राजा को रक्षासूत्र बाँधने का विधान है। निर्णय सिन्धु, पुरुषार्थ चिन्तामणि एवं हेमाद्रि व्रत खण्ड भाग २ में इस कृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। भविष्योत्तर पुराण (१३७/१९-२०) में कहा गया है कि राजा को इस दिन देवताओं, ब्राह्मणों आदि का अर्ध्य से सम्मान करे तत्पश्चात् राजपुरोहित राजा को मन्त्रपूर्वक रक्षा बांधे। इसके लिए जो मन्त्र बताया गया है। वही मन्त्र आज भी भी पुरोहित एवं पण्डित लोग बोलते है तथा रक्षा बाँधते है। वह मन्त्र इस प्रकार है-

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबल:।
तेन त्वामभिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल।।

ऐसा भी कहा गया है कि सभी वर्गों को इस दिन पुरोहितों से रक्षा बँधवाकर से दक्षिणा आदि से प्रसन्न करना चाहिए।

विन्ध्याचल के पण्डों के पारिवारिक पुरोहित कन्तित ग्राम में रहते हैं। वे इस अवसर पर लाल पीले रंग के रक्षा सूत्र (जो विन्ध्यावासिनी को प्रत्येक यात्री चढ़ाता है। इसको लोकभाषा में 'कलाई' भी कहते हैं।) लेकर अपने-अपने यजमान पण्डों एवं व्यापारियों के घर जाकर उन्हें रक्षा बांधते हैं तथा उनसे दक्षिणा प्राप्त करते है। ऐसा नहीं है कि जो जिसका पुरोहित हो वही उसे रक्षा बाँधेगा। एक व्यक्ति को एक से अधिक पुरोहित रक्षा बांधते है तथा दक्षिणा प्राप्त करते हैं।

देवीजयन्ती –

भाद्रपद कृष्ण द्वितीया को नन्दगोपगृहोत्पन्ना रूप में श्री विन्ध्यवासिनी का जन्मोत्सव होता है। इस दिन पण्डे एवं अन्य नागरिक देवी के प्रधान मन्दिर का पूजन, करते हैं। रातभर उच्च कोटि के संगीतज्ञों का सांस्कृतिक कार्यक्रम चलता है।

कजरी–

भाद्रपद कृष्ण तृतीया के दिन विन्ध्याचल में जो त्यौहार मनाया जाता है। उसका नाम है 'कजरी'। इस त्यौहार की उत्पत्ति विन्ध्याचल में ही हुई है। यह पूर्ण रूप से क्षेत्रीय त्यौहार है। मीरजापुर एवं बनारस एवं मध्यप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में भी यह मनाया जाता है। विन्ध्याचल के निकट पुण्यौघा (ओझला) नदी के किनारे १९०० ई० में पी० विण्ढम नामक कलक्टर ने एक क्षेत्रीय मेले के आयोजन की शुरुआत भी की थी। जिसमें कई तरह के खेलों का आयोजन होता था जिसमें आसपास के युवकगण भाग लेते थे एवं कलक्टर द्वारा पुरस्कृत होते थे। ओझला पुल की सीमा की मीनार पर से (२००फीट की ऊँचाई से) नदी में छलाङ् लगाना, इक्का गाड़ी की दौड़, कुश्ती होती थी तथा लकड़ी के २०' की ढालू ऊँचाई लकड़ी के पटरे से (बच्चों के सूट की तरह) बनाकर उसपर सुअर की पिघली हुई चर्बी डालकर चिकना बनाया जाता था इसके ऊपरी सिरे पर ईनाम की वस्तुएं बर्तन आदि रख कर प्रतियोगियों से कहा जाता था कि वे नंगे पाँव फिसलन वाले पटरे पर ऊपर तक जाएँ और ईनाम की वस्तु ले लें, २००' ऊँचाई से नदी में बर्तन नदी में फेंका जाता था। प्रतियोगी उसी बर्तन के साथ नदी भी कूदते थे यदि बर्तन पा गए तो वह उनका ईनाम हो जाता था। इस प्रकार के रोमाञ्चक खेल दिनभर खेला जाता था। धीरे धीरे इस प्रकार के खेलों से युवकों की रुचि उत्साहवर्धक परिवेश एवं जीवनचर्या न होने के कारण कम हो गया तथा १९८५ में जिलाधीश ने राजकोश का अपव्यय मानकर मेले का आयोजन बंद कर दिया।

इसके पूर्व विन्ध्याचल एवं आसपास के गाँवों की स्त्रियाँ मिट्टी के बर्तन में पटिङ रानाला से मिट्टी लाकर जौ बोती हैं जो कजरी के दिन एक फुट के पौधो के रूप में बढ़ चुके होते हैं। स्थानीय कुम्हारों से मिट्टी के छोटे छोटे हाथी घोड़े ऊँट बर्तन आदि सारी ऐश्वर्य सामग्री प्रतीक के रूप में सभी पण्डों की स्त्रियाँ बनवाती हैं। उसे एक मिट्टी की हाँडी में रखकर उसका मुँह मिट्टी से बन्द कर दिया जाता है। कजरी के दिन भोर में सारी स्त्रियाँ जौ के पौधों वाले बर्तन तथा एक हाँडी को लेकर विन्ध्याचल के पश्चिम ओर शिवपुर में स्थित 'कजरहवा तालाब' की ओर जाती है। साथ में अपने भाई को भी ले जाती है। रास्ते में चौराहे पर उस हाँडी को रख देती है तथा भाई डण्डे के एक वार से उस

हाँडी को फोड़ता है। इसके बाद भाई वापस आ जाता है। यह कार्य सम्भवतः इस बात का परिचायक होता है कि भाई ने अपनी बहन के लिए ऐश्वर्य के सभी साधनों की प्राप्ति की बाधाएँ दूर कर उसे उद्घाटित कर दिया है। इसके बाद स्त्रियाँ शिवपुर ग्राम में स्थित 'कजरहवा तालाब' जाकर स्नान करती है एवं पौधो को मिट्टी समेत लेकर डुबकी लगाकर उसकी मिट्टी धो देती है। उन पौधो को लाकर अपने भाइयों की शिखाओं में बांधती हैं। यह पौधा भाईयों के लिए अत्यन्त शुभ एवं पवित्र वस्तु होती है। उसे सूखने पर वे किसी अपवित्र जगह न फेंक कर उसे गंगाजी में प्रवाहित कर देते हैं। इसके बाद स्त्रियाँ हाथों में मेंहदी लगाकर, कजरी गीत गातीं है; तथा कुछ घरों में लगे हुए नीम आदि के पेड़ों पर झूला डाल कर झूलती हैं। तथा दिनभर भाई के घर ही रहतीं है।

अब इस परम्परा में कुछ लोगों ने स्वयंभू परिष्कार कर दिया है। तथा कजरहवा तालाब के रख रखाव में शासकीय उपेक्षा एवं गंदगी के कारण अपने घर की स्त्रियों को गंगा जी में स्नान करने की सलाह दे रखी है।

मोतीचन्द्र (काशीका इतिहास) इस त्यौहार की उत्पत्ति मीरजापुर के ही आस पास मानते है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में अहल्या कामधेनु (२७) एवं निर्णय सिन्धु में इस त्योहार की चर्चा है। निर्णय सिन्धु (१२३ पृ०) में कहा गया है कि भाद्रपद कृष्ण तृतीया (पूर्णिमान्त से गणना) को विष्णु की पूजा करके इस व्रत को किया जाता है। अहल्या कामधेनु इसे श्रावण कृष्ण तृतीया को सम्पादित करने की बात बताता है। किन्तु विन्ध्याचल की कजरी में इन मध्यकालिक निबन्धों की कोई बात नहीं दिखाई देती।

कजली की उत्पत्ति एवं इसके नामकरण के विषय में पर्याप्त मतभेद है। निर्णय सिन्धु इस त्योहार को मध्य प्रदेश में अधिक प्रचलित बताता है। कुछ लोग कजली शब्द की उत्पत्ति मध्य प्रदेश की कज्जलादेवी से मानते हैं। इस देवी की पूजा बरसात के महीनों में प्रत्येक सोम एवं रवि को होती है। ऐसी सम्भावना व्यक्त की जाती है कि इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतो का नामकरण कज्जला देवी के कारण ही कजली हुआ होगा। किन्तु कजली गीतों की अपनी अलग विद्या है जो मध्यप्रदेश के लोक गीतों में नहीं है। यह माना जा चुका है कि कजली मीरजापुर की ही देन है (मीरजापुर गजेटियर देखें)।

माना जाता है कि कज्जला देवी काली या विन्ध्यवासिनी का पर्याय है। स्थानीय जनों द्वारा जिन गीतों की रचना उनकी आराधना के लिए किया गया वे ही कजली गीत कहलाए। प्रत्येक वर्ष कृष्णजन्माष्टमी को विन्ध्यवासिनी मन्दिर पर कजली गीत की प्रतियोगिता होती है। इसमें मीरजापुर एवं आस पास के कजली गायक आकर अपने गीतों के माध्यम से देवी की आराधना करते हैं। मन्दिर पर कजली गायन का आरम्भ ज्येष्ठ

कृष्ण एकादशी से आरम्भ होकर वर्षा के अन्त तक होती थी। भाद्रपद कृष्ण द्वितीया को विन्ध्यवासिनीजयन्ती मनाया जाता है उस रात जागरण करके रातभर महिलाएँ कजरी गीत गाती है तथा भोर में अन्य जई आदि का कृत्य करती हैं। विन्ध्यवासिनी मन्दिर की झाँकी से कज्जली का टीका लगाने कज्जली ले जाने की परम्परा भी इसके साथ जोड़ी जाती है। इस प्रकार अत्यधिक पुष्ट परम्परा होने के कारण कज्जली के त्योहार की उत्पत्ति विन्ध्याचल ही माना गया है (देखें– मीरजापुर नगर पालिका के एक सौ पाँच वर्ष पृ० ३८)।

कजली गीत गायकों के विन्ध्याचल एवं मीरजापुर में अनेक अखाड़े (मण्डलियाँ) हैं। इनमें 'शाहर' (शायर) गुरु रहते हैं जो कजलियाँ बना कर उनकी धुनें बनाकर मधुरकण्ठ के शौकिया गायकों को गाने के लिए देते है। उस रीति से गाने वाले सभी गायक उस अखाड़े के सदस्य माने जाते है। इस पर्व पर हिन्दू मुसलमान एक ही स्वर में पूरी आस्था के साथ गीत में शामिल होते है। इस समय मीरजापुर में कजली के आठ अखाड़े मान्य हैं–

१. पण्डित शिवदास का अखाड़ा– इसमें ४०० से अधिक गायक हैं। इस अखाड़े के गीतों में वियोग शृंगार एवं भक्ति के गीत अधिक है। जो सभी देवी देवताओं से सम्बद्ध हैं।

२. इमामन का अखाड़ा– यह बहुत पुराना माना जाता है। इसमें ठाकुर एवं ब्राह्मण जाति के लोग भी शामिल है। इस अखाड़े के गीतों में शृंगार की प्रधानता है।

३. जहाँगीर का अखाड़ा– इसमें विन्ध्याचल के कई पण्डे एवं अन्य जाति के लोग इसमें शामिल है। मन्दिर पर प्रत्येक जन्माष्टमी को यह अखाड़ा एक पक्ष के रूप में बैठता है।

४. भैरो का अखाड़ा– निर्गुण गीतों के लिए जाना जाता है।

५. बक्फत का अखाड़ा अब समाप्त प्रायः हो चुका है।

६. मूरत ठेलावाले का अखाड़ा– यह अखाड़ा ठेला खींचने वालों के मध्य विकसित हुआ था।

७. अक्खड़ का अखाड़ा– अपने मनोरञ्जक गीतों के लिए प्रसिद्ध था।

८. वैरागी का अखाड़ा– विन्ध्याचल में यह अखाड़ा जन्माष्टमी की प्रतियोगिता

में दूसरा पक्ष होता है। इसमें पुराण की कथाओं पर आधारित गीत शृंगार एवं भक्तिपरक गीत अधिक गाए जाते है। इस अखाड़े में विन्ध्याचल के सभी जातियों के लोग शामिल हैं।

हल षष्ठी (ललही छठ)

निर्णयसिन्धु में भाद्रपद कृष्ण ६ को हलषष्ठी कहा गया है। इस दिन विन्ध्याचल के सभी नागरिक विशेष रूप से पण्डागण सपरिवार, शिवपुर के पास ऊंचाई पर स्थित षष्ठी देवी के पूजन के लिए जाते हैं। नव विवाहित पण्डा दम्पति के लिए यह आवश्यक होता है कि वे विवाह के बाद पड़ने वाले प्रथम हल षष्ठी के दिन विशेष पूजन सामग्री एवं शहनाई बाजा के साथ सपत्नीक घर से पैदल षष्ठी देवी का पूजन करने जाएँ। षष्ठी देवी का कोई मन्दिर वहाँ निर्मित नहीं है। तथापि उस मूर्ति का शृंगार वस्त्र पुष्पादि से किया जाता है तथा सभी लोग श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक वहाँ जाकर पूजा करते हैं।

विन्ध्याचल का एक पण्डा इस दिन पुजारी के दायित्व को वहन करता हैं। वहाँ की चढ़ोत्तरी पर उनका ही पारम्परिक अधिकार है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण (२/४३/३-७२) में षष्ठी देवी का विशद वर्णन है। देवी को बच्चों की रक्षिका माना गया है। मातृकाओं में ये देवसेना हैं। इन्हें मङ्गलाचण्डी एवं मनसा का अंश कहा गया है। स्कन्द की पत्नी के रूप में इनकी प्रतिष्ठा है। ये बच्चों को आपत्तियों से बचाकर उन्हें दीर्घ जीवन देती है। ब्रह्मवैवर्त में सूतिकागृह में बालक के जन्म के छठे दिन षष्ठी देवी की पूजा की कथा कही गई है।

हल षष्ठी के दिन षष्ठी देवी के पूजन की कथा का उल्लेख नही है। तथापि पूर्वी उत्तर प्रदेश की नारियाँ इस दिन षष्ठी देवी का पूजन समूह बनाकर करती है। विन्ध्याचल मे पूर्वाह्न में परम्परागत रूप से नारियाँ षष्ठी देवी का पूजन करती है। यह पूजा किसी मूर्ति की नहीं होती अपितु भूमिपर कुण्ड खोदकर उसमें कुश महुआ के पत्ते एवं जल डाला जाता है। स्त्रियाँ एकत्र होकर अपने पुत्रों की संख्या की ६ गुनी मिट्टी की कटोरियाँ लेकर उनमें महुआ के फूल, कटे फल, दही, सूखासिंघाड़ा, मेवे, सूखा नारियल आदि भरकर, पान सुपाड़ी एवं बीड़ा पान ६ प्रकार के फल सभी बच्चों के लिए नए वस्त्र खिलौने बेसन के लड्डू कुण्ड में षष्ठी देवी का ध्यान करते हुए अर्पित करती है। उस कुण्ड से महुआ का प्रसाद ग्रहण करती है। उसके बाद कुण्ड के चारों ओर बैठ कर ६ कहानियाँ सुनाती है इन कहानियों में पार्वती द्वारा बच्चों की रक्षा आदि का ही वर्णन होता है। घर लौट कर अपने बच्चों को वस्त्र एवं खिलौने देती है। वयस्क बच्चों के लिए भी खिलौने चढ़ाकर दिया जाता है। ये वस्त्र एवं खिलौने बच्चों के लिए बड़े ही शुभ माने जाते है। सारा कृत्य

स्त्रियाँ व्रत रह कर करती है। इस पूजा में महुआ का प्राधान्य होता है। व्रत में कोई भी मीठी चीज (महुआ को छोड़कर) नहीं खाई जाती। केवल भैंस के दूध एवं दुग्ध पदार्थों का प्रयोग होता है। कृषिजन्य कोई अन्न नहीं प्रयुक्त होता। पूजन सामग्री में भी वनशालि (तिन्नी का चावल) सिंहाड़ा आदि स्वत: उत्पन्न होने वाले फलों का ही प्रयोग होता है। यदि किसी के घर शादी हो या पुत्र उत्पन्न हो तो ६ कटोरियाँ अधिक चढ़ाई जाती हैं।

कटोरियों की संख्या में विन्ध्याचल एवं अन्य स्थानों की परम्पराओं में भेद है अन्य कुछ स्थानों पर प्रति पुत्र १२ कटोरियाँ ली जाती है। किन्तु सम्भवत: षष्ठी देवी के नाम एवं षष्ठ संख्या में साम्य के कारण ६ कटोरियों की परम्परा अधिक उचित है।

'हल षष्ठी' में हल शब्द का प्रयोग सम्भवत: निषेधात्मक अर्थ में प्रयोग किया गया है क्योंकि बताया गया है कि ऐसा कोई द्रव्य जिसके उत्पादन में हल का प्रयोग किया जाता है; इस व्रत में नहीं प्रयुक्त होता। हल का वृषभ के साथ सम्बन्ध होने के कारण गो दुग्ध एवं दुग्ध पदार्थ की भी पूर्ण वर्जना रहती है।

कनिंघम ने शिवपुर में रामेश्वर मन्दिर के पास संकटा देवी के नामसे पूजी जाने वाली देवी को षष्ठी देवी बताया है। फुहरार ने इस मूर्ति को महावीर तीर्थंकर की माता त्रिशला बताया है (देखें– हिन्दी विश्वकोश- विन्ध्याचल)। किन्तु विन्ध्याचल का पारम्परिक षष्ठी देवी का मेला आनन्दमयी माता के आश्रम के पास एक पेड़ के नीचे रखी हुई मूर्ति के पास ही होता है।

अनन्तचतुर्दशी: मंगलागौरी का पूजन

विन्ध्याचल से ३ किलोमीटर पश्चिम मंगराही नामक स्थान है जो सम्भवत: 'मंगला हरि' का बदला हुआ रूप है। अनन्त चतुर्दशी (भाद्रपद शुक्ल १४) के दिन विन्ध्याचल के पण्डे एवं आसपास के नागरिक वहाँ स्थित विष्णु एवं मंगलागौरी का विधिवत् शृंगार पूजा करते है। इस पूजा एवं उस मन्दिर की चढ़ोत्तरी आदि का अधिकार एक महाराष्ट्री ब्राह्मण परिवार को है। विष्णु की यह पूजा विन्ध्याचल के पण्डों एवं दूकानदारों के सहयोग से होती थी। मंगराही मन्दिर में प्रतिष्ठित विष्णु मूर्ति बदरीनाथ की मूर्ति की प्रतिकृति थी। कुछ वर्षों पूर्व यह दुर्लभ मूर्ति चोरी हो गई तथा चोर पकड़ा नहीं जा सका है।

दोपहर बाद से शृंगार करने वाली मण्डली वहाँ पहुंच कर तैयारियाँ आरम्भ कर देती थी। उनके वस्त्राभूषण (सोने चाँदी के नहीं) ले जाया जाता। शाम को पूजा आरती होती। क्षेत्रीय दर्शनार्थी जुटते। भजन कीर्तन का कार्यक्रम होता। पेड़े मिठाइयों माला आदि

की एक दिवसीय दूकाने सजतीं आस पास के सुन्दर झरनों में लोग स्नान करके दर्शन करने आते तथा देर रात तक रहने के बाद लौटते। पुजारी रातभर रहकर वस्त्राभूषण लेकर लौटते थे।

कुछ वर्षों पूर्व तक मन्दिर पक्का घाट मार्ग पर स्थित श्री **जगन यादव** की दूकान पर एक सन्दूक रखी जाती थी। पण्डागण स्वेच्छा से उसमें दान दिया करते थे। अनन्त चतुर्दशी को सन्दूकची खोली जाती। श्री जगन यादव कुछ द्रव्य स्वयं मिलाकर पूजन सामग्री की तैयारी करते। श्री जगन यादव के मरणोपरान्त श्री विनोदपाण्डेय (पण्डा) इस परम्परा को चलाते रहे। अब सन्दूक रखकर सालभर चन्दा इकट्ठा करने की परम्परा नहीं है।

विष्णु मूर्ति चोरी के बाद केवल मङ्गलागौरी की मूर्ति उस स्थल पर बची है। मगराही में प्रतिष्ठित विष्णु मूर्ति का लघु संस्करण बनवाकर महाराष्ट्री ब्राह्मण परिवार के पूर्वजो ने अपने पास पूजा के लिए रखा है। उस मूर्ति को देखने से भगवान विष्णु की उस आदमकद मूर्ति की कल्पना की जा सकती है।

यद्यपि अनन्त चतुर्दशी व्यक्तिगत पूजावाले व्रतों की श्रेणी में आता है जिसमें हरि की अनन्त के रूप में पूजा करते हैं। यह सामाजिक या धार्मिक उत्सव के रूप में सामूहिक रूप से नहीं मनाया जाता बल्कि पुरुष दाएँ हाथ में नारियाँ बाएँ हाथ में सूत या रेशम के बने १४ गाँठो वाले विशेष धागे को पहनते हैं। यह कृत्य सभी लोग अपने अपने घर में ही करते है। तथापि विन्ध्याचल में यह पर्व सामाजिक धार्मिक उत्सव का रूप धारण कर लेता है। वर्षा काल में बहते हुए कई छोटे छोटे झरनों से घिरे मंगराही के मन्दिर के आस-पास दोपहर बाद से रात १२ बजे तक खूब चहल पहल रहती है। विन्ध्याचल, शिवपुर, बिरोही आदि नजदीकी गाँवों के भक्त नागरिक दर्शनार्थ वहाँ जुटते हैं। खूब आनन्द एवं उल्लास के वातावरण में वह संध्या व्यतीत की जाती है।

अग्नि पुराण १९२/७-१० एवं हेमाद्रि व्रतखण्ड भाग २, में इस व्रत का विवरण है। हेमाद्रि में इसके सम्बन्ध में एक कथा का भी उल्लेख है। कृष्ण ने युधिष्ठिर को कौण्डिन्य एवं उसकी स्त्री शीला की कथा सुनाई थी। कृष्ण का कथन है कि अनन्त उनका एक रूप भेद है। वे काल है अतः उन्हें अनन्त संज्ञा दी जाती है। इस दिन चन्दन, धूप, पुष्प, नैवेद्य से उनका पूजन होना चाहिए। वर्षक्रियाकौमुदी, तिथितत्त्व आदि धर्मग्रन्थों में भी इस व्रत के विधान प्राप्त है।

हरितालिका तीज

भाद्रपद शुक्ल तृतीया को बंगाल, गुजरात के अतिरिक्त पूरे उत्तर भारत में · स्त्रियों

के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्रत माना जाता है। यद्यपि प्राचीन मध्यकालिक निबन्धों में इस का उल्लेख नहीं है। किन्तु परवर्ती निबन्धों व्रतार्क, व्रतराज, निर्णयसिन्धु आदि में इसका वर्णन है। इस व्रत में अहर्निश निर्जल रहकर स्त्रियाँ पार्वती का ध्यान एवं पूजन करती हैं। यद्यपि सामान्य रूप से विवाहिता स्त्रियों का व्रत है किन्तु कुछ कुमारियाँ भी अच्छे वर की इच्छा से इस व्रत को करतीं है। वराह पुराण अध्याय २२ एवं कुमार सम्भव में शिव पार्वती विवाह की लम्बी कथा का वर्णन है। शिव की प्राप्ति के लिए पार्वती की सफल किन्तु कठोर तपस्या की अनुस्मृति में सम्भवत: इस व्रत का प्रचलन हुआ। इस व्रत का नाम 'हरितालिका' है। इस नाम के विषय में पी० वी० काणे (ध० शा० का इति० भाग० ४ पृ० ५९ पाद टिप्पणी) ने लिखा है कि 'ऐसी कल्पना करना सम्भव है कि पार्वती की प्रतिमा हरिताल से पीले रंग में रंगी जाती थी और इसी से 'हरितालिका' नाम पड़ा' किन्तु हरितालिका को प्रतिमा रंगने की परम्परा का उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। सम्भव है कि पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न शिव को वास्तविक रूप में देखकर लज्जित पार्वती को सखियों द्वारा हटाए जाने की कथा में ही इन नाम का मूल हो। व्रतराज में हरितालिका नाम की निरुक्ति भी इसी प्रकार का संकेत देती है– **आलिभिर्हरित्ता यस्मात् तस्मात् सा हरितालिका।** इस व्रत में नारियाँ शृंगार करके, नवीन वस्त्र धारण करके पूजन करतीं है तथा दूसरे दिन पारणा करती है।

विन्ध्याचल में इस व्रत में दो विशेष परम्पराएँ प्रचलित है। प्रथम प्रत्येक विवाहिता स्त्री को मायके एवं ससुराल दोनों घरों से नई साड़ी श्रृंगार सामग्री आदि अपरिहार्य रूप से दी जाती हैं। विन्ध्याचल की सभी स्त्रियाँ (पण्डों की अशेष रूप से एवं कुछ अन्य वर्गों की भी) शाम को पूर्ण शृंगार करके भगवती विन्ध्यवासिनी का पूजन करतीं हैं। तत्पश्चात् विन्ध्येश्वर शिव मन्दिर में सभी कुमारियाँ एवं विवाहिताएँ शिवपूजन करतीं है। यद्यपि इस क्षेत्र में शिव के अनेक मन्दिर हैं।

दूसरी परम्परा यह है कि व्रत के दूसरे दिन सभी विवाहिताओं के मायके से भोर में ही पारणा के लिए गुलगुला एवं जलेबी आता है। स्त्रियाँ ५ चने निगल कर व्रत तोड़ती है, तथा (मैंदे का बना हुआ, घी में तलकर चीनी में पगा हुआ) गुलगुला एवं जलेबी खातीं है। अधिकांश पण्डों की शादी विन्ध्याचल में आपस में ही हुई है। अत: सुबह ५ बजे से ही पत्ते के दोने में गरम गरम गुलगुला जलेबी एक दूसरे के घर ले जाते हुए व्यक्तियों का आवागमन दिखाई देने लगता है।

भैरव अष्टमी

अगहन कृष्ण अष्टमी को विन्ध्याचल में स्थित सभी प्राचीन भैरव मन्दिरों में भैरव का शृंगार किया जाता है। विन्ध्याचल के नागरिक भैरव के मन्दिरों में शृंगार पूजा के लिए सामूहिक सहयोग करते है।

भैरव मन्दिरों में विन्ध्याचल थाने के पास के भैरवमन्दिर, विन्ध्याचल से एक किलोमीटर दूर नागकूप के पास स्थित 'भैरो मन्दिर' एवं ५ कि०मी० दक्षिण स्थित टोकिया स्थान के 'भैरो मन्दिर' की पूजा को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इस दिन विन्ध्याचल के पुरुष पण्डागण इन सभी मन्दिरों में जाकर दर्शन पूजन करने का प्रयत्न करते है। इनमें नागकूप के पास वाले मन्दिर को छोड़कर अन्य मन्दिरों के पुजारी विन्ध्याचल के गोसाई पण्डा ही होते है। नागकूप के पास वाले भैरव मन्दिर में अलखी सम्प्रदाय का अधिकार है तथा वहाँ के पुजारी की नियुक्ति उन्हीं के महन्थों द्वारा किया जाता है।

इस व्रत को कुछ लोग उपवास रहकर तथा भैरव की आराधना करके भी मनाते है। धर्मशास्त्रों में व्रतकोश (३१६-३१७) एवं वर्ष क्रियादीपक (पृ० १०६) में इसका उल्लेख काल भैरवाष्टमी के नाम से किया गया है। इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ चिन्तामणि, समयमयूरव एवं स्मृति कौस्तुभ में कालाष्टमी का उल्लेख प्राप्त होता है जो कार्तिक कृष्ण अष्टमी को मनाया जाता है। कालाष्टमी व्रत काशी के लिए अपरिहार्य बताया जाता है।

नागपञ्चमी

श्रावण शुक्ल पंचमी को यह त्यौहार पूरे भारत में विभिन्न तरीकों से मनाया जाता है। हिन्दू धार्मिक परम्परा में यह दिन अत्यन्त शुभ माना जाता है। विन्ध्याचल में यह दिन युवकों के लिए विशेष उत्साह का होता है। इस दिन नाग पूजा आदि के अतिरिक्त विन्ध्याचल के सभी अखाड़ों (व्यायामशालाओं) में हनुमान की पूजा की जाती है। इसके पूर्व अखाड़े की गोड़ाई की जाती है। हनुमान-पूजा के बाद अखाड़े का उस्ताद अखाड़े की परिक्रमा करके अखाड़े में बीचो-बीच अगरबत्तियाँ गाड़ता है तथा किनारे आ जाता है। सभी उपस्थित लोग हर्षध्वनि करते है। प्रसाद वितरण होता है। इसके पश्चात् पहले कुछ बुजुर्ग कुश्ती का प्रदर्शन करते हुए हनुमान जी को अपनी श्रद्धा समर्पित करते है। तदनन्तंर युवाओं की कुश्ती शुरु होती है।

नागपञ्चमी नागों के पूजन का त्यौहार है। तथा अत्यन्त प्राचीन है। कृत्य कल्पतरु व्रतखण्ड एवं हेमाद्रि व्रत खं० भाग १ में कहा गया है कि इस दिन वासुकि, तक्षक, कालिय, मणिभद्र, ऐरावत, घृतराष्ट्र, कार्कोटक एवं धनञ्जय को दूध से स्नान कराने पर वे पूरे कुटुम्ब को अभय दान देते है। आश्वलायन गृह्यसूत्र २/१/१-१५ एवं पारस्कर गृह्य सूत्र २/१४ में श्रावण पूर्णिमा को नागबलिकृत्य किये जाने का वर्णन है। पूर्णिमा तिथि पञ्चमी में कैसे परिवर्तित हुई यह अस्पष्ट है। कुछ विद्वानों का मत है कि विषुवत् पर प्रथम वर्षा के समय में परिवर्तन के कारण ऐसा हुआ होगा।

वामन द्वादशी

विन्ध्याचल परिक्षेत्र के पूर्वी भाग में ओझला के निकट गंगा तट पर वामन विष्णु का एक प्राचीन मन्दिर है। भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन इनकी वार्षिक पूजा की जाती है। इस मन्दिर का अधिकारी विन्ध्याचल का ही एक पण्डा है। वामन विष्णु का पूजन शृंगार यही पण्डा परिवार करता है। विन्ध्याचल एवं आसपास के क्षेत्र के सभी नागरिक विष्णु का दर्शन करने जाते है। दर्शन के पूर्व पण्डे एवं नागरिक सपरिवार ओझला एवं गंगा के संगम तट पर स्नान करते हैं स्नान करके मन्दिर में दर्शन करने के लिए प्रवेश करते हैं। इस दिन इस स्थल पर एक छोटे से बाजार का दृश्य दिखाई देता है।

इस पर्व को कुछ धर्मशास्त्र ग्रन्थों में विजयाद्वादशी भी कहा गया है। भागवत महापुराण के आठवे स्कंध के १७ से २३ अध्यायों में इस पर्व का वर्णन है। भागवत का कथन है कि भगवान् वामन श्रावण मास के श्रवण नक्षत्र से युक्त अभिजित मूहूर्त वाली विजयाद्वादशी को प्रकट हुए थे। हेमाद्रिव्रत खण्ड १ पृ० ११३८-११४५ में भविष्योत्तर पुराण के उद्धरणों द्वारा इस व्रत की महिमा वर्णन है। इसके अनुसार वामन भाद्रपद शुक्ल १२ को मध्याह्न में प्रकट हुए थे। इसदिन भी श्रवण नक्षत्र था।

कुछ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में चैत्र शुक्ल द्वादशी को भी वामन द्वादशी के नाम से उल्लिखित किया गया है। उदाहरार्ण वराह पुराण (४३/१-१६) स्मृति कौस्तुम (२४९-२५०) वर्षक्रिया कौमुदी (३२०-३२१) आदि ग्रन्थ देखे जा सकते हैं। निर्णय सिन्धु (१४०-१४१) में एकादशी को वामनावतार मानने वालों धर्मशास्त्रकारों का मत भी उद्धृत किया गया है। विन्ध्याचल की परम्पराओं में भविष्योत्तर पुराण की व्यवस्थानुसार भाद पद शुक्ल द्वादशी को वामन द्वादशी मानकर व्यवहार किया जाता है।

विन्ध्यमाहात्म्य (अध्याय २४) पुण्यौघा (ओझला) एवं गंगा के संगम की महिमा का वर्णन करते हुए, (अ० २५) वही पर स्थित वामन भगवान के इस वार्षिकोत्सव का वर्णन करता है। विन्ध्यमाहात्म्य का वचन है कि भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को यदि श्रवण नक्षत्र मिले तब व्रत करना चाहिए यदि श्रवण नक्षत्र द्वादशी के स्थान पर एकादशी को मिले तब व्रत एकादशी को ही होगा। (२५/११-१२)। अपने इस मत की पुष्टि करने के लिए ग्रन्थ-कार नारदीय पुराण के मत को उद्धृत करते है–

नारदीये पुराणेऽपि इदं प्रोक्तं महत्तया।

एकादश्यां व्रतं कार्यं हित्वा तां द्वादशीं शुभाम्।

एकादशी तदोपोष्या पापघ्नी श्रवणान्विता।
प्रधानं श्रवणं यस्मादुक्तं सर्वैर्मुनीश्वरैः॥ (२५/१३-१४)

वि० महा० कार इस पर्व को जन्माष्टमी की भाँति नक्षत्र प्रधान मानते हैं। तथा बलपूर्वक श्रवण नक्षत्र का समर्थन करते है। ग्रन्थ कर का मत है कि यदि श्रवण नक्षत्र से युक्त एकादशी यदि दशमी से विद्धा हो तब भी एकादशी को ही व्रत करना चाहिए यद्यपि दशमी युक्त एकादशी व्रत के लिए वर्णित है तथापि श्रवण युक्त हांने पर वह मंगल कारिणी हो जाती है। अत: द्वादशी के स्थान पर दशमी से विद्ध होने के दोष से युक्त होने पर भी श्रवण युक्ता एकादशी ही श्रेष्ठ है–

विद्धापि या दशम्यात्रैकादशी तु यदा भवेत्।
सैवोपोष्या न तु द्वादशी सर्वकामदा॥

दशम्येकादशी यत्र सा नोपोष्यातिथिः।
श्रवणेन तु संयुक्ता सा शुभा सर्वकामदा॥ (२५/१५-१६)

यदि इस दिन सोमवार हो तो इस पर्व का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। सोमवार को वामनजयन्ती पर्व होने पर सभी कामनाओं को पूर्ण करती है। (२५/१७-१८) विन्ध्याचल की परम्परा विन्ध्य माहात्म्य एवं भविष्योत्तर पुराण की परम्परा का अनुमोदन करती है।

विन्ध्य माहात्म्य (२५/२३-२५) में पुण्यौघ गंगा संगम पर स्नान, तर्पण, वामन पूजा के पश्चात् ब्राह्मण को दही भात पूर्ण घट वस्त्र छतरी जूते दान देने का विधान भी है। विन्ध्याचल के अधिकांश पण्डों की स्त्रियाँ इस दिन जल से भरा घट छाता चावल एवं दक्षिणा द्रव्य का दान करतीं है। इन दान दातायों में अधिकांश को इस सम्बन्ध में विन्ध्यमाहात्म्य के वचन का ज्ञान नहीं है। वे अपने पूर्वजों से चली आ रही परम्परा के अनुपालन में यह दान करतीं है।

गणेश-पूजा

विन्ध्याचल परिक्षेत्र के पंच क्रोशी (विं० महा० अ० ३८-४१) के अन्तर्गत सप्तसागर नामक पवित्र तालाब है। यह तालाब विन्ध्याचल से लगभग ५ कि०मी० दक्षिण में एक निर्जन वन्य प्रदेश में स्थित है। इस तालाब का परिसर भग्न है। उसके भग्न परिसर

को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी यह तालाब बहुत ही सुन्दर रीति से बनाया गया होगा। तालाब के चारों ओर पत्थर की टूटी हुई दीवारें है।

इस तालाब के पास गणेश का एक छोटा सा मन्दिर है। आश्विन कृष्णपक्ष की चतुर्थी को गणेश का वार्षिक पूजन होता है। इस पूजन का उत्तरदायित्व परम्परागत रूप से विन्ध्याचल के पण्डों पर है। विन्ध्याचल के गोसाई वर्ग के एक परिवार का इस गणेश मन्दिर पर पारम्परिक रूप से अधिकार है। वही परिवार इस दिन गणपति का पूजन शृंगार करता है तथा वहाँ चढ़ोत्तरी पाता है। इस मन्दिर के फाटक वर्ष में केवल इसी एक दिन खुलते हैं शेष दिनों में इसके दरवाजे मूर्ति की सुरक्षा की दृष्टि से बन्द रहते है।

सप्तसागर तालाब के निकट ही एक प्राचीन भव्य मन्दिर का ध्वंसावशेष है। इसे पुरातत्त्व विभाग (लखनऊ) द्वारा १९५५ ई० ने संरक्षित पुरातत्त्व सामग्री घोषित किया गया है। यह मन्दिर किस देवता का है यह कहना अत्यन्त कठिन है। स्थानीय लोग बताते है कि ४० एवं ५० के दशकों में उन लोगों ने मानव जीवन की सारी गतिविधियों को दर्शाने कली सैकड़ों मूर्तियाँ इस ध्वस्त मन्दिर के आस पास देखीं थीं।

गणेश पूजा के दिन सभी लोग तालाब के जल से पितरों को तर्पण देने के निमित्त इस मेले में जाते है। यद्यपि इस पवित्रकुण्ड के जल से पितरों को तर्पण देने का कोई धर्म शास्त्रीय साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है।

इस मेले में ग्रामीण स्तर के सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। विन्ध्याचल के शताधिक नवयुवक एवं प्रौढ़ पण्डे इस दिन सैर सपाटे के कार्यक्रम बनाकर भी जाते है। आसपास के गांवों के युवकों की कुश्ती प्रतियोगिता होती है। विन्ध्यचल के सम्मानित पण्डे जीतने वाले युवकों को पुरस्कार भी देते हैं।

इस दिन देर रात तक उस निर्जन वन में चहल पहल गीत-संगीत एवं आनन्द का वातावरण रहता है।

सीता-कुण्ड यात्रा

आश्विन कृष्ण पक्ष की सभी तिथियों को सीताकुण्ड की धार्मिकयात्रा के लिए उचित माना जाता है। विन्ध्याचल के लगभग सभी नागरिक मुख्यतः पण्डा परिवार अपनी सुविधनुसार सीताकुण्ड जाकर पूरे दिन वास करता है। सीताकुण्ड के जल का सेवन करता है स्नान करता है। इस प्रकार सीताकुण्ड का यह पर्व पूरे पक्ष भर चलता रहता है। विन्ध्य

माहात्म्य में कहा गया है कि भगवती सीता ने पुष्कर आदि सभी तीर्थों का आवाहन करके अपने इस कुण्ड में स्थित किया है–

सर्वतीर्थानि पुण्यानि पुष्कराद्यानि भूतले।
सीतयावाह्य सर्वाणि स्थापितानि स्वकुण्डके।। ३१/४१

अतः इस कुण्ड में स्नान करने से सभी तीर्थों का फलप्राप्त होता है तथा दर्शन से मुक्ति प्राप्त होती है।

अतः पवित्रतीर्थाणां पवित्रं भुवनत्रये।
तत्पवित्रं महापुण्यं सीताकुण्डं धरातले।।
तत्र संस्नानमात्रेण महापापं प्रणश्यति।
दर्शनान्मुक्तिमाप्नोति श्रीरामवचनादिह।। ३६/४२-४३

सीता कुण्ड सदा प्रवहमान रहने वाले एक पहाड़ी सोते के कारण सदा ताजे जल से भरा रहता है। सभी स्थानार्थी स्नान के पश्चात् कुण्ड के बाएँ भाग में स्थित सीता का पूजन करते है। इस सीतामन्दिर का उल्लेख विन्ध्यमाहात्म्य (३६/३८) में हुआ है। सीताकुण्ड को सीता ने स्वयं ही निर्मित किया था ऐसा विवरण विन्ध्य माहात्म्य (३२/४९) देता है।

रामेश्वर एवं दूधनाथ का शृंगार

पौष मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को शिवपुर के रामेश्वर एवं कन्तित ग्राम के दूधनाथ (दुग्धेश्वर) के शिवलिंगों का शृंगार होता है। इन दोनों मन्दिरों के पुजारी विन्ध्याचल के पण्डे है। रामेश्वर के पूजन शृंगार की व्यवस्था शिवपुर एवं विन्ध्याचल के नागरिक एवं पुजारी करते हैं एवं दुग्धेश्वर मन्दिर के शृंगार पूजा की व्यवस्था विन्ध्याचल एवं मीरजापुर के नागरिक करते है। दोनों स्थानों पर दर्शन के लिए विन्ध्याचल एवं आसपास के नागरिकों की भीड़ होती हैं दोनों स्थानों पर विन्ध्याचल के पण्डे संगीत का कार्यक्रम देर रात तक करते हैं।

रामेश्वर मन्दिर के निकट भरतेश्वर एवं लक्ष्मणेश्वर नामक शिवलिंग है इनका भी पूजन शृंगार इसी दिन किया जाता है। विन्ध्य माहात्म्य (३२/४६-४९) में इन तीनों

लिंगों को राम भरत एवं लक्ष्मण द्वारा स्थापित बताया गया है। विन्ध्यमांहात्म्य (३२/५०) इन्हीं शिवमन्दिरों के निकट लांगूलेशलिंग की चर्चा भी करता है।

हनुमान-जन्मोत्सव

चतुर्दशी कार्तिक कृष्ण को नरक चतुर्दशी के रूप में जाना जाता है। विन्ध्याचल के नागरिक इस दिन को हनुमान की जयन्ती के रूप में मनाते है। यद्यपि चैत्र शुक्ल हनुमत् जयन्ती के रूप में प्रसिद्ध है।

इस दिन विन्ध्याचल के त्रिकोण सीमान्तर्गत सभी हनुमान मन्दिरों में पूजा अर्चना होती है। इसके लिए सभी नागरिक विशेषत: पण्डावर्ग के लोग सक्रिय योगदान देते हैं। हनुमान के ४ प्रमुख मन्दिरों में विन्ध्याचल एवं आस पास के गाँवों के नागरिक दर्शन करने जाते है– १. विन्ध्येश्वर मन्दिर के हनुमान। २. बरतर चौराहे पर स्थित हनुमान ३. निहुट महावीर ४. बन्धवा महावीर। इसके अतिरिक्त कुछ लोग मीरजापुर को लौंहगी हनुमान का दर्शन करने के लिए भी जाते है।

परिशिष्ट-२

विन्ध्याचल के कुछ स्मरणीय कवि एवं उनकी कविताएँ

विन्ध्याचल में लोक गीत एवं साहित्यिक कविताएँ लिखने की परम्परा रही है। इसका आरम्भ १८५० ई० के आस पास पण्डा भगवान दत्त से होता है। बीसवीं शती के पूर्वार्ध (१९१७ ई०) में पण्डा विश्वनाथ प्रसाद ने विन्ध्येश्वरी पुस्तकालय की स्थापना की थी तथा क्षेत्रीय व्यक्तियों में कवि काव्य के प्रति उत्साह जगाने के लिए नियमित रूप से विन्ध्येश्वरी पुस्तकालय के ही तत्त्वावधान में क्षेत्रीय कवियों का सम्मेलन किया करते थे। शिवजगत मिश्र ने विन्ध्याचल के कुछ अच्छे कवियों की सूची अपनी कविता में इस प्रकार दी है – (कविता-कामिनी पृ० ५३, मिश्र, विन्ध्याचल)

कवि भगवान जैसे समुद सुपुत्र वैसे,
जगन्नाथ समधी त्यों कविधी को धारे थे।
समुद सयानो शिष्य सुकवि नरायन है,
देवीपरसाद हास्य रस के फुहारे थे।
कविवर मातापरसाद के अनूठे गुरु,
सतीपरसाद कवि प्रतिभा पसारे थे।
शिवजक्त भाषा सृष्टि शैली भी इन्हीं की देन,
ये ही विन्ध्यनगरी के सुकवि हमारे थे।

इनमें वर्तमान कवियों की गणना एवं लोकगीतकारों की गणना नहीं की गई है। इस कवित्त में उन कवियों की नामावली है जिन्होंने साहित्य शास्त्र का अध्ययन किया था तथा काव्य निर्माण के मम्मटोक्त समुदित हेतु त्रय (शक्ति, निपुणता, अभ्यास) से मण्डित थे। किन्तु अन्य नैसर्गिक कवि भी थे जो कमी स्कूल नहीं गए किसी प्रकार लिखना पढ़ना

सीखा तथा उत्तम लोक गीतों की रचना की। प्रस्तुत पृष्ठों में कुछ चुने हुए कवियों के काव्यों का परिचय अति संक्षेप में उदाहरणार्थ दिया जा रहा है।

पण्डा जगन्नाथ प्रसाद

इनकी काव्य रचना १८७० १८९० ई० के बीच की है। इनकी कोई भी रचना प्रकाशित नहीं हो पाई है। कवि के हाथों की लिखी हुई कुछ कविताएँ प्राप्त हुई हैं। ये कविताएँ वही के कागज पर काली स्याही से लिखी हुई हैं। जिसमें कहीं कहीं कवि द्वारा किया गया सुधार भी दृष्टिपथ में आता है। पन्ने फटे हुए एवं शीर्ण है। सारी कविताओं को देखने से लगता है। कवि ने तीन प्रकार के मुक्तक काव्यों की ३ पुस्तकें लिखी थीं। दो पुस्तकों का नाम सुरक्षित एवं पठनीय है किन्तु तीसरी का नामकरण वाला पत्र नष्ट हो चुका है। तीनों पुस्तकों को तीन दृष्टियों से लिखा गया है किन्तु विषय एवं भाषा की दृष्टि से तीनों एक समान हैं। प्रथम दो का नाम– **'भाव भूषण'** तथा **'राग बिहार'** तीसरी पुस्तक में केशव की रसिक प्रिया की भाँति नायिकाओं के भेदों प्रभेदों का वर्णन हैं। तीनों पुस्तकें अपूर्ण है। इनके अतिरिक्त कुछ समस्या पूर्तियाँ भी उपलब्ध है।

इनकी पुस्तकों में शृंगार रस का परिपाक दृष्टि गोचर होता है। भावभूषण में आरम्भ में कविने कुछ कवित्त लिखे हैं जिसमें मुग्धा एवं खण्डिता नायिकाओं का सुन्दर चित्रण तथा ऋतु वर्णन है। ये साहित्यिक दृष्टि से उत्तम कोटि की रचनाएँ है। यथा– नायक रात किसी अन्य प्रेमिका के घर बिताकर भोर में घर आया है तथा नायिका उसे सरस उपालम्भ देती है–

रैन को बिताई जहाँ चैन सो छबीले छैल,
वासर हूँ वाही ठौर जाय सुख दीजिये।
विकल विहाल ह्वैहै रावरी विरह बाल,
हाल ही निहाल कै कमाल जस लीजिये।
जगनाथ नाहक ही आयो भोर भौन मेरे,
सौंह यह मेरी मानि बैन हूँ पतीजिये।
हमतो अयानी अबै जानी न सनेह गति,
अधर अनूठे इन्हैं जूठे मति कीजिये।

किसी खण्डिता द्वारा इस प्रकार के सूक्ष्म स्नेह युक्त कोप भरा, व्यंग्य पूर्ण उपालम्भ का उदाहरण हिन्दी के रीतिकालीन श्रेष्ठ कवियों के काव्यों में भी कठिनाई से प्राप्त हो सकता है।

अक्षत यौवना मुग्धा के अव्यक्त रूप की छटा ललित एवं मोहक शैली में उत्प्रेक्षा के माध्यम से कवि प्रस्तुत करता है–

प्यारी तन परम पुनीत जोम जोबन की,
अंकुर अनोखी मानो प्रेमलतिका की है।
छिन छिन दूनी दुति जागत जलूस वारी,
हारी तिंहु लोक हेरि उपमा न ताकी है।
जगनाथ ऐसी जऊ हाल डाहै आज ही तै,
सुमन लहे पै कौन उपमा अदा की है।
याते श्यामसुन्दर सयाने अलि धारो धीर,
मोद मकरंद पैहो चारि दिन बाकी है।।

यौवनारम्भ के प्रथम चरण में विकसमान स्तनाङ्कुरों की प्रेमलता के अंकुर से उत्प्रेक्षा, सुमन शब्द के में श्लेष का चतुराई से प्रयोग अनूठा एवं चामत्कारिक है। इसी प्रकार डाहै शब्द का प्रयोग काव्य सौन्दर्य की संप्रेषणीयता को कई गुना बढ़ा देता है। पूर्णोत्प्रेक्षा में बसन्त का यह वर्णन देव एवं बिहारी की कविताओं की परिपक्वता से तुलना करता है–

अबिर गुलाल लाल शोणित स्त्रवत अंग,
टेसू पै रकत भरी करद सुहायो है।
जगन्नाथ मल्लिका सुजस सरसायो चारु,
कोकिला कलापी संग सुभट सजायो है।
कलित ललित वन प्रबल प्रताप छायो,
मानिनी रियाया मान भेट लै सुधायो है।
सुभग संयोगी हितू हरखन लागे मानो,
जीति कै हिमंतहि बसन्तबीर आयो है।

रूपकालंकार में वसन्त को योद्धा के रूप में वर्णन, मानिनी नायिकाओं को हेमन्त से जीते हुए क्षेत्र की प्रजा बताते हुऐ उनका वसन्त को 'मान' समर्पण का वर्णन ऐसी वक्रता से किया गया है कि सम्पूर्ण कविता सहृदय हृदय को छू लेती है।

'भाव भूषण' में कविने मूलतः साहित्याशास्त्र में वर्णित स्वेद, हर्ष, रोमाञ्च, आदि सात्विक, लज्जा आदि सञ्चारी भावों एवं रति आदि स्थाई भावों का वर्णन किया है। ये सारे वर्णन १६ मात्रा दीपचन्दी (होली) ताल में राग काफी एवं बिहाग में निबद्ध होली गीत है। प्रत्येक गीत के पूर्व उस गीत में जिस भाव एवं अलंकार का समावेश किया गया है उसका लक्षण एक दोहे में दिया गया है। जैसे– रोमाञ्च का वर्णन जिस गीत में है उसमें अनन्वय अलंकार का भी समावेश है। इन दोनों को कवि ने गीत के पूर्व एक दोहे में इस प्रकार कहा है–

सीत भीत हरषादि ते उठे रोम रोमांच।
उपमेइ उपमा जहाँ होत अनन्वय साँच॥

इसके बाद गीत में अनन्वयालंकार का संन्निवेश करते हुए नायिका के मिलन की उत्कण्ठा एवं प्रिय को देखने पर रोमाञ्च का सहज वर्णन अन्तिम पंक्तियों में किया गया है–

आयो पिया चलि ताहि समै तँह निरखत रोम उठारी।
लली सो लगि न निहारी फागुन के छविवारी ॥

इस प्रकार ५५ गीतों में सात्त्विक एवं संचारी भावों का वर्णन विभिन्न अलंकारों के निबन्धन पूर्वक किया गया है। स्थायी भावों के वर्णनों में रति का वर्णन प्राप्त है शेष ग्रन्थ फट चुका है। रति भाव वर्णन के पूर्व कवि ने एक दोहा एवं एक चौपाई में क्रमशः रतिभाव एवं समासोक्ति अलंकार का लक्षण बताया है–

वह सिङार रस मानिये जेहि रति थाई होय।
सुप्रियचाह जह होत हिय रति कहियतु है सोय॥

प्रस्तुत वर्णत अप्रस्तुत फुरई। समासोक्त्यलंकार सो पुरई॥

राग विहार में कई रागों में गए जाने वाले भजन एवं श्रैङ्गारिक गीत लिखे गए थे किन्तु केवल भैरव एवं भैरवी तथा ललित राग के ८ गीत ही प्राप्त है शेष नष्ट हो चुके हैं। पुस्तक अपूर्ण है क्योंकि कवि अवतरणिका में कहता है–

श्री गुरु सुमुख सु सारदा भैरव को करि ध्यान॥
जिन निज इच्छा सो कियो राग अनेक विधान॥

प्रथम राग भैरव भयो शंकर की अनुहारि।
जटाजूट सुरसरि सहित नागभसम अंग धारि।।

इसके बाद शंकर के भजन के साथ भैरव राग के ३, भैरवी के ३ एवं ललित के २ गीत मिलते है।

कवित्व की दृष्टि से ये गीत भी उत्तम एवं सरस हैं। यथा– भैरवी रागिनी में रतश्रान्ता का वर्णन द्रष्टव्य है–

पिया संग कीनो सुरति रस रीत।।
बिथुरे अलक चिकुर सिकुरे सब आरस सो तन भीत।।
थरथर कपति स्वेद सरस्यो चहु वैन ठरत नहि नीत।
श्रीजगनाथ इकन्त बैठि बलि गहि गुर लाजहि चीत।।

जिस प्रकार की रसिकता शृंगार के वर्णनों में कवि ने प्रदर्शित की है उसी प्रकार का समर्पण एवं सहजता उनके भजनों में भी कल्पना है–

विपति हस मेरी शारदा माय।।

अमल स्वरूप स्वच्छ अम्बरवर त्यो भूषन फविताय।
लै कर बीन बजावति मुद युत सुमन सुने हरखाय।।

श्री जगनाथ तु ही जगपालनि मो पर क्यो निठुराय।।

तृतीय अनाम पुस्तक में सर्वाधिक ९६ कविताएँ हैं ३४ कविताओं में मुग्धा, प्रौढा, ज्येष्ठा, प्रगल्भा, प्रोषितपतिका, आदि नायिकाओं के भेदोपभेद वर्णित है। किन्तु इनका लक्षण नहीं बताया गया है। शेष में विभावों एवं नायिकाओं के हेला, ललित, मद, विभ्रम, विलास आदि हावों का वर्णन लक्षण पूर्वक किया गया है। यथा– विभ्रम हाव-लक्षण

प्रेमि विभूषन वचन जहँ उलटो होय सुरीत।
तन मन दरसन रसत रस सो विभ्रम गनि चीत।।

उदाहरण–

बैठि तिया रस मन्दि मैं, सखि संग सुखेलत खेल बनाई।
आनद में हुलसे विलसै मृदुबोलत बैन सुप्रीत बढाई।।

आवत ही तहँ पीतम को सुनि साजति है सब साज भगाई।
हारहि नाय लियो कटि मै अरु किंकिणी को गर हार बनाई।।

उत्तमा मध्यमा अधमा नायिकाओं का लक्षण कवि इस प्रकार करता है–

उत्तमा– लखि सुनि पिय अपराध को मान करे नाहि नारि।
कहत उत्तमा नायिका कवि पण्डित निरधारि।।

मध्यमा– पिय अपराध विलोकि तिय करे मान पुनि मान।
तिहि को कवि जन भनत है मध्यमतियहि बखान।।

अधमा– पिय को औगुन निरखि अंग कर तिय मान अपार।
सौह किये पायन परे तऊ न मानव प्यार।।

उदाहरण क्रमशः–

१. रमि पीतम रैन कहू अनते रतिचिह्न लिये घर आए प्रभाते।
पीक कपोल अमोल लगे अधरा पर अंजन के रगराते।।
आलस सो अलसात जम्हात सु अंगन माल गरे लहराते।।
देखत ही जगनाथ तिया उरसों लपटाय लई मुसकाते।।

२. नवल रस मन्दिर बैठि प्रभात लखी मनमोहन आवत है।
अनखाय के भौहे चढ़ाय रही रति चीन्ह पै आँसु बहावत है।
जगनाथ बुलावत बोलत ना विनती बहु भाँति सुनावत है।
परि पाय चह्यो जबही हित कै उठि आपुहि कण्ठ लगावति है।

३. रैन रमि और पास आयो घर भोर ही मै लखि कै पियारी तन मा चढिधायो है
जगनाथ आय धाय सौंहन अनेक खाई पाई न प्रबोध पाय परि समुझायो है।
कहत बिहारी पानि आपने मुकुर लै के, वरन विलोकिए कलंकित सुहायो है।
वृथा आय मेरे को जलावत सु बार बार जगनाथ पाय परो जासे सुख छायो है।

कवि के फटे पुराने पृष्ठों में एक पृष्ठ पर पूर्णोपमा, लुप्तोपमा अनन्वय, उपमेयोपमा, एवं परिणाम अलकारों के लक्षण एवं उदाहरण प्रसिद्ध हिन्दी कवि भिखारी राम की शैली में प्राप्त होते है। सम्भव है कुछ अन्य अलंकारों के लक्षण उदाहरण भी कवि ने लिखे हों। उदाहरणार्थ परिणाम अलंकार का लक्षण एवं उदाहरण दिया जा रहा हैं–

ह्वै उपमा उपमेय बिहारै परिणामालंकार निहारै।
नैन कंज सो सर हनि मारै वदन चन्द सो छवि छहरारै।।

कवि की भाषा अवधी है किन्तु उसमें विन्ध्याचली बोली का प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

कविजगन्नाथ स्कूल में जाकर नहीं पढ़ पाए थे। उन्होंने स्वत: ही अध्ययन करके अपने कवित्व शक्ति को लेखनी प्रदान की थी।

देवीप्रसाद (१९०० ई०–१९४४ ई०)

ये विन्ध्याचल के वणिक थे। उपनाम था अक्खड़। अपने अक्खड़ी मिजाज के कारण विन्ध्याचल के पण्डा युवकों के आकर्षण केन्द्र थे। मूलत: हास्य व्यंग्य के कवि थे किन्तु इनकी हास्य कविताएँ प्रकाशित नहीं हो पायी है। युवकों में नैतिकता का उत्थान ये अपने व्यंग्यपूर्ण कविताओं एवं वाणी से कर पाने में दक्ष समझे जाते थे। १९४६ ई० एवं १९४८ ई० में आप की ३ रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं– **ऊषा चरित्र, अभिमन्यु पराक्रम** तथा **वसंत सुषमा।**

ऊषा चरित्र आल्हा या वीर छन्दों में विरचित खण्ड काव्य है। इसका अंगी रसवीर है। शृंगार आदि अङ्गत्वेन प्रयुक्त है। अभिमन्यु पराक्रम मनहर छन्द में रचित उत्तम कोटि का खण्ड काव्य है। **वसन्त सुषमा** ऋतुवर्णनात्मक ६१ मनहर छन्दों वाला मुक्तक काव्य है।

कवि की भाषा अवधी ही है। एवं अभिव्यक्ति में तीव्र संप्रेषणीयता है। इन की कविताओं में सहज काव्य शक्ति का उल्लास है। यद्यपि वसन्त-सुषमा में शृंगार परक रचनाएँ अधिक है तथापि कवि ऋतु वर्णनों में भी अपने नैतिक मूल्यों नागरचेतना एवं देश प्रेम की झलकी दे ही देता है। कुछ उदाहरण वसन्त-सुषमा से दिये जा रहे है। कवि को उस समय अंग्रेजों की दासता में जकड़ा हुआ सम्पूर्ण भारत वसन्त के गुणों से परिपूर्ण दिखाई दे रहा था। कवि भौचक था कि यह बसन्त है या भारत का अन्त–

पीरे पीरे गात दीन दुखिया अनाथन के।
सरसों सुमन सम अक्खड लखायो है।
किंसुक पलास सो छुधा ते भये लाल नैन।
कोयल सों कूकै पै न कोऊ ध्यान लायो है।
वेस्या रस लूटत पुजारी भौर मन्दिरन।
त्रास दै अछूतै सूखे पात सो उडायो है।
हिन्दू धर्म ध्वसंक प्रसून से प्रफुल्लित है।
भारत को अन्त कै बसन्त यह आयो है। ।।व०सु०५।।

उस काल के भारत की दशा पर कवि दुखी होकर कहता है–

कृषक समाज दुखी दीन ह्वै विलाप करै,
परी पराधीन मातृभूमि समै ऐसे मै।
कौसल कला को सबै साधन गो सिन्धु पार
बनिके गुलाम समै काटत अनैसे मै।।
'देवी जू' दिवस निसि अन्न धन छीन होत,
वाकी रह्यो केवल परान मृत जैसे मै
माँ मरालबाहिनी विलोको दसा भारत की
स्वागत वसन्त मै तिहारो करु कै सै। ।।व०सु०३।।

पराधीन भारत के असंगठित अविवेकी समाज के सभी वर्गों को लताड़ने से भी कवि नहीं चूकता–

लम्पट कुचालिन को जूह कैधों और भीर,
स्वारथी है दोनों, वात सो चो सुलतन्त की।
कोकिला अलाप कै विलाप विधवा को, जिन्हैं।
धर्मढोंगी हिन्दुओं ने तीरथों में हन्त की।
विविध प्रसून विकसे है कैधो देवी भनै,
विविध मतो की हिन्दू जाति ना लखन्त की।

बौरे ना रसाल ख्याल बौरे भये लोगन के,
देस की तबाही कै अवाई है बसन्त की। व०सु०३०

गाँधी जी के स्वदेशी आन्दोलन में देवी प्रसाद की कविता पूर्ण सहयोगिनी थी–

आय गयो सुखद सुहानो मास फागुन को,
भाइयो! सपथ के प्रतिज्ञा दृढ़ कीजिए।
होली में पोशाक सबै खद्दर की धारैगे,
विसारैगे विरोध आजही ते व्रत लीजिए।
सोहदे, लफंगे, दुराचारी, गुण्डे कहै लोग
देवी मनै तऊ लाज नेकु ना लगै जिये।
भारती हो तो भाई राखो लाज भारत की।
बसन विदेसी पै न ध्यान नेकु दीजिए॥ व०सु०६०

कवि शृंगार के परिपाक एवं ऋतु दर्शन में भी उतना ही प्रवीण है– गतयौवना मानिनी अपने मान पर पछता रही है–

मान करी नाहक हौ 'देवी' प्यारे प्रीतम सों,
रीत जरि जाय री निगोड़ी एसी लाज की।
इतै अन्त सिसिर विचारी चारु चावन सों,
चल्यो मोद मानि लै समाज सुख साज की।
फूलै लगी सरसों रसालन में बौर लागे,
त्रिविध समीर लोनी लता छवि छाज की।
कहर करै री क्वैलिया कुहूँ की हिया,
टूक टूक करत अवाई रितुराज की।

वसन्त का साम्राज्य कवि इस प्रकार देखता है–

गुलावास मरवा हजारा जूही गुलेनार
माधवी कुमुद दौना मालती के भ्राज की।

सूर्जमुखी कामिनी अनार पचरंगा बेला,
मोगरा चमेली गुलकेली छविछाज की।
मालती नौरंगा सिलमिली गुड़हर चंपा।
पपी जल्तरंग जवा मोतिया सुसाज की।
क्योडा कचनार कुन्द कुसुम गुलाब 'देवी'
फूलि उठे जानि कै अवाई ऋतुराज की ।।व०सु०१३।।

शुद्ध विन्ध्याचल की भाषा में 'चोटीली' व्यंग रचनाएँ केवल देवी प्रसाद जी करते थे। पुस्तकालय में न जाने वाले पण्डा युवकों को व्यंग्य करते हुए व्याज पूर्ण भाषा देखिए–

भाँग बा न भुर्रा बा न चीलम तमाखू उहाँ।
पइसउ दिहे परे बतावऽ एह ठाले में।
आवऽ चलीऽ अक्खड़ निराले पाई बूटी छनइ।
का करब्य जाइ के बताव पुस्तकाले मे।

विन्ध्याचल में कवियों की लम्बी परम्परा रही है। कवि काव्य परिषद जैसी संस्थाएँ भी बनी जो कविकर्म को उत्साहित करती रहीं। कविकाव्य परिषद् ने विन्ध्याचल के कवियों की कविताओं का संग्रह प्रकाशित भी किया है। साहित्य साधना का यह क्रम आज भी वर्तमान है तथा संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी की उत्कृष्ट रचनाएँ इस क्षेत्र के कवियों ने दी हैं। पं० दुर्गादत्त उपाध्याय श्री अरविन्दपाण्डेय (I.P.S.) आदि उत्कृष्ट कवि हैं।

यहाँ दिवंगत कवियों में से दो प्रतिनिधि के काव्य का स्थाली पुलाक न्याय से विद्वानों के मनोविनोद हेतु प्रस्तुत किया गया जो विशुद्ध विन्ध्याचली क्षमता के व्यञ्जक हैं।

परिशिष्ट–३

पण्डों की रुचियाँ एवं मनोरञ्जन

विन्ध्याचल के पण्डे अत्यधिक प्रकृति प्रेमी होते है। बरसात के दिनों में जब विन्ध्याचल के आस पास के झरने अपनी जवानी पर रहते हैं, युवक एवं मध्य आयु के पण्डों के झुण्ड प्रति शाम इन झरनों के आस पास देखे जा सकते हैं जंगल में घूमने के लिए ये अलग से कमाई करते हैं। कभी-कभी कुछ बुजुर्गों के नेतृत्व में युवक दल दिन भर के लिए जंगल में सैर करने जाते हैं और दिन में जंगल में मिट्टी के बर्तन में भोजन पकाते हैं पत्तों का दोना बनाकर एवं पत्थरों के खण्डों को थाली बनाकर भोजन करते है।

इस प्रकार के सैर कभी कभी बड़े पैमाने पर भी किया जाता है जिसमें पूरा दल कई दिनों तक जंगल में ही रहता है, तथा अनेक प्रकार के रोमाञ्चक अनुभव करता है। कुछ वर्षों पूर्व कुछ श्रेष्ठ-पण्डा-गण एक विशेष प्रकार की सैर करते थे। इस का काम था 'जानवर-वाली सैर'? जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस सैर में जाने वाले सभी लोग जंगल से तभी लौटते थे जब कोई हिंसक पशु देख लेते थे। सुरक्षा के उपाय करके तब इस सैर में जाया जाता था। इस सैर में कितने दिन लगेंगे यह निश्चित नहीं होता था। अतः कोई-नौकर भी साथ रहता था जो रसद सामग्री आवश्यकतानुसार पहुंचाने की व्यवस्था करता था। चूँकि इस सैर में एक स्थान से दूसरे स्थान में जानवर की तलाश में भटकना पड़ता था इसलिए नौकर को साथ रहना पड़ता था जिससे उसे सही स्थिति का ज्ञान रहें और आवश्यकता होने पर वहाँ सामग्री पहुंचा सके। इस सैर में जानवर देख लेने पर सभी मौंज मस्ती मनाते हुए सफलता का उत्साह चेहरों पर लिए हुए लौटा करते थे।

ये लोग जानवरों का शिकार कभी नहीं करते थे जबकि बन्दूकें साथ रहतीं थी। इन्हें जंगल में स्वाभाविक रूप से विचरण करते हुए शेर चीतों को देखने मात्र का शौक होता था।

पान का शौक विन्ध्याचल के स्त्री पुरुष सभी में समान रूप से व्याप्त है। कुछ पण्डा परिवार ही ऐसा है जिसके परिवार में पान का शौक जन जन में व्याप्त नहीं है।

कई पान के दूकानदार ऐसे हैं जो एक एक पान की सैकड़ों पुडिया सदा तैयार रखते हैं। पण्डा लोग उनसे पानकी पुड़िया खरीद कर अपने पास हमेशा रखते हैं। स्त्रियाँ अपने लिए पान की सारी सामग्री घर में ही रखती है तथा स्वयं ही लगा कर खाती हैं।

चिड़ियों का अत्यधिक शौक विन्ध्याचल में दिखाई देता है। बुलबुल, लाल, मैना, हरेवा, तीतर, तोता, मोर आदि पक्षियों को प्यार से पालना एक आम शौक रहा है। बुलबुल एवं तोता के प्रति अधिक स्नेह दिखाई देता है। जाड़े के महीनों में खत्री धर्मशाला में प्रत्येक रविवार को बुलबुल की लड़ाई आयोजित की जाती है। यह बुलबुलों की लड़ाई की प्रतियोगिता रोचक एवं रोमांचक होती है। इसके लिए कई महीनों से बुलबुल तैयार किए जाते है।

विन्ध्याचल के पण्डों में बनारस के पण्डों की तरह सदा से शरीर सौष्ठव का, बलिष्ठता का शौक रहा है। १९२०,-४५ के बीच विन्ध्याचल में २५ अखाड़े या व्यायामशालाएँ थी। जिनमें सभी युवक पण्डे भारतीय कुश्ती का अभ्यास किया करते थे। इन अखाड़ों में पहलवान पण्डों से कुश्ती सीखने गैर पण्डा नागरिक भी आया करते थे। कई पण्डे कुश्ती कला में अत्यन्त निपुण थे। उस काल के अनेक नट एवं पहलवान विन्ध्याचल के पण्डों से हारे हैं। बाबू, बाबा, लोलई, मुक्तेश्वर प्रसाद, रामप्रसाद 'भीष्म', कमला प्रसाद द्विवेदी, बालगोविन्द मिश्र, त्रिभुवन प्रसाद मिश्र आदि नाम विन्ध्याचल में ताकत एवं कुश्ती कला के लिए आज भी आदर से लिए जाते हैं। जब विन्ध्याचल में जल आपूर्ति की व्यवस्था नहीं थी तब पण्डा लोग पत्थर के बड़े-बड़े समतल टुकड़ों को लेकर पास के सगरा नामक तालाब पर कपड़े साफ करने के लिए ले जाया करते थे तथा कपड़े साफ करने के लिए ले जाया करते थे तथा कपड़े साफ करने के बाद अपने पत्थर चोरी हो जाने के डर से वापस घर ले आया करते थे। यह कथा विन्ध्याचल में प्रसिद्ध है। इसे सुना कर यह समझाया जाता है कि उसकाल में एक से एक ताकतवर पण्डे विन्ध्याचल में थे।

जिले भर को ललकारने वाले प्रसिद्ध पहलवान किताबूनट को तत्कालीन अंग्रेज पुलिस अधीक्षक के निवेदन पर बाबू पहलवान ने उसे पछाड़ा था। उन्हें उस कुश्ती के लिए ५०० (चाँदी के) रुपए इनाम दिए गए थे। पण्डात्रिभुवन प्रसाद मिश्र के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने आप को हाथी की सूड की लपेट से अपने बाहुबल से छुड़ाया था छड़हा पण्डा के एक पूर्वज देवीदयाल के विषय में प्रसिद्धि है कि राजा माण्डा हाथी पर चढ़ कर मन्दिर तक आना चाहता था। देवीदयाल ने मना किया और कहा कि मन्दिर तक माँ के दरबार में पैदल ही जाना होगा मदान्ध राजा नहीं माना। तब उन्होंने हाथी की पूँछ पकड़ कर पीछे घसीट दिया हाथी चिंघाड़ कर पीछे हट गया और राजा को उतरकर

ही जाना पड़ा। पं० बालगोविन्द मिश्र की शारीरिक ताकत एवं सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इन्दौर म०प्र० के राजा उन्हें अपने साथ ले जाना चाहते थे। रास्ते में उन्हें शराब पिलाना चाहा। पण्डा बालगोविन्द शराब से अत्यधिक घृणा करते थे उन्होंने इन्कार कर दिया और वापस चले आए फिर भी राजा लौटकर उन्हें खोजता हुआ आया तथा उन्हें प्रभूत धन एवं अशरफियाँ देकर दुखी मन से गया। उसी धन से उन्होंने मन्दिर में पारियाँ खरीदीं जो आज भी उनके परिवार के लिए जीविका का प्रमुख साधन है। इनमें से कोई भी घटना अतिरंजित नहीं है।

इस प्रकार की अनेक कथाएँ पूर्व पीढ़ी के व्यायाम प्रियता के विषय में प्रसिद्ध है। वर्तमान पीढ़ी में भी व्यायाम प्रियता है। १० वर्ष पूर्व तक विन्ध्याचल में 'विन्ध्य व्यायामशाला' पण्डों में कसरत के शौक के कारण वर्तमान थी। आज की पीढ़ी में भारतीय कसरत के शौक के स्थान पर जूड़ों कराटे के शौक ने ले लिया है।

संगीत के प्रति पण्डों में विशेष रुचि है। पूर्व पीढ़ी में अनेक उत्तम कोटि के शास्त्रीय गायक एवं वादक थे। महादेव प्रसाद, गोमती प्रसाद मोली आदि की गायकी एवं संकठा (प्रज्ञाचक्षु) का तबला वादन आज भी विन्ध्याचल में याद किया जाता है। विन्ध्याचल के पण्डे संगीत साधना अपने शौक के लिए ही करते हैं उन्होंने कभी भी संगीत को व्यवसाय नहीं बनने दिया। संगीत के सिद्धान्त पक्ष एवं व्यवहार पक्ष दोनों पर सदा ध्यान दिया जाता है। प्रसन्नता के अवसरों पर आपस में ही मण्डली बनाकर गायन वादन का आनन्द लेना उनका शौक है।

वर्तमान में पण्डा शिवजगत वैद्य संगीत के सिद्धान्त पक्ष के पण्डित माने जाते थे। उन्होंने कवि होने के कारण अपने शिष्यों को अभ्यास कराने के लिए अनेक बन्दिशों की रचना की हैं जो संगीतशास्त्र एवं साहित्य शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

विन्ध्याचल में संगीत के प्रति अभिरुचि का मूल विन्ध्याचल की होली कजरी एवं चैती गायकी की परम्परा में है। आज भी पण्डा मोहनलाल, ठाकुर प्रसाद दीक्षित, आनन्द निधि पाण्डेय, वसिष्ठ नारायण आदि सुरीले गायक तथा ठाकुर प्रसाद दीक्षित, वेणी माघव मिश्र कृष्ण मोहन मिश्र आदि उत्तम तबला वादक माहेश्वर पति त्रिपाठी नृत्य प्रभाकर एवं रंगमञ्च के स्थापित कलाकार जिनकी लम्बी शिष्य परम्परा विन्ध्याचल के बाहर यश कमा रही है विन्ध्याचल के पण्डों के संगीत एवं नाट्य प्रेम की सातत्य की अभिव्यक्ति करते हैं।

आधुनिक पण्डा समाज शौक एवं मनोरञ्जन के आधुनिकतम साधनों का उपयोग करने की चेष्टा करता है। आधुनिक फैशन के वस्त्र, केश सज्जा, प्रसाधन का उपयोग बड़ी

मात्रा में किया जाने लगा है। विडिओ फिल्म विडिओ गेम्स, क्रिकेट, बैडमिंटन, वालीबाल, फुटबाल आदि मनोरञ्जन के साधन के रूप में स्वीकृत हो चुके है। आज के युवा पण्डों को उनके वेशभूषा से नहीं पहचाना जा सकता कि वे पण्डा हैं अथवा किसी महानगर से आए हुए यात्री।

भोजन

सामान्य रूप से भी तीर्थों के पण्डे भोजन के शौकीन होते है। अन्य तीर्थों में पण्डों का स्वादिष्ट भोजन-प्रिय होना उनकी मानसिकता को प्रकट करती है। किन्तु विन्ध्याचल के पण्डों का स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन प्रिय होना कुछ वर्षों पूर्व तक एक अपरिहार्य आवश्यकता थी। क्योंकि उन्हें अपने बाहुबल से यात्रियों को भीड़ से बचाकर दर्शन कराना पड़ता था। अत: शरीर को बलवान बनाने के लिए कसरत एवं पौष्टिक भोजन बर आरम्भ से ही विशेष बल दिया जाता रहा है।

विन्ध्याचल के पण्डे मूल रूप से शाकाहारी हैं। किन्तु अधिसंख्य को मांसाहार से परहेज नहीं होता। देवीजी को चढ़ाये गए बलि के मांस को 'महाप्रसाद' कहा जाता है। बोलचालल की भाषा में इसे 'परसाधी' भी कहते है। महाप्रसाद का आहार बहुधा पुरुष वर्ग ही करता है। स्त्रियों में मांसाहार के प्रति कम रुचि है। मांसाहारी पुरुषएवं स्त्रियों में ४:१ का अनुपात है।

दैनिक भोजन सादा एवं पौष्टिक होता है। 'घृत सारं तु भोजनम्' की कहावत यहाँ चरितार्थ है। प्रत्येक पण्डा अपने दोपहर के भोजन में कम से कम ५० ग्रा० घी खूब गरम करके दाल में डाल कर खाता है। इसलिए विन्ध्याचल में किराने की दूकानों पर खुला शुद्ध घी प्राप्य होता है। केवल उसी बनिए की दूकान चल पाती है जो बढ़िया घी बेचता हो। शाम के भोजन में सब्जी कम मलाई तथा दूध अधिक होता है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग मिट्टी के बरतनों में दूध धीमी आँच में पकता रहता है। शाम तक दूध एकदम लाल एवं स्वादिष्ट हो जाता है तथा पराठे या रोटी से खाया जाता है।

मेवों में इनकी रुचि सीमित है। केवल काजू, बादाम, खरबूजे का बीज, किशमिश एवं चिरौंजी पण्डों को अच्छी लगती है। चिलगोजा, खूबानी, अंजीर पिस्ता आदि मेवे कम स्वादिष्ट होने के कारण नापसंद किए जाते है।

नवरात्र के दिनों में पण्डे विशेष प्रकार का वेश पण्डाई के लिए धारण करते है। केसरिया सूती या टेरिकॉट का कुर्ता एवं घोती ऐसा प्रत्येक पण्डा पहनता है जिसे मन्दिर पर यात्रियों को दर्शन कराने जाना होता है। इस गाढ़े रंग के केसरिया कुर्ते में सामने की

जेब एक से डेढ़ फुट तक गहरी तथा ५' चौड़ी होती है। इसी गहरे जेब में पण्डे अपनी दिनभर की कमाई रखते हैं। शाम को सारे पैसे को गल्ले में डाल देते है।

नवरात्र के अतिरिक्त सामान्य रूप से अब सभी प्रकार की पोशाक पहना जाता है। पण्डाई पेशा से विशेष रूप से जुड़े व्यक्ति कुर्ता धोती या कुर्ता पाजामा या कमीज धोती के साथ रुद्राक्ष, स्फटिक, मूँगा, पन्ना आदि की मालाएँ विन्ध्याचल से बाहर जाने पर भी उसी प्रकार पहनना पसन्द करते है जिस प्रकार वे विन्ध्याचल में रहकर पहनते हैं।

देवी जी का दर्शन करने के बाद रोली या चन्दन का टीका माथे पर लगाया जाता है। कुछ पण्डे शृंगारिया जी से पूजन से बचे हुए चन्दन को मांग कर सुखा कर रखते है तथा विशेष अवसरों पर उसे माथे पर लगाते है। कुछ पण्डे विन्ध्यवासिनी के हवनकुण्ड से नवरात्र के समय किए गए हवन का श्वेत भस्म इकट्ठा करके उसे दूध से सान कर छोटी-छोटी टिकियों के रूप में सुखाकर काफी मात्रा में रहते हैं तथा उस भस्म को प्रति शाम एवं सुबह गंगा जल में मिलाकर त्रिपुण्ड्र के रूप में मस्तक पर धारण करते हैं।

परिशिष्ट-४

विन्ध्यवासिनी के स्वरूप भेद या ध्यान

विन्ध्यवासिनी के ५ मूर्ति भेदों का परिचय तान्त्रिक साहित्य में प्राप्त होता है। इनमें २, ४, ८, एवं १८ भुजाओं का वर्णन है। इन चारों स्वरूपों का विवरण निम्नवत् है।

१. विन्ध्यवासिनी का आदितत्त्व स्वरूप

(क) त्रिकालाबाध्या, सम्पूर्ण सृष्टि की आदि स्वरूपा, महासरस्वती देवी परब्रह्म के आनन्द के रूप में मणिनिर्मित दोलन पर एक बालिका के रूप में विराजमान हैं। उनका अंग शुभ है, उनकी आभा श्वेतपुष्प की भाँति है, करोड़ों श्वेतचन्द्रमा के समान उज्ज्वल सान्ति है, श्वेत पुष्प ही उन्हें प्रिय है, मोतियों की माला से अलंकृत हैं, चिन्तामणि का देदीप्यमान पीठ इन के हाथों एवं चूडा के कान्ति सवे युक्त है। इस प्रकार की मणिद्वीपेश्वरी परा शक्ति अपने दोनों भुजाओं से दोनों पैर पकड़कर पैर का अगूठा मुख में डाल कर उसका पान कर रही हैं। सारी सिद्धियाँ प्रदान करने वाली इस महामाया विन्ध्यवासिनी की सभी देवता स्तुति कर रहे है।

ध्यान

शुक्लाङ्गीं शुक्लकूटाभां शुक्ल पुष्पप्रियां वरां,
कोटिशुभ्रेन्दुसंकाशां मुक्तामालामलंकृताम्।

पीठेचिन्तामणेर्दीप्तौ करचूडाप्रभाभरां,
ज्योत्स्नारत्नस्फुरद्देहांमन्दहासयुताननाम्।

महासरस्वतीं देवीं मणिद्वीपेश्वरीं परां,
सर्वाद्यां बालिकां नित्यां मणिदोलनसंस्थिताम्।

वक्त्राब्जेङ्गुष्ठधृन्मूलं कराब्जाभ्यां पदाब्जयोः,
पिबन्तीं शोभितां शुभ्रां ब्रह्मानन्दस्वरूपिणीम्।

सेवितां देवदेवैश्च संस्तुतां सर्वसिद्धिदां,
आदिरूपां महामायां ध्याये विन्ध्यनिवासिनीम्।

(ख) स्वर्ण पर्वत के रमणीय तट पर कल्पवृक्षों का उपवन है। उस उपवन में एक विशाल एवं स्वर्णनिर्मित भूतल है। अग्नि मुख के समान चमकते हुए उस भूतल के मध्य में अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित एक मणिमण्डप है। उसमें कमल के आकार का सिंहासन है। उसकी कर्णिका में कृष्णवर्ण का भयानक सिंह है। उस पर देवी विन्ध्यवासिनी बिराजमान हैं। उनका रूप प्रातः कालीन करोड़ो सूर्य के समान तेजस्वी एवं अरुण है। देवी के दाहिने ४ भुजाओं में चक्र, तलवार बाण एवं शूल है वाईं ४ भुजाओं में शंख, चक्र, धनुष-बाण, एवं तर्जनी है। देवी ने चन्द्रमा का खण्ड मस्तक पर धारणकर रखा है। इनके तीनों नेत्र विशाल हैं। इनके केश सुनहरे एवं आकर्षक है। इन्द्र आदि सभी लोक पाल इनकी सेवा कर रहे है एवं देवी सपरिक सुशोभित हो रही हैं।

ध्यान

हेमाचले तटे रम्ये कल्पवृक्षोपशोभिते।
दिव्याद्यानं चिन्तयेच्च विशालं हेमभूतलम्।।
कृशानुरूप वप्रेण करालेन समावृतम्।
तन्मध्ये चिन्तयेद्दिव्यं विचित्रमणिमण्डपम्।।
तस्मिन् सिंहासनेऽम्भोजकर्णिकायां विचिन्तयेत्।
दंष्ट्राकारालाट्टहासं कृष्णवर्णं भयानकम्।।
अतितीव्रमुखं सिंहं ज्वलदग्निशिखोज्ज्वलम्।
तस्योपरिष्टात्तां देवीं कोटिबालार्कसन्निभाम्।
चक्रासिबाणशूलाख्यान् दधतीन्दक्षिणैर्भुजैः।।
शङ्खचक्रधनुर्बाणतर्जनीर्वामबाहुभिः।
चन्द्रखण्डसमायुक्तामतिभीमत्रिलोचनाम्।।

ऊर्ध्वज्वलत्केशपाशामशेषहरणोन्मुखीम्।
अङ्गाद्यावृत्तिसंयुक्तामस्त्रशस्त्रपरीवृताम्।।
इन्द्रादिलोकपालैश्च सेवितां विन्ध्यवासिनीम्।।

शारदा तिलक पदार्थादर्श पृ. ४७९

२. चतुर्भुजा विन्ध्यवासिनी

(क)सोने के कमल के मध्य में विराजमान हैं। विद्युत के समान कान्ति है। तीन नेत्रों वाली है। चारों भुजाओं में शंखचक्र वर एवं अभय मुद्राएँ धारण करती है। माथे पर चन्द्रकला सुशोभित है। ग्रैवेय आंगद, हार, एवं कुण्डल धारण करतीं हैं। चन्द्रमा के समान धवल मुख है। इन्द्रादिदेवता स्तुति करते रहते हैं। पार्श्व में उनका वाहन सिंह विराजमान है।

हिरण्यगर्भस्थाश्रीविन्ध्यवासिनी

ध्यान

सौवार्णाम्बुजमध्यगां त्रिनयनां सौदामिनीसन्निभां,
शंखंचक्रवराभयानि दधतीमिन्दोः कलां विभ्रतीम्।
ग्रैवेयाङ्गदहारकुण्डलधरामाखंडलाद्यैः स्तुतां,
ध्यायेद्विन्ध्यनिवासिनीं शखिमुखीं पार्श्वस्थ पञ्चाननाम्।।

(ख) कल्प वृक्ष के नीचे विन्ध्येश्वरी देवी कौस्तुभ मणि के प्राकार (फर्श) पर स्थित रत्न निर्मित चिन्तामणि रत्न से देदीप्य मान सिंहासन पर विराजमान हैं। रत्नों पर ही चलने वाली रत्नों से निर्मित द्वीप में निवास करने वाली देवी के अंग रत्नमय हैं। वस्त्रों से रत्नों की आभा निकल रही है। इन सब से स्फुरित होने वाली रत्नों की ज्योत्स्ना चतुर्दिक् फैल रही है। ये नव युवती, त्रिनेत्र एवं चतुर्भुजा हैं। चारों भुजाओं में पर अभय मुद्रायँ एवं आदि तथा शंख धारण करतीं हैं। करोड़ों कलाओं से युक्त है तथा रत्नों के हार से शोभित हैं। देवङ्गनाएँ इनकी सेविकाएँ हैं। विष्णुद्वारा पूजित पराम्बा विश्व की ईश्वरी है। समस्त लोको का पालन करने वाली है तथा चित्त से सदा दयार्द्र रहती है।

मणिद्वीपेश्वरी श्री विन्ध्यवासिनी

ध्यान

रत्नकौस्तुभप्राकारे रत्नसिंहासनस्थितां,
रत्नचिन्तामणेर्दीप्तौ रत्नानां पूर्णभासुरे॥

रत्नाङ्गीं रत्नवस्त्राभां रत्नज्योत्स्नाप्रसारिणीं,
रत्नगां रत्नचूडाभां रत्नद्वीपनिवासिनीम्॥

नवयौवनसम्पन्नां त्रिनेत्रां च चतुर्भुजां,
वराभयारिशंखं च धृतां भक्तेष्टदां शिवाम् वराम्॥

कलाकोटिपरिभ्रान्तां रत्नहारावलीयुतां,
सेव्यमानां सुरस्त्रीभिः स्तुतामिंद्राद्यखण्डलैः॥

सदार्द्रचितां विश्वेशीं पराम्बां लोकपालिकां,
ध्यायेत्कल्पतरोर्मूले विन्ध्येशीं विष्णुपूजिताम्॥

३. अष्टभुजा विन्ध्यंवासिनी

गौरी के शरीर से उत्पन्न विन्ध्यवासिनी घण्टा, शूल, हल, शंख, मुशल, बाण, धनु, चक्र धारण करती हैं। जगत् की आधार शक्ति हैं। शुम्भादि दैत्यों का नाश क़रतीं हैं। कल्पवृक्ष के नीचे यह शुभ वर्ण वाली सर्वेश्वरी परा शक्ति स्थित हैं। इनके चूडामणि एवं कर कमलों के तेज से सभी दिशाएँ व्याप्त हैं। सभी को अभीष्टफल प्रदान करने वाली यह महा अपूर्वा सरस्वती कामतत्त्व की स्वरूपभूता गर्वीली एवं भक्तवत्सला हैं। इस त्रिकालाबाध्या सर्वमोहिनी स्मितानना, विद्या की सभी देवता गण स्तुति करते रहते हैं।

ध्यान

घटां शूलं हलं शखं मुशलं सायकं धनुः,
चक्रं च दधतीं देवीं घनान्तनभतुल्यगाम्।

लसच्छीतांशुसंकाशां गौरीदेहसमुद्भवां,
आधारभूतां जगतां शुम्भादिखलमर्दिनीम्।

कल्पवृक्षान्तगांशुभ्रां स्थितां सर्वेश्वरीं परां,
मणिचूडाकरब्जाभ्यां ज्योत्स्नाभिर्दिक्षुपूरिताम्।

सर्वाभीष्टप्रदामादौ महापूर्वां सरस्वतीं
कामतत्वकलारूपां गर्वाढ्यां भक्तवत्सलाम्।

सर्वदेवैः स्तुतां नित्यामनुचर्यास्मितानना
सर्वेषां मोहिनीं विद्यां भजेहं विन्ध्यवासिनीम्।

४. अष्टादशभुजा विन्ध्यवासिनी

महिषासुरमर्दिनी विन्ध्येश्वरी माया अपने मस्तक पर पूर्ण चन्द्रमा धारण करती हैं। मणि निर्मित कुण्डलाभरण धारण करतीं है। यह आद्या, महामाया पराम्बा विष्णु के हृदय में निवास करती हैं। इनका स्वरूप करोड़ों विद्युत् के प्रकाश के समान है। करोड़ों-२ चन्द्रमा के प्रकाश के समान मुखवाली यह मणिद्वीपेश्वरी भगवती निर्मल मन्दहास करती रहतीं हैं। तीन नेत्रों वाली दिव्य रूपिणी भगवती के उदर में केसर का लेप रहता हैं। ये अपनी भुजाओं में अक्षमाला, परशु, पद्म, गदा, कुलिश, दण्ड, शक्ति, असि, चर्म, कमल, धनु, कुण्डिका घण्टा, शूल, बाण, पाश, चक्र, एवं पानपात्र धारण करतीं हैं। सभी देवता इनकी स्तुति करते रहते हैं तथा देव पत्नियाँ इनकी सेवा करतीं रहती हैं।

ध्यान

अक्षस्रक्परशुं पद्मगदाकुलिशसंयुतां,
दण्डं शक्तिमसिं चर्म जलजं धनुष्कुण्डिकाम्।

घण्डां शूलं शरं पाशं चक्रमासवभाजनं,
पूर्णेन्दुशेखरां भद्रां मणिकुण्डलभूषिताम्।

परामाद्यां महामायां विष्णोर्हृदयसंस्थितां,
कोटिविद्युत्प्रभाभासां मणिद्वीपेश्वरीं शुभाम्।

ईषत्सहासममलं कोटिचन्द्रप्रभाननां,
कुंकुमोदरगर्भस्थां त्रिनेत्रां दिव्यरूपिणीम्।
पूजितां संस्तुतां देवैः देवस्त्रीभिश्च सेवितां,
ध्यायेद्विन्ध्येश्वरीं मायां लक्ष्मीं सैरिभमर्दिनीम्।

तुलनीय महिमर्दिनी ध्यान (मूर्ति रहस्य सप्तशती)

विन्ध्यवासिनी के नेत्रों की तुलना सर्वमाता विनता के नेत्रों से किया गया है एवं उनको वैनतेयाक्षी नाम से सम्बोधित किया गया है तन्त्रों में वैनतेयाक्षी विन्ध्यवासिनी की उपासना विधि भी निर्दिष्ट है। वैनते याक्षी रूप में इस देवी को नागों द्वारा सेवित एवं नाग देवी भी कहा गया है-

ॐ वैनतेयाक्ष्यै सर्पसेवितायै नागदेव्यै स्वाहा। (मेरुतन्त्र १९।२३१)

इस स्वरूप को कमल एवं सर्पों से अलंकृत बताया गया है एवं सभी प्रकार के विष के दोषों को शान्त कर देने में इनका प्रभाव है।

नानाकमल सर्पादिवेष्टितां विन्ध्यवासिनीम्।।
ध्यायामि वैनतेयाक्षीं विषदोष हरां शिवाम्।।

(मेरु १९।२३१-२)

इस देवी की उपासना की तिथि श्रावण की पंचमी (नाग पंचमी) को निर्दिष्ट है। इस देवी विग्रह को कात्यायनी विन्ध्यवासिनी या महाभारत के दुर्गा से भिन्न नहीं कहा जा सकता स्वरूप एवं प्रभाव की दृष्टि से यह वनदुर्गा एवं शूलिनी स्वरूपों के समान हैं। विन्ध्यवासिनी के मूलरूप के एक भाग का व्यक्तिकरण वैनतेयाक्षी के स्वरूप में मिलता है। विषापशमन का कार्य वनदुर्गा के अनेक कार्यों में एक है।

'कैराती श्यामल वर्ण की है। अपने मस्तक पर मयूरपुछ धारण करती है। पत्तों का वस्त्र पहनती हैं। रक्तवर्ण के गुञ्जा फल का हार धारण करतीं हैं। अष्ट नागों को धारण करतीं है। इन नागों को उन्होनें ताटंक, आङ्गद, मेखला की डोरी एवं उसमें लटकने वाले

मञ्जीर बना रखा है। देवी द्विभुजा हैं एवं वर तथा अभय मुद्राओं को धारण करतीं है तथा तीन नेत्रों वाली हैं।'

श्यामां बर्हिकलाप शेखरयुतामाबद्धपर्णांशुकाम्।
गुञ्जाहारलसत्पयोधरनतामष्टाहिपान्विभ्रतीम्।।

ताटङ्काङ्गदमेखलागुणरणन्मञ्जीरतां प्रापिताम्।
कैरातीं वरदाभयोद्यतकरां देवीं त्रिनेत्रां भजे।।

(तन्त्रसार २। ८०)

श्री विद्या सम्प्रदाय में इस देवी को त्वरिता विद्या कहा जाता है तथा मूल विद्या के अंग के रूप में इनकी पूजा होती है।

परिशिष्ट–५

पारियों की सूचीयाँ

पारियों के विभाजन का संवत् २००१ विक्रमीय का रूप

चैत्र कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शुक्र	बबुई
१	शनि	छठएँक महंथ
२	रवि	देवीचरन
३	सोम	रामदयाल बूढ़ा महंथ गंगा प्र० धरमधजा
४	मंगल	भगवानदत्त
५	बुध	महंथ
६	गुरु	काशीप्रसाद
७	शुक्र	जगत प्र०
८	शनि	चिगनू
९	रवि	सालिक महंथ
११	सोम	भवानी लाल १ काशीप्रसाद
१२	मंगल	भूसी
१३	बुध	लई श्यामा शंकर
१४	गुरु	बदाम
३०	शुक्र	देवीदयाल २० काशीप्रसाद

सम्वत् २००१ वि०

चैत्र शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शनि	जगत प्रसाद
२	रवि	काशी प्रसाद
३	सोम	गनेश दत्त
४	मंगल	सुखरानी काशी प्रसाद
५	बुध	रामदयाल काशी प्रसाद
६	गुरु	देवीचरन
७	शुक्र	गनेसी
८	शनि	१३ में सालिक देवानन्द
९	रवि	जगत प्रसाद
१०	सोम	काज़ी
११	मंगल	सालिक देवानन्द
१२	बुध	भवानीलाल, हीरालाल, लोलई कृष्णा
१३	गुरु	भूसी
१४	शुक्र	खेदा भगौती प्रसाद
१५	शनि	महंथ

वैशाख कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	रवि	काशी प्रसाद
२	सोम	जगत प्रसाद
३	मंगल	देवी दयाल १
४	बुध	गनेश दत्त
५	गुरु	आद्या प्रसाद
६	शुक्र	रामदयाल काशी प्रसाद
७	शनि	भगौती प्रसाद
८	रबि	बदाम
९	सोम	काशी प्रसाद

१०	मंगल	जगत प्रसाद
११	बुध	देवानन्द
१२	गुरु	गनेश दत्त
१३	शुक्र	भवानी लाल बेनी कदमा
३०	शानि	भूसी राम

वैशाख शुक्ल पक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	रवि	अमरा
२	सोम	बागेश्वरी आसिनी पांड़े
३	मंगल	बहल
४	बुध	जगत प्रसाद
५	गुरु	काशी प्रसाद
६	शुक्र	छठएँक कदमा
७	शनि	देवीदयाल २
८	रवि	रामदयाल बेनी कदमा
९	सोम	आद्या प्रसाद
१०	मंगल	गनेसी
१०	बुध	भगौती प्रसाद, परसोतम साहु
११	गुरु	जगत प्रसाद
१२	शुक्र	काशी प्रसाद
१३	शनि	सालिक देवानन्द
१४	रवि	भवानीलाल, देवीदयाल, रघुवीर दत्त
१५	सोम	भूसी

ज्येष्ठ कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	मंगल	राम जिआवन
२	बुध	महंथ

३	गुरु	छोटकू गंगा प्र०
४	शुक्र	जगत प्रसाद
५	शनि	सुखरानी काशी प्रसाद
६	रवि	गनेश दत
८	सोमं	गुनई
९	मंगल	रामदयाल बूढ़ा शीतला प्र० धरमधजा
१०	बुध	देवीदयाल ३
११	गुरु	बदाम
१२	शुक्र	काशी प्रसाद
१३	शनि	जगत प्रसाद
१४	रवि	चिगनू
१५	सोम	सालिक महंथ

ज्येष्ठ शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	मंगल	भवानीलाल १) काशी प्रसाद
२	बुध	भूसी
३	गुरु	देवी चरन
४	शुक्र	गनेशी
५	शनि	भगवानदत्त
६	रवि	जगत प्रसाद
७	सोम	काशी प्रसाद
८	मंगल	गनेश दत्त
९	बुध	फेंकू
१०	गुरु	रामदयाल काशी प्रसाद
११	शुक्र	लई बेनी कदमा
१२	शनि	महंथ
१३	रवि	देवीदयाल ४
१४	सोम	जगतप्रसाद
१५	मंगल	दुरगा चरन

आषाढ़ कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	बुध	गनेश दत्त
२	गुरु	भवानीलाल शीतला प्र०
३	शुक्र	भूसी
४	शनि	खेदा काशी प्रसाद
५	रवि	बदाम
६	सोम	काशी प्रसाद
७	मंगल	जगत प्रसाद
८	बुध	१३ में सालिक देवानन्द
९	गुरु	छठएँक लोलई कृष्णा
११	शुक्र	गुरु प्रसाद
१२	शनि	रामदयाल काशी प्रसाद
१३	रवि	भगौती प्रसाद
१४	सोम	गनेशी
३०	मंगल	काशी प्रसाद

आषाढ़ शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	बुध	जगत प्रसाद
२	गुरु	देवी दयाल ५
३	शुक्र	सालिक देवानन्द
४	शनि	भवानी लाल मातादेई
५	रवि	भूसी
६	सोम	देवी चरन
७	मंगल	बागेश्वरी कदमा
७	बुध	सुखरानी काशी प्रसाद
८	गुरु	जगत प्रसाद
९	शुक्र	काशी प्रसाद

१०	शनि	गनेश दत्त
११	रवि	देवानन्द
१२	सोम	रामदयाल वंश गोपाल २
१३	मंगल	अमरा
१४	बुध	महंथ
१५	गुरु	भगौती प्रसाद

श्रावण कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शुक्र	जगत प्रसाद
२	शनि	देवी चरन
४	रवि	सालिक देवानन्द
५	सोम	भवानीलाल, देवीदयाल कृष्णा
६	मंगल	भूसी
७	बुध	देवी दयाल ६
८	गुरु	बदाम
९	शुक्र	आद्या प्रसाद
१०	शनि	जगत प्रसाद
११	रवि	बबुई
१२	सोम	गनेशदत्त
१३	मंगल	छोटकू गंगादीन
१४	बुध	रामदयाल बूढ़ा कृष्णा विश्वनाथ प्रसाद
३०	गुरु	राम जिआवन

श्रावण शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शुक्र	गनेशी
२	शनि	काशी प्रसाद
३	रवि	जगत प्रसाद

४	सोम	भगौती प्रसाद परसोतम साहु
५	मंगल	गनेश दत्त
६	बुध	भवानी लाल १/४ काशी प्रसाद
७	गुरु	भूसी
८	शुक्र	आद्याप्रसाद
९	शनि	महंथ
१०	रवि	देवीदयाल ७
११	सोम	जगतप्रसाद
१२	मंगल	काशीप्रसाद
१३	बुध	छठएँक महंथ
१४	गुरु	सुखरानी काशी प्रसाद
१५	शुक्र	रामदयाल काशी प्रसाद

भाद्रपद कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शनि	गुनई
२	रवि	बदाम
३	सोम	भगवान दत्त
४	मंगल	जगतप्रसाद
५	बुध	काशी प्रसाद
७	गुरु	सालिक महंथ
८	शुक्र	भवानी लाल गंगा प्र०
९	शनि	भूसी
१०	रवि	खेदा बहल
११	सोम	गनेशी
१२	मंगल	काशी प्रसाद
१३	बुध	जगत प्रसाद
१४	गुरु	देवीदयाल ८
३०	शुक्र	गनेशदत

भाद्रपद शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शनि	देवीचरन
२	रवि	रामदयाल काशी प्रसाद
३	सोम	चिगनू
३	मंगल	मंहथ
४	बुध	काशी प्रसाद
५	गुरु	जगत प्रसाद
६	शुक्र	१३ में सालिक देवानन्द
७	शनि	सालिक देवानन्द
८	रवि	भवानीलाल बेनी कदमा
९	सोम	भूसी
१०	मंगल	लई श्यामा शंकर
११	बुध	बागेश्वरी आश्विनी पांड़े
१२	गुरु	बदल
१३	शुक्र	जगतप्रसाद
१५	शनि	काशी प्रसाद

आश्विन कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	रवि	गनेश दत्त
२	सोम	देवीदयाल
३	मंगल	रामदयाल वेनी कदमा
४	बुध	देवीचरन
५	गुरु	बदाम
६	शुक्र	भगौती प्रसाद
७	शनि	जगत प्रसाद
८	रवि	काज़ी
९	सोम	गनेशदत्त

१०	मंगल	भवानीलाल, देवीदयाल मातादेई
११	बुध	भूसी
१२	गुरु	देवानन्द
१३	शुक्र	गनेशी
१४	शनि	अमरा
१५	रवि	जगतप्रसाद

आश्विन शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	सोम	सुखरानी काशी प्रसाद
२	मंगल	छठएँक कदमा
३	बुध	आद्याप्रसाद
४	गुरु	रामदयाल बूढ़ा महंथ गंगा प्र० धरमधजा
५	शुक्र	देवीदयाल १० बचऊ
६	शनि	महंथ
७	रवि	काशी प्रसाद
८	सोम	जगत प्रसाद
९	मंगल	भगौती प्रसाद
१०	बुध	सालिक देवानन्द
११	गुरु	भवानी लाल १/४ काशी प्र०
१२	शुक्र	भूसी
१३	शनि	छोटकू काशी प्र०
१४	रवि	बदाम
१५	सोम	राम जिआवन

कार्त्तिक कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	मंगल	जगत प्रसाद
३	बुध	काशी प्रसाद

४	गुरु	गनेशदत्त
५	शुक्र	फेंकू
६	शनि	रामदयाल काशी प्रसाद
७	रवि	दुरगा चरन
८	सोम	गनेशी
९	मंगल	देवी दयाल ११
१०	बुध	जगत प्रसाद
११	गुरु	काशी प्रसाद
१२	शुक्र	सालिक महंथ
१३	शनि	भवानी लाल, लोलई कृष्ण, छोटा लाल
१३	रवि	भूसी
१४	सोम	खेदा भगौती प्रसाद, परसोतम साहु
३०	मंगल	मंहथ

कार्त्तिक शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	बुध	काशी प्रसाद
२	गुरु	जगत प्रसाद
३	शुक्र	भगवान दत्त
४	शनि	गनेश दत्त
५	रवि	गुनई
६	सोम	रामदयाल काशी प्रसाद
७	मंगल	चिगनू
८	बुध	बदाम
९	गुरु	काशी प्रसाद
१०	शुक्र	जगत प्रसाद
१२	शनि	देवीदयाल १२
१३	रवि	गनेशदत्त
१४	सोम	भवानी लाल कृष्णा
१५	मंगल	भूसी

मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	बुध	आद्या प्रसाद
२	गुरु	बागेश्वरी कदमा
३	शुक्र	सुखरानी काशी प्रसाद
४	शनि	जगत प्रसाद
५	रवि	काशी प्रसाद
६	सोम	छठएँक लोलई कृष्णा
७	मंगल	१३ में सालिक देवानन्द
८	बुध	रामदयाल वंश गोपाल ३
९	गुरु	लई बेनी कदमा
१०	शुक्र	गनेशी
११	शनि	भगौती प्रसाद
१२	रवि	जगत प्रसाद
१३	सोम	आद्या प्रसाद
१४	मंगल	सालिक देवानन्द
३०	बुध	भवानीलाल देवीदयाल कृष्णा

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	गुरु	भूसी
२	शुक्र	देवीदयाल १३ बचऊ
३	शनि	महंथ
४	रवि	गुरु प्रसाद
५	सोम	जगतप्रसाद
६	मंगल	बबुई
७	बुध	गनेश दत्त
८	गुरु	अमरा
९	शुक्र	रामदयाल बूढ़ा शीतला प्र० धामधजा

१०	शनि	देवानन्द
११	रवि	बदाम
१२	सोम	काशी प्रसाद
१३	मंगल	जगत प्रसाद
१४	बुध	भगौती प्रसाद

पौष कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	गुरु	सालिक देवानन्द
२	शुक्र	भवानीलाल १/४ काशी प्र०
३	शनि	भूसी
४	रवि	देवीचरन
५	सोम	गनेशी
६	मंगल	देवीदयाल १४
७	बुध	जगतप्रसाद
७	गुरु	काशी प्रसाद
८	शुक्र	गनेशदत्त
९	शनि	सुखरानी काशी प्रसाद
१०	रवि	रामदयाल काशी प्रसाद
११	सोम	छोटकू छड़हा
१२	मंगल	महंथ
१३	बुध	राम जिआवन
१४	गुरु	जगत प्रसाद
३०	शुक्र	देवीचरन

पौष शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शनि	गनेशदत्त
२	रवि	भवानी लाल, हीरालाल लोलई कृष्ण

३	सोम	भूसी
४	मंगल	खेदा काशी प्रसाद
५	बुध	बदाम
६	गुरु	काशी प्रसाद
७	शुक्र	जगत प्रसाद
८	शनि	देवीदयाल १५
१०	रवि	छठएँक महंथ
११	सोम	गुनई
१२	मंगल	रामदयाल, काशीप्रसाद
१३	बुध	भगौती प्रसाद
१४	गुरु	गनेशी
१५	शुक्र	काशी प्रसाद

माघ कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शनि	जगत प्रसाद
२	रवि	भगवान दत्त
३	सोम	सालिम महंथ
४	मंगल	भवानीलाल, बेनीकदमा
५	बुध	भूसी
६	गुरु	आद्या प्रसाद
७	शुक्र	बागेश्वरी आसिनी पाड़े
८	शनि	बदल
९	रवि	जगत प्रसाद
९	सोम	काशी प्रसाद
१०	मंगल	गनेशदत्त
११	बुध	देवीदयाल १६ बचऊ
१२	गुरु	रामदयाल बेनी कदमा
१३	शुक्र	लई श्यामा शंकर

१४	शनि	महंथ
३०	रवि	चिगनू

माघ शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	सोम	जगत प्रसाद
२	मंगल	काशी प्रसाद
४	बुध	सालिक देवानन्द
५	गुरु	भवानीलाल, देवीदयाल, रघुवीर दत्त
६	शुक्र	भूसी
७	शनि	१३ में सालिक देवानन्द
८	रवि	बदाम
९	सोम	काज़ी
१०	मंगल	जगत प्रसाद
११	बुध	सुखरानी काशी प्रसाद
१२	गुरु	गनेश दत्त
१३	शुक्र	आद्या प्रसाद
१४	शनि	रामदयाल बूढ़ा, कृष्णा विश्वनाथ प्रसाद
१५	रवि	देवीदयाल १७

फाल्गुन कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल की नाम
१	सोम	गनेशी
२	मंगल	काशी प्रसाद
३	बुध	जगत प्रसाद
४	गुरु	भगौती प्रसाद
५	शुक्र	गनेश दत्त
६	शनि	भवानी लाल १) काशी प्र०
७	रवि	भूसी, काशी प्र०
८	सोम	अमरा

९	मंगल	महंथ
१०	बुध	देवानन्द
११	गुरु	जगतप्रसाद
१२	शुक्र	काशी प्रसाद
१३	शनि	छठएँक कदमा
१४	रवि	फेंकू
३०	सोम	रामदयाल, काशी प्रसाद

फाल्गुन शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	मंगल	देवीचरन
२	बुध	बदाम
३	गुरु	देवीदयाल १८
४	शुक्र	जगत प्रसाद
५	शनि	छोटकू गंगा प्रसाद
६	रवि	सालिक देवानन्द
७	सोम	भवानी लाल, नन्दकिशोर
९	मंगल	भूसी
१०	बुध	खेदा बबुई
११	गुरु	गनेशी
१२	शुक्र	काशी प्रसाद
१३	शनि	जगत प्रसाद
१४	रवि	राम जिआवन
१५	सोम	गनेशदत्त

शुद्ध चैत्र कृष्णपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	मंगल	दुरगाचरन
२	बुध	रामदयाल, काशी प्रसाद

२	गुरु	भगौती प्रसाद
३	शुक्र	महंथ
४	शनि	काशी प्रसाद
५	रवि	जगत प्रसाद
६	सोम	देवीदयाल १९
७	मंगल	सालिक महंथ
८	बुध	भवानी लाल, रघुवीर दत्त
९	गुरु	भूसी
१०	शुक्र	गुनई
११	शनि	बागेश्वरी कदमा
१२	रवि	सुखरानी, काशी प्रसाद
१३	सोम	जगत प्रसाद
१४	मंगल	काशी प्रसाद
३०	बुध	गनेशदत्त

अधिक चैत्र शुक्लपक्ष

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	गुरु	बबुई
२	शुक्र	छठएँक लोलई कृष्ण
३	शनि	लई बेनी कदमा
४	रवि	रामदयाल बूढ़ा, महंथ गंगा प्रसाद, धरमधजा
५	सोम	(१३ में) सालिक देवानन्द
५	मंगल	महंथ
६	बुध	काशी प्रसाद
७	गुरु	जगत प्रसाद
८	शुक्र	चिगनू
९	शनि	सालिक देवानन्द

११	रवि	भवानी लाल १/४ काशी प्रसाद
१२	सोम	भूसी
१३	मंगल	आद्या प्रसाद
१४	बुध	बदाम
३०	गुरु	देवीदयाल २ काशी प्रसाद

सम्बत् २००२

शुद्ध चैत्र शुक्लपक्षः

तिथि	दिन	पारीवाल का नाम
१	शुक्र	जगत प्रसाद
२	शनि	काशी प्रसाद
३	रवि	गनेशदत्त
४	सोम	सुखरानी, काशी प्रसाद
५	मंगल	रामदयाल, काशी प्रसाद
६	बुध	गुरु प्रसाद
७	गुरु	गनेसी
९	शुक्र	देवानन्द
१०	शनि	जगत प्रसाद
१०	रवि	आद्या प्रसाद
११	सोम	सालिक देवानन्द
१२	मंगल	भवानी लाल, हीरालाल, लोलई कृष्णा
१३	बुध	भूसी
१४	गुरु	खेदा भगौती प्रसाद
१५	शुक्र	महंथ

पारी विभाजन का आधुनिक स्वरूप

मूल पारीवाल	अपत्य	वर्तमान भागीदार
पण्डा जगतप्रसाद	पण्डा भुवनेश्वरी प्रसाद	पण्डा भुवनेश्वरी प्रसाद, मनमोहन जी, बब्बे जी, अनिल कुमार, शेखर शरण, अवधेश प्रसाद, बब्बेलाल, वंशलाल
पण्डा भूसीराम	पण्डा नन्हकू प्रसाद,	ज्ञानचन्द, भुवनेश्वर प्रसाद, आद्या प्रसाद, सिंहवाहिनी प्रसाद, द्वारिकाधीश नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, भुनेश्वर प्रसाद, आद्या प्रसाद, सिंहवाहिनी प्रसाद, द्वारिका-धीश
पण्डा गनेशदत्त	पण्डा नन्हकू प्रसाद,	ज्ञानचन्द, भुनेश्वर प्रसाद, आद्या प्रसाद, सिंहवाहिनी प्रसाद, द्वारिकाधीश नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, भुवनेश्वर प्रसाद, आद्या प्रसाद, सिंहवाहिनी प्रसाद, द्वारिकाधीश, विन्ध्याचल जी
पण्डा सालिकराम	पण्डा सिंहवाहिनी,	नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, भुवनेश्वर प्रसाद, आद्या प्रसाद, द्वारिकाधीश पण्डा सिंह- वाहिनी, नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, भुवनेश्वर प्रसाद, आद्या प्रसाद, द्वारिकाधीश, अलबेले, छबीले
पण्डा रामदयाल	पण्डा रामदयाल	अवधेश प्रसाद, द्वारिकाधीश, सिंहवाहिनी, नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, भुवनेश्वर प्रसाद,

		आद्या प्रसाद, रुद्रेश्वर प्रसाद, देवीशंकर, वटुक, विन्ध्याचल पुत्रगण, विजयशंकर, विरेन्द्र कुमार, ओमप्रकाश, नागेश्वर, गुलाबचन्द पुत्रगण, श्यामलाल, शिवदत्त, अलबेले, छबीले, कैलाशपति, लाल साहेब, आदि, फौधर।
पण्डा गनेसी	भागीरथी	देवीशंकर, लोलइ, कृष्णा
सुखरानी पण्डा	अवधेश प्रसाद	विजयशंकर, विरेन्दकुमार, ओमप्रकाश
पण्डा ज्ञानदत्त	जयरामगिरी (महन्थ)	अवधेश प्रसाद अलबेले, छबीले
छटएँ	भागीरथी	अलबेले, छबीले, (गुलाबचन्द पाठक पुत्रगण), हीरालाल, लोलई, कृष्णा
पण्डा बदाम -	रज्जन जी	कैलाशपति व वरुणपति
पण्डा बागेश्वरी -	ज्ञानदत्त	अन्नपूर्णा, इन्द्रज्योति प्रसाद, गुलाबचन्द पाठक, फौधर अलवेले
देवीदयाल -	छडहा पण्डा	विजयशंकर, विरेन्द्रकुमार, ओमप्रकाश, पुत्रगण गुलाबचन्द, प्रेमलाल, छोटका श्यामलाल, वव्वेलाल
पण्डा छांटकू -	छडहा पण्डा	छडहा पण्डा, अलवेले, छवीले, विजयशंकर, विरेन्द्रकुमार, ओमप्रकाश, द्वारिकाधीश, रुद्रेश्वर प्रसाद

भगवानदत्त पण्डा -	रुद्रेश्वर प्रसाद	अवधेश प्रसाद, जमुना कोठीवाल, किशुन बिहारी, वच्चा पा० वगैर
पण्डा देवानन्द -	सिंहवाहिनी प्रसाद,	नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, आद्या प्रसाद, मुनेश्वर प्रसाद, द्वारिकाधीश सिंहवाहिनी प्रसाद, नन्हकू प्रसाद, ज्ञानचन्द, आद्या प्रसाद, भुनेश्वर प्रसाद, द्वारिकाधीश
पण्डा रामजियावन -	देवी प्रसाद,	लक्ष्मी प्रसाद, भगौती प्रसाद, वगैरह देवी प्रसाद, लक्ष्मी प्रसाद, भगौती प्रसाद, वगैरह
पण्डा काशी प्रसाद -	विजयशंकर,	विरेन्द्र कुमार, ओम प्रकाश विजयशंकर, विरेन्द्र कुमार, ओम प्रकाश
पण्डा काजी -	बच्चालाल काजी	बच्चालाल काजी, गुलाबचन्द पाठक एवं पुत्रगण, श्यामलाल बच्चालाल पाठक वगैरह
पण्डा चिगनू -	रुद्रेश्वर प्रसाद	रामचन्द्र पहलवान, अलबेले, छबीले
पण्डा भगौती प्रसाद -	रुद्रेश्वर प्रसाद	रामचन्द्र पहलवान, अलबेले जी, फौधर
बबुई पण्डा -	राजकुमार, (भगानू पण्डा)	विजयशंकर, विरेन्द्र कुमार, ओमप्रकाश, भगानू (राजकुमार), वंशलाल, छबीले, अलबेले
फेकू -	विनोद कुमार	विनोद कुमार
दुर्गाचरण -	भैरो गुलाम	किशुन विहारी, अलबेले, छबीले

पण्डा देवीचरण -	पण्डा अमिरतन चिगरदन	पण्डा नंघा, अनिल कुमार, शेखर जी
पण्डा आद्याप्रसाद -	देवीशंकर	देवीशंकर
अमरा -	वरुणपति	रामजी, सच्चन, बेवा गगुन, लाल साहब (विजय काली शंकर)
पण्डा बदल -	नन्नन पण्डा	विजय शंकर, विरेन्द्र कुमार, ओमप्रकाश, रामप्रसाद भीष्म, फौदर, अलवेले
पण्डा लई -	विन्ध्याचल जमीदार	बच्चा, लालबावू, राजा बाबू, गुलाब चन्द, बचनू (पुंत्रगण विन्ध्याचल) छोटका श्यामलालू
पण्डा गुनई -	कुल्ली प्र० सगुनलाल, पुत्रगण	बिक्कनलाल कुल्ली प्र० सगुनलाल, पुत्रगण बिक्कनलाल, अलबेले, छबीले
पण्डा गुरुप्रसाद -	लालचन्द, गुलाबचन्द	पण्डा लालचन्द, गुलाबचन्द एवं पुत्रगण
पण्डा भवानी लाल़ -	त्रिलोचन, सुगन, राय,	कृष्णा पाठक एण्ड संस, छबीले, अलबेले, सुग्गन, तिलोचन द्वारिकाधीश, रुद्रेश्वर प्रसाद, गुलाबचन्द, छोटका श्यामलाल, जमुना कोठीवाल, पुकुन्नू (नरेन्द्र कुमार) लोलर, अन्नपूर्णा आदि
पण्डा खेंदा -	रुद्रेश्वर प्रसाद	विनोदकुमार, विजयशंकर, विरेन्द्र कुमार, ओमप्रकाश, भगानू भीष्म जी

यह सूची पंण्डा श्री रमेश कुमार पाण्डेय जी ने कृपापूर्वक बनाई एवं उपलब्ध कराई थी।

चित्रावली



लक्ष्मी नारायण



श्री कालीकुण्ड



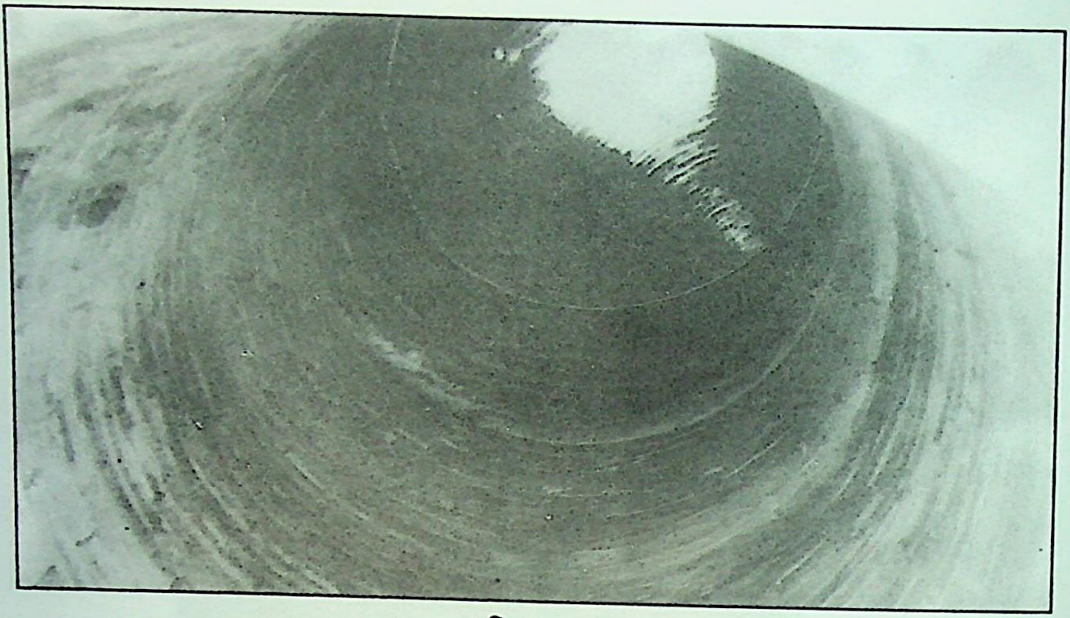
नाग कूप (बावन घाट की बावड़ी)



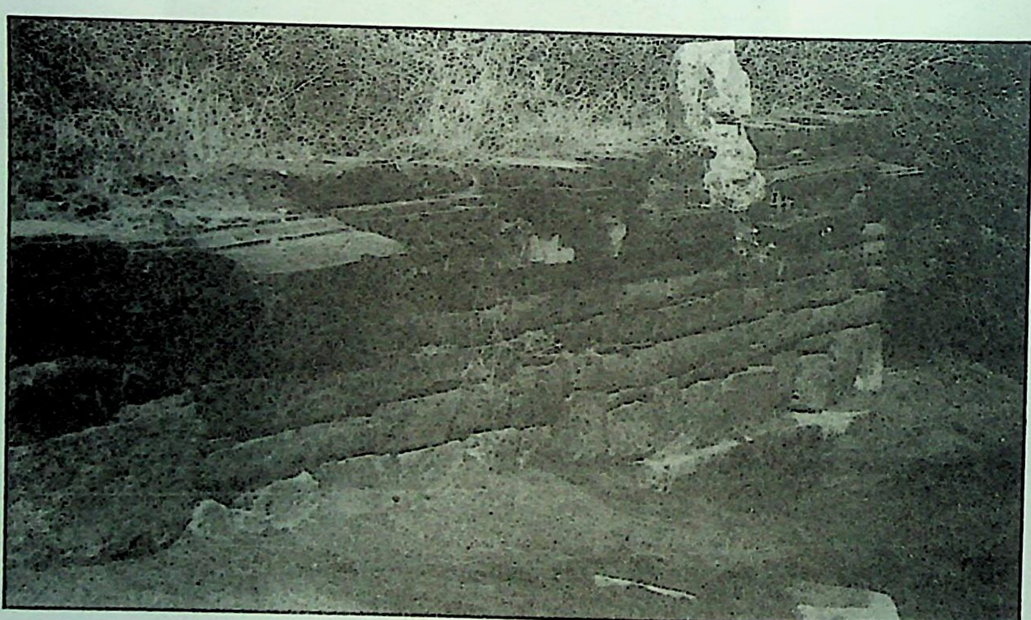
सप्त सागर के निकट ध्वस्त मंदिर के अवशेष



भैरव (टोकिया)



पवित्र कूप
(काली खोह)



गणपतिमन्दिर
सप्तसागर (सरोवर)